शिव-तंत्र रहस्य

(काश्मीर शैवाद्वैत में ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के विमर्श का स्वरूप चिन्तन)



डॉ० रचना शेखावत

शिव-तंत्र रहस्य

डॉ० रचना शेखावत



शिव-तंत्र रहस्य

(काश्मीर शैवाद्वैत में ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के विमर्श का स्वरूप चिन्तन)



डॉ० रचना शेखावत

शिव-तंत्र रहस्य

डॉ० रचना शेखावत



'शिव-तन्त्र रहस्य' पुस्तक 'काश्मीरशैवदर्शन' के अग्रणी आचार्य उत्पलदेव की महान् कृति 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' एवं उस पर आचार्य अभिनवगुप्त की व्याख्या 'विमर्शिनी' पर आधारित है। काश्मीरशैवदर्शन अद्वैतवादी दर्शन है तथा अखिल जगत् में केवल 'शिव' की ही सत्ता स्वीकार करता है, किन्तु काश्मीर शैवदर्शन ही है जो जगत् को मिथ्या नहीं बल्कि मोक्ष प्राप्ति का साधन मानता है। नर देह शिव से साक्षात्कार का साधन है। परमशिव स्वयं को ही बंधनग्रस्त करके प्रत्यभिज्ञान द्वारा जानते हैं। यही इस दर्शन की विलक्षणता है जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। काश्मीरशैवदर्शन केवल पुस्तकीय ज्ञान नहीं देता बल्कि उस ज्ञान को अनुभूति और साधना के मार्ग तक ले जाता है। प्रस्तुत पुस्तक इसी सत्य को 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' और विमर्शिनी के अनुसार आपके समक्ष प्रस्तुत करती है।

परमादरणीय गुरुवर

आचार्य श्री नवजीवन रस्तोगी

जी के कर-कमलों में

सादर . . .

रचना शेखावत

26-3-14

शिव-तंत्र रहस्य

(काश्मीर शैवाद्वैत में ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के विमर्श का स्वरूप चिन्तन)

शिव-तंत्र रहस्य

(काश्मीर शैवाद्वैत में ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के विमर्श का स्वरूप चिन्तन)

डॉ० रचना शेखावत



परिमल पब्लिकेशन्स
दिल्ली

प्रकाशक :

परिमल पब्लिकेशन्स

२७/२८ शक्ति नगर

दिल्ली - ११०००७

दूरभाष : २३८४५४५६, ४७०१५१६८

ई-मेल : order@parimalpublication.com

ISBN : 978-81-7110-445-1

प्रथम संस्करण : वर्ष २०१३

मूल्य - ४००.०० रुपये

मुद्रक

विशाल कौशिक प्रिंटर्स

नजदीक जी.टी.बी हॉस्पिटल,

जगतपुरी विस्तार, दिल्ली-११००९३

समर्पण

सौम्य स्वभाव,

सतत् प्रेरणास्त्रोत,

स्नेहाशीष सम्पूरित

श्वसुर साहब

श्रीमान् बैरीशालसिंहजी गौड़

को सादर.......

रचना शेखावत

आशीर्वचन

केसर-कुंकुम से रञ्जित काश्मीर की भूमि में पल्लवित-पुष्पित शैवदर्शन को ''प्रत्यभिज्ञादर्शन'' की संज्ञा दिलाने का श्रेय आचार्य उत्पलदेव की ''ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका'' को है। इस ग्रन्थ पर उन्होंने स्वयं वृत्ति लिखकर इसके सिद्धान्तों को स्पष्ट किया है और उनके प्रशिष्य अभिनवगुप्त ने इस पर विमर्शिनी और विवृत्तिविमर्शिनी लिखकर उन सिद्धान्तों की व्याख्या और पुष्टि की है।

यह दर्शन परमतत्त्व के स्तर पर चित्, चैतन्य अथवा संवित् के पूर्ण स्वातन्त्र्य की प्रतिष्ठा करता है— ''स्वातन्त्र्यमेव च अनन्यमुखप्रेक्षित्वम् आत्मनः स्वरूपम्'' (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी १.८.११)। किसी अन्य की अपेक्षा न रखना ही स्वातन्त्र्य है। यही कारण है कि परम शिव को सृष्टि के लिए भी किसी अन्य शक्ति, माया अथवा प्रकृति की आवश्यकता नहीं है— ''शक्तिमतः शक्तित्वं नाम स्वातन्त्र्यम्'' (शिवदृष्टिवृत्ति, पृ० ९७)। प्रकाशरूप शिव की अहंविमर्शात्मक शक्ति उससे उसी प्रकार अभिन्न है, जिस प्रकार अग्नि से उसकी दाहकता—

''न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव॥''

एक सिक्के के दो पहलुओं के समान अभिन्न शक्तिमान् और शक्ति के द्वारा सृष्टि प्रक्रिया होने के कारण परमतत्त्व के स्तर पर किसी विकार की कोई सम्भावना नहीं है। यहाँ पर सृष्टि व प्रलय के लिए उन्मीलन व निमीलन पदों का प्रयोग किया गया है, जिनका अर्थ है अन्तः स्थित का बाह्य प्रकाशन व पुनः स्वयं में विलय। ''उन्मीलनं च अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम्'' यह प्रकटीकरण पूर्ण स्वतन्त्र शिव अपने स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति के लिए लीलावश करता ही रहता है। परमेश्वर के कार्य प्रायः सृष्टि स्थिति और संहार स्वीकार किए गए हैं। इस दर्शन का परमात्मा पञ्चकृत्यकारी है, जो सृष्टि, स्थिति और संहार के साथ ही अनुग्रह और निग्रह करने में भी समर्थ है। भक्तों पर अनुग्रह और दुष्टों के निग्रह की यह सामर्थ्य ही उसे ऐश्वर्यशाली परमेश्वर सिद्ध करती है। यह परमेश्वर अपने पूर्ण स्वतन्त्र, सर्वव्यापी स्वरूप को स्वयं आच्छादित करके संकुचित, परतन्त्र पशुरूप में आभासित करता है और अपनी ही अनुग्रह शक्ति अथवा शक्तिपात के माध्यम से उस पाशबद्ध पशु को अपने पति रूप का प्रत्यभिज्ञान करवाता है। यह प्रत्यभिज्ञा कोई नवीन ज्ञान नहीं

है; यह तो ''भातभाससमानरूपानुसन्धानात्मिका'' है; पूर्वतः ज्ञात किन्तु मोहवशात् भूले हुए स्वयं के स्वरूप को सद्गुरु की कृपा से पहचान लेना है– ''किन्तु मोहवशादस्मिन्दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते। शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदशर्यतो।'' (प्रत्यभिज्ञाकारिका १,१,२) कोई कामिनी अपने प्रियतम को पूर्व में देखा हुआ न होने के कारण, सामने आने पर सामान्य पुरुष के समान व्यवहार करती है; किन्तु, जैसे ही गुरुरूप दूती उसे उस व्यक्ति का परिचय देती है, वह तत्काल उसका सभी भावनाओं के साथ साक्षात्कार कर लेती है; यह प्रत्यभिज्ञा का ही चमत्कार है–

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।
लोकस्यैव तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता॥

(प्रत्यभिज्ञाकारिका, ४.१.१७)

प्रत्यभिज्ञा को प्रतिष्ठापित करने के साथ ही इस ग्रन्थ में चित् अथवा चेतना के विवेचन के सन्दर्भ में इच्छा, ज्ञान और क्रिया का सूक्ष्मविश्लेषणपूर्ण मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

ज्ञान के साथ ही स्मृति और तद्भिन्नभिन्नत्वरूप अपोहन शक्ति का निरूपण इस की विशेषता है। प्रमाताओं के विविध प्रकारों और प्रमेय तत्त्वों के विवेचन के साथ ही बन्धन और मोक्ष का स्पष्टीकरण दार्शनिक सिद्धान्तों को पूर्णता प्रदान करते हैं। शैवदर्शन के सिद्धान्तों का गहन विश्लेषण और व्यवस्थाबद्ध प्रस्तुतीकरण करने वाले आधारभूतग्रन्थ ''ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी'' का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए मैं डॉ० रचना शेखावत को साधुवाद देती हूँ। इन्होंने पर्याप्त परिश्रम और लगन से शोध करके प्रस्तुत ग्रन्थ में विवेचित सिद्धान्तों का तुलनात्मक विश्लेषणपूर्वक सफल निरूपण किया है। डॉ० रचना की यह कृति काश्मीर शैवदर्शन के जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगी; ऐसी आशा है और यह कामना भी है कि वे निरन्तर साहित्य-साधना में लीन रह कर इस दर्शन पर सहज बोधगम्य, सरल रचनाएँ पाठकों को सुलभ कराएँ।

दि० २४.८.२०१३

बीना अग्रवाल
आचार्य एवं अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

प्राक्कथन

वन्दे गुरु-पदद्वन्दं वाङ्मनश्चित-गोचरम्।
श्वेतरक्तप्रभाभिन्नं शिवशक्त्यात्मकं परम्॥

'शिवतन्त्र रहस्य' प्रस्तुत पुस्तक 'काश्मीर शैव दर्शन' के अग्रणी आचार्य उत्पलदेव की महान कृति 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' एवं उस पर आचार्य अभिनवगुप्त की व्याख्या 'विमर्शिनी' पर आधारित है। काश्मीर शैव दर्शन अद्वैतवादी दर्शन है तथा अखिल जगत् में केवल 'शिव' की ही सत्ता स्वीकार करता है किन्तु काश्मीर शैव दर्शन ही है जो जगत् को मिथ्या नहीं बल्कि मोक्ष प्राप्ति का साधन मानता है। नर देह शिव से साक्षात्कार का साधन है। परम शिव स्वयं को ही बंधनग्रस्त करके प्रत्यभिज्ञान द्वारा जानते हैं। यही इस दर्शन की विलक्षणता है जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। काश्मीर शैव दर्शन केवल पुस्तकीय ज्ञान नहीं देता बल्कि उस ज्ञान को अनुभूति और साधना के मार्ग तक ले जाता है। प्रस्तुत पुस्तक इसी सत्य को 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' और विमर्शिनी के अनुसार आपके समक्ष प्रस्तुत करता है।

दर्शन का तात्पर्य है सत् असत् का विवेक कर परम तत्त्व को जानना। प्रत्येक व्यक्ति दर्शन के द्वारा जीवन के परम पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। शैव दर्शन भी प्रत्येक व्यक्ति को अनुत्तर तत्त्व या परम शिव की उपलब्धि ज्ञान द्वारा कर अपने जीवन को सफल बनाने का मार्ग दिखाता है।

परम तत्त्व की प्राप्ति हेतु मार्ग तो कई हो सकते हैं जैसे – ज्ञान का मार्ग, योग का मार्ग अथवा क्रिया का मार्ग किन्तु शैव दर्शन में ज्ञान के मार्ग को सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है। ज्ञान क्रिया तथा योग का विरोधी नहीं बल्कि सहायक है।

सुविचारित योजनानुसार इस कृति में 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' में वर्णित शैवदर्शन के सिद्धान्तों का तलस्पर्शी विवेचन करने का प्रयास किया गया है। मूलत: यह 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी : एक समीक्षात्मक अध्ययन' के नाम से मेरा शोध प्रबन्ध है जिस पर मुझे राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से पीएच.डी. की

उपाधि मिली। किञ्चित परिवर्तन, परिवर्धन के उपरान्त इसे 'शिव-तन्त्र रहस्य' के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका तथा विमर्शिनी टीका को एक दृष्टि में रखते हुए सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए रहस्यों को उद्घाटित किया गया है। कारिका एवं विमर्शिनी दोनों एक दूसरे की पूरक हैं। इसमें सात अध्यायों की योजना रखी गई है।

प्रथम अध्याय के अन्तर्गत शैव दर्शन परम्परा का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है। शैव दर्शन के मुख्य-मुख्य सम्प्रदाय हैं- पाशुपत सम्प्रदाय, सिद्धान्त शैव अथवा दक्षिण शैवमत, वीर शैव मत, एवं काश्मीर शैवमत। काश्मीर शैवमत हमारे पुस्तक के आधार ग्रन्थ 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' का प्रतिपाद्य विषय है। काश्मीर-शैवसिद्धान्त अद्वैतवादी दर्शन है और विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं में इनका अपना विशेष स्थान है। काश्मीर शैव दर्शन की मूलभूत मान्यता यह है कि परम शुद्ध चैतन्य शिव ही एक मात्र तत्त्व है। काश्मीर शैव दर्शन विशुद्ध अद्वैतवाद का प्रतिपादक है। परम तत्त्व शिव के ही दो पक्ष हैं प्रकाश और विमर्श। ये दोनों ही सत्य है क्योंकि कार्य अपने कारण से भिन्न नहीं हो सकता। संसार के बाह्य भौतिक पदार्थ भी उसी चेतना के विलास मात्र हैं। काश्मीर शैव दर्शन की धारा भगवान श्रीकण्ठ मूर्ति से लेकर आज तक अनवरत चल रही है। उत्पलदेव, अभिनवगुप्त आदि विद्वानों ने इस दर्शन को अत्यन्त उत्कर्ष प्रदान किया एवं आज भी शैव दर्शन के आचार्यगण इस परम्परा को अक्षुण्ण बनाए हुए हैं। काश्मीर शैव दर्शन की ही धाराओं, स्पन्द शास्त्र, प्रत्यभिज्ञा में से प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के अन्तर्गत ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी का प्रमुख स्थान है। आचार्य सोमानन्द द्वारा विरचित शिवदृष्टि शैव दर्शन में आगम शास्त्र रूप है। आचार्य उत्पलदेव ने इसके अनुसार ही ईश्वर प्रत्यभिज्ञा की रचना की। ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिका ग्रन्थ की दुर्बोधगम्यता को आचार्य उत्पलदेव के शिष्य आचार्य अभिनवगुप्त ने विमर्शिनी एवं विवृत्तिविमर्शिनी टीकाओं द्वारा न केवल दूर किया बल्कि ग्रन्थ को और अधिक अर्थगाम्भीर्य युक्त बनाया। आज कारिका एवं विमर्शिनी को साथ ही एक ग्रन्थ के रूप में देखा जाता है। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका ग्रन्थ में कुल एक सौ नब्बे कारिकाएँ हैं जिनमें गागर में सागर भर देने के समान आचार्य उत्पल ने शैव सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इनको आचार्य अभिनव गुप्त की विमर्शिनी 'टीका' साथ-साथ स्पष्ट करती चलती है। इनको

अलग-अलग देखने की आवश्यकता नहीं है।

द्वितीय अध्याय में ज्ञान शक्ति निरूपण प्रथम अध्याय ज्ञानाधिकार के प्रतिपाद्य विषयों के विवेचन किया गया है।

दर्शन का तात्पर्य है सत् असत् का विवेक कर परमतत्त्व को जानना। प्रत्येक व्यक्ति दर्शन द्वारा जीवन के परम् पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। शैव दर्शन भी प्रत्येक व्यक्ति को अनुत्तर तत्त्व या परम शिव की उपलब्धि ज्ञान द्वारा करवा कर अपने जीवन को सफल बनाने का मार्ग दिखाता है।

परम तत्त्व की प्राप्ति हेतु मार्ग तो कई हो सकते हैं जैसे - ज्ञान का मार्ग, योग का मार्ग अथवा क्रिया का मार्ग किन्तु शैव दर्शन में ज्ञान के मार्ग को सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है। ज्ञान क्रिया तथा योग का विरोधी नहीं बल्कि सहायक है।

शिव तत्त्व का ज्ञान ही पूर्ण ख्याति है। ज्ञान का प्रयोजन दु:खों से स्वयं मुक्ति पाना एवं दूसरों को भी प्रत्यभिज्ञान द्वारा दु:खों से मुक्ति दिलाना है। अज्ञान कोई भिन्न वस्तु नहीं है। अद्वैत शिव को द्वैत रूप में जानना ही अज्ञान है। यह अज्ञान ही बन्धन का कारण है। ज्ञान को ही बोध स्वरूप कहा गया है। ज्ञान की प्राप्ति में दीक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। विवेक ज्ञान या प्रातिभ ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है। साधक को विवेक ज्ञान की प्राप्ति हेतु प्रयासरत रहना चाहिए। पृथ्वी पर रहने वाला प्रत्येक प्राणी ज्ञान का अधिकारी है, वहाँ जाति, वर्ण, लिङ्ग का कोई भेद नहीं है। परम् ज्ञान की प्राप्ति के बाद साधक मोक्ष प्राप्ति के समान हो जाता है। उसे और कोई प्रयास करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। परम शिव की इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्तियाँ एक दूसरे से अभिन्न है। पाश्चात्य मत जहाँ ज्ञान को बुद्धि तक ले जाकर समाप्त होता है, वहीं शैव दार्शनिकों की ज्ञान शक्ति बुद्धि पर आधारित नहीं है, वरन् आत्मा की शक्ति है। स्मृति शक्ति के सिद्धान्तों द्वारा बौद्धों की स्वलक्षण की भावना एवं विज्ञप्ति मात्रता के सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है। आत्मा नित्य है, स्मृति द्वारा यह सिद्ध होता है। स्मृति भी शिव की ही शक्ति है, कोई मानसिक संवेग मात्र नहीं। परम शिव की अपोहन शक्ति है जो ज्ञान तथा स्मृति दोनों पर अनुग्रह करती है। इसके द्वारा स्वयं शिव ही स्वयं को अनुग्रह शक्ति द्वारा जानते हैं। आचार्य उत्पल ने अठ्ठासी कारिकाओं तथा आठ आह्निकों में ज्ञान शक्ति का निरूपण किया है। अत: प्रस्तुत पुस्तक में भी ज्ञान शक्ति निरूपण

अध्याय अन्य अध्यायों की अपेक्षा विस्तृत है।

तृतीय अध्याय 'स्मृति तथा अपोहन शक्ति निरूपण' है। यद्यपि ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी में स्मृति तथा अपोहन शक्ति का विवेचन ज्ञानाधिकार में ही किया गया है किन्तु विषय का महत्त्व देखते हुए इसे अलग अध्याय में निरूपित किया गया है। स्मृति शक्ति ज्ञान शक्ति से भिन्न नहीं है यह आत्मा की वह शक्ति है जो पूर्व में अनुभव किए गए को पुनः स्मरण कराती है। स्मृति शक्ति के लोक व्यवहार सम्पन्न नहीं हो सकता। स्मृति भी ज्ञान ही है, वह भ्रान्ति नहीं है। स्मृति द्वारा ही शैव दार्शनिक आत्मा की सिद्धि करते हैं। इसी प्रकार अपोहन भी परम शिव की शक्ति है जिससे परम शिव एक होकर भी भेदतया अनन्त रूपों में आभासित हो जाते हैं। यह ज्ञान व स्मृति दोनों पर अनुग्रह करने वाली शक्ति है। वस्तुतः ज्ञान स्मृति व अपोहन शिव के ज्ञातृत्व का ही रूप है।

चतुर्थ अध्याय 'क्रिया शक्ति निरूपण'। शिव की इच्छा शक्ति ही क्रिया शक्ति के रूप में परिणत होती है। इच्छा शक्ति ही ज्ञान शक्ति से मिलकर क्रिया शक्ति के रूप में भासती है। ज्ञान व इच्छा से शिव की क्रिया शक्ति भिन्न नहीं है। परम शिव ही सृष्टि, स्थिति, तिरोधान, संहार और अनुग्रह पञ्च कृत्यों द्वारा निरन्तर लीला करता है।

शिव और विश्व में भेदाभेद सम्बन्ध है भेदों के बीच में अभेद एकमात्र तत्त्व शिव ही है। इसी क्रिया शक्ति को वाक् के सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित किया गया है। वाणी के विभिन्न स्तर परमशिव की क्रिया शक्ति के ही विभिन्न रूप है।

पञ्चम अध्याय में प्रमातृ तत्त्व का विवेचन किया गया है। शिव, शक्ति, सदा शिव, ईश्वर, सद्विद्या, महामाया ये छः प्रमातृ तत्त्व हैं। परम शिव तत्त्व एक होता हुआ भी भिन्न-भिन्न विशेषताओं को लिए हुए अपने स्वातन्त्र्य से अनेक रूपों में विभक्त हो जाता है। बाहर की और शिव का उन्मेष ईश्वर तत्त्व और अन्दर की और निमेष ही सदाशिव तत्त्व है। सदाशिव आवस्था में 'अहम्' और 'ईश्वर' अवस्था में 'इदम्' अंश की प्रधानता रहती है। माया के स्तर के पश्चात् अशुद्ध अध्वा (सृष्टि) का प्रारम्भ हो जाता है जिसमें स्तरभेद से विज्ञानाकल, प्रलयाकल एवं सकल प्रमाता कहे गए हैं। प्रमाता की स्थिति के भेदों को जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति के भेद से चार प्रकार का कहा गया है, जिनमें चौथी तुरीयावस्था शिव

स्वरूप प्राप्त अवस्था होती है, यही योगी के लिए उपादेय है।

षष्ठ अध्याय प्रमेय तत्त्व निरूपण है। इसमें शैव दर्शन में प्रतिपादित छत्तीस तत्त्वों का विवेचन है। मूल तत्त्व 'शिव' है। इसी से परवर्ती पैंतीस तत्त्व आविर्भूत होते हैं। परमार्थतः शिव से परे कुछ भी नहीं है। इसमें शिव से लेकर आकाश तक कुल छत्तीस तत्त्वों को प्रतिपादन किया गया है।

सप्तम अध्याय में बन्धन और मोक्ष के सिद्धान्त का विवेचन किया गया है। माया से विमोहित होकर जीव कर्मबन्धन में बद्ध हो जाता है और विद्या की कृपा से विमुक्त हो जाता है। जीव कला आदि पञ्च कञ्चुकों से वेष्टित होकर संसार के चक्र में फंसता है। वह आणव, मायीय और कर्ममलों से युक्त रहता है इससे जीव संकुचित रूप को प्राप्त हो जाता है।

अज्ञान ही बन्धन का कारण है और उसके दूर हो जाने पर ही बन्धन से मुक्त होकर आत्मा शिव स्वरूप को जान लेती है। मोक्ष ज्ञानरूप होता है। मोक्ष प्राप्त साधक शिवस्वरूप ही हो जाता है। वह मोक्ष प्राप्त करने के पश्चात् अपने कर्म क्षय होने तक जीवन प्राप्त करने के पश्चात् अपने कर्म क्षय होने तक जीवन रहते हुए भी मुक्त रहता है और देहपात होने पर विदेह मुक्ति को स्थिति प्राप्त कर शिव में लीन हो जाता है। मोक्ष की प्राप्ति में गुरु का भी विशिष्ट महत्त्व है। ज्ञानी गुरु शिष्य को शक्तिपात् द्वारा इस योग्य बना देता है कि वह अपने शिवस्वरूप का प्रत्यभिज्ञान कर सके।

अन्त में उपसंहार में सम्पूर्ण विषय-वस्तु का सार-संक्षेप एवं निष्कर्ष निरूपण किया गया है।

इस प्रकार से प्रस्तुत पुस्तक में ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में प्रतिपादित शैव दर्शन के सभी मुख्य सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है।

शोध विषय चुनने के अनेक कारण हो सकते हैं, उनमें से एक कारण शोधार्थी की रुचि भी होता है किन्तु कभी-कभी जीवन में परिवर्तन किसी और माध्यम से भी होता है। प्रस्तुत शोध-विषय मुझे श्रद्धेया **आचार्या डॉ. बीना अग्रवाल** के आशीर्वाद से प्राप्त हुआ। उस समय मैंने केवल इसे शोध विषय समझकर कार्य प्रारम्भ किया था किन्तु आज मैं स्वयं को गुरुकृपा और परमशिव के अनुग्रह से पूर्ण

पाती हूँ। आचार्या डॉ. बीना अग्रवाल केवल शोध-निर्देशिका नहीं मेरी मार्गदर्शिका भी हैं- **गुरोस्तु मौनव्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्न संशया: ।**

मेरी यह पुस्तक पूज्य पिताजी, श्वसुर महोदय की प्रेरणा से ही पूरी हो सकी हैं। मेरे जीवनसंगी श्री वीरेन्द्र सिंह गौड़ का सहयोग भी कम नहीं रहा, वे प्रत्येक कदम पर प्रेरक और प्रोत्साहक रहें। श्रद्धेय चाचाजी श्रीमान् मोहनसिंहजी और भातृ श्री विवेक भी प्रेरणापुञ्ज बने। आयुष्मान सत्यव्रतसिंह और दिग्विजयसिंह का सहयोग भी अतुलनीय मानती हूँ। मैं उनके स्नेहाधीन हूँ। परम् श्रद्धेय आचार्य बद्री प्रसाद जी शास्त्री तथा गुरुश्रेष्ठ श्री प्रभुदत्तजी शास्त्री का भी हृदय से आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने मुझे समय-समय पर मार्गदर्शन प्रदान किया। साथ ही मैं सखी श्रद्धा सिंह तथा मीनाक्षी अग्रवाल का भी धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ जिनका मुझे सराहनीय साहचर्य और सहयोग प्राप्त हुआ।

श्रद्धेय आचार्य श्री नवजीवन जी रस्तोगी का भी मैं विनम्र आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने लखनऊ जाने पर समय की कमी होने पर भी विषय के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी प्रदान कर अनुगृहीत किया। गुरुजी डॉ० रमाकांत आंगिरस की भी आभारी हूँ जिन्होंने मुझे यथेष्ठ मार्गदर्शन प्रदान किया।

गणेशपुरी के महान् सन्त, शिवस्वरूप श्रद्धेय श्री गुरुदेव स्वामी नित्यानन्द तथा बाबा मुक्तानन्द के श्रीचरणों में प्रणाम अर्पण करती हूँ। श्रद्धेय गुरुभाईजी श्री चिद्विलासानन्द के चरणों में यह पुस्तक निवेदित हैं। आप ही का कार्य आप ही ने करवाया है, इसमें मेरा कुछ नहीं है।

अन्त में इस ग्रन्थ के सुन्दर व स्तरीय प्रकाशन के लिए मै० परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली की आभारी हूँ। विद्वज्जनों को मेरा कार्य रुचिकर लगेगा, ऐसी आशा है।

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नम: ।।

रचना शेखावत

जयपुर,
श्रावण शुक्ला पूर्णिमा,
२२ अगस्त २०१३ ई०

संकेताक्षर सूची

अ.प्र.सि.	: अजडप्रमातृसिद्धि
अ.प्र.प.	: अनुत्तर प्रकाशपञ्चाशिका
ई. सि.	: ईश्वरसिद्धि
ई. प्र. का.	: ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका
ई. प्र. वि. भा.	: ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भास्करी संवलिता)
ई. प्र. वि. वि.	: ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्ति-विमर्शिनी
कु. तं.	: कुलार्णव तंत्र
ज्ञा. तं.	: ज्ञानार्णवतन्त्र
त.	: तन्त्रालोक
त. धा.	: तन्त्रवट धानिका
नी. पु.	: नीलमत पुराण (1-2)
ने. ते.	: नेत्रतन्त्र
न्या. बि.	: न्यायबिन्दु
प. सा.	: परमार्थ-सार
प. प्र.	: पराप्रवेशिका
प. त्रि.	: परात्रिंशिका
प्र. हृ.	: प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
ब्र. सू.	: ब्रह्मसूत्र (शांकर भाष्य)
बो. प.	: बोध पञ्चदशिका
म.म.	: महार्थमञ्जरी
म. प्र.	: महानय प्रकाश
मा.वि.त.	: मालिनीविजययोत्तरतन्त्र
मा. वि. वा.	: मालिनीविजयवार्तिकम्
मृ. त.	: मृगेन्द्रतन्त्र
यो. हृ.	: योगिनीहृदयम्

र.गं.	:	रस गंगाधर
रू.त.	:	रुद्रयामल तन्त्र
वा. प. ब्र. का.	:	वाक्यपदीय (ब्रह्मकाण्ड)
वि.भै.	:	विज्ञानभैरव
वि.मा.सि.	:	विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि
शा.ति.त.	:	शारदातिलकतन्त्रम्
शि. दृ.	:	शिवदृष्टि
शि. स्तो.	:	शिवस्तोत्रावली
शि. सू.	:	शिवसूत्रम्
ष. त्रि. सं.	:	षट् त्रिंशत्तत्वसंदोह
स्त. चि.	:	स्तवचिन्तामणि
स्प. का.	:	स्पन्दकारिका
स्तु. कु.	:	स्तुतिकुसुमांजलि
स्व. तं.	:	स्वच्छन्द तंत्र (1-4)
स. सं.	:	सर्वदर्शन संग्रह
स. सि.	:	सम्बन्धसिद्धि
बौ. द.	:	बौद्ध दर्शनम्
भा. द.	:	भारतीय दर्शन
का. शै. द. और का.	:	काश्मीर शैव दर्शन और कामायनी
त्रि. द.	:	त्रिकदर्शनम्
प्र. द. और मा.	:	प्रत्यभिज्ञादर्शन और माया
का. शै. प.	:	काश्मीर की शैव परम्परा
का. शै. द.	:	काश्मीर शैव दर्शन
का.श.की. मू.	:	काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ
आ. सा. म.	:	आधुनक सामान्य मनोविज्ञान
द. दि.	:	दर्शन-दिग्दर्शन

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

शैवदर्शन में ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका और अभिनवगुप्त

दर्शन

दर्शन का तात्पर्य है सत् असत् का विवेक करके परम तत्त्व को जानना। प्रत्येक व्यक्ति दर्शन द्वारा जीवन के परम पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। दर्शन को मूल तत्त्व को जानने का प्रयास कहा जा सकता है। विकल्प रहित ज्ञान दर्शन कहा गया है।[1] मनुष्य के हृदय में स्वयं के विषय में तथा संसार के कर्त्ता के विषय में जो जिज्ञासाएँ उठी तथा मृत्यु के बाद क्या आत्मा का अस्तित्त्व रहेगा? इस प्रकार के प्रश्नों से ही दर्शन का द्वार खुलता है।

मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? कहाँ जाऊँगा? ये प्रश्न मनुष्य को दर्शन के गंभीर चिन्तन की और उन्मुख करते हैं।

हमारे ऋषि मुनि बाह्य जगत् से उदासीन होकर जनकल्याण हेतु इन प्रश्नों का उत्तर योग एवम् चिन्तन द्वारा खोजते थे तभी वे साधना द्वारा सत्य का साक्षात्कार करने वाले मुक्त पुरूष बन सके थे।

वेदों में भी इसी जिज्ञासा को इस प्रकार कहा गया है-

नासदासीन्नो सदासीत् तदानींनासीद्रजोनोव्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्।।[2]

ये जिज्ञासाएँ ही आज तक दर्शनशास्त्र की मूल समस्याएँ बनी हुई हैं। कोई दर्शन-सम्प्रदाय ऐसा नहीं है जो इन प्रश्नों का अन्तिम उत्तर देता हो। जो इस सत्य का अनुभव कर लेता है, वह संसार से विरक्त हो जाता है एवं सांसारिक मनुष्य उस परम सत्य को दूसरे साधकों से सुनकर उस सत्य का अनुमान कर सकते हैं किन्तु स्वयं अनुभव तभी कर सकते हैं, जब स्वयं उसी स्थिति को प्राप्त कर लें।

परम तत्त्व अपने अनुभव से पहले 'नेति नेति' के रूप में ही जाना जाता है।

1. 'दर्शनम् इति निर्विकल्पमनुभवम्' - ई. प्र. वि. - 1-4-8
2. ऋग्वेद - 10-129 नासदीय सूक्त

कोई इसे ब्रह्म कहता है, कोई शिव, तो कोई शब्द-ब्रह्म। एक ही लक्ष्य की ओर उठने वाली ये अलग-अलग मतवादों की दृष्टि है, इनका लक्ष्य एक ही है।

भारतीय संस्कृति में धर्म और दर्शन अलग नहीं है बल्कि एक दूसरे के पूरक हैं। यहाँ धर्म और दर्शन का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। यहाँ दर्शन मोक्ष के प्रश्न से जुड़ा हुआ है तथा मूल्यों को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है।

भारतीय दर्शन जीवन और व्यवहार से कभी अलग नहीं होता। मोक्ष, कर्म, पुनर्जन्म आदि प्रश्नों का नीतिसम्मत हल ढूंढना दर्शन का ही एक अंश रहा है। धर्म जीवन का ध्येय तो बताता है- मोक्ष, किन्तु उस तक पहुँचने का उपाय दर्शनशास्त्र बताता है।

शैव दर्शन

धर्म दर्शन की अपेक्षा प्राचीन है। विश्वास पर आश्रित धार्मिक नियमों को जब बुद्धि की कसौटी पर परखा जाने लगा, तब दर्शन का उदय हुआ। शैव दर्शन के साथ भी यही हुआ। शैव धर्म अत्यन्त प्राचीन धर्म हैं। शैव धर्म के प्रमाण ताम्रपाषाण युग से पूर्व तक के मिलते हैं।[1] प्रत्येक धर्म की अपनी विशिष्ट बौद्धिक विचारधारा होती है जो उस धर्म की उपासना पद्धति को दिशा देती है। जब ये विचार परिपक्व हो जाते हैं। तब दार्शनिक रूप धारण कर लेते हैं। शैव दर्शन को भी दार्शनिक रूप में आने तक लम्बी यात्रा तय करनी पड़ी है।

प्राचीनकाल से ही भारतवर्ष में दो मुख्य विचारधाराएँ थी - (1) वैदिक (2) अवैदिक। इसी को आगम-निगम के रूप में कहा जाता है।

तन्त्र साहित्य का सम्बन्ध 'आगम' से है। यह दैवीज्ञान शास्त्र माना जाता है जो कि गुरु-शिष्य परम्परा में अनवरत चलता रहता है। जैसे वेदों को अनादि माना जाता है, वैसे ही आगम को भी अनादि माना जाता है।

आगम की परिभाषा इस प्रकार दी गई है-

"आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजामुखे,
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते ।।"[2]

---

1. सर जॉन मार्शल - मोहनजोदड़ो एण्ड द इण्डस वेली सिविलाइजेशन
2. सर्वोल्लास तन्त्र - 1.15, उ. का. शै. प., पृ. - 2

तन्त्रालोककार कहते हैं- ''समस्त शिवमुख से निकले हुए वचन आगम हैं''।[1]

इसीलिए इनको तन्त्र भी कहा गया है 'तन्त्र' शब्द से यहाँ किन्हीं बौद्धिक समस्याओं और उनके ऊहापोह से कोई संबंध नहीं है। इस दृष्टि से तन्त्र एक दर्शन बन जाता है, स्वात्म चैतन्यात्मक अनुभूति के 'सत्' पक्ष के स्वरूप का दर्शन।[2] आचार्य जानकीनाथ कौल 'शिवसूत्र विमर्श की भूमिका में लिखते हैं - प्रथमत: परमशिव की पर संवित्तिरूप परावाणी में समस्तशास्त्र परबोध्यरूपता से विकसित हुआ ही ठहरा रहता है, फिर पश्यन्ती दशा में अहं परामर्शरूपता से ही उदय करता है। इस पश्यन्ती दशा में भी वाच्य-वाचकरूपता का अभाव रहता है तथा भेद प्रतीत नहीं होता। तत्पश्चात् वही शास्त्र मध्यमा वाणी में अवतरित होकर अपने में ही वाच्य-वाचकभाव को प्रकट करके उदय करता है। अन्त में वही वैखरी दशा में आकर वाच्य-वाचेक भाव को प्रकट करके बाह्य जगत् में अवतरित हो जाता है एवं स्फुट रूपता को प्राप्त होता है।

शैवागम के अनुसार यह शास्त्र पाँच प्रवाहों में प्रसारित होता है। यही प्रवाह शिव की पाँच शक्तियों का विकास है। ये पाँच शक्तियाँ चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया कहलाती है। इनको क्रमश: ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अधोरवक्त्र कहते हैं।

इस प्रकार शिव के पाँच मुखों से प्रवाहित हुई शैव शास्त्र रूप सरिताएँ मूलत: बयानवे धाराओं में बह निकली ये ही अभेदरूप भैरव शास्त्र, भेदाभेद रूप रूद्र शास्त्र, और भेदरूप शिवशास्त्र के रूप में प्रकट हुई।

इन शास्त्रों को तीन श्रेणियों में इस प्रकार बाँटा जा सकता है-

1. **अभेद या अद्वैत** - जगद्रूप अनेकता में एकता के अनुभव का प्रत्यभिज्ञान। इन शास्त्रों को भैरव शास्त्र कहते हैं।
2. **भेदाभेद** - एकता और अनेकता के दोनों दृष्टिकोणों के अनुसार सिद्धान्तों का कथन इनमें होता है। ये रूद्रशास्त्र कहलाते हैं।

---

1. यत: शिवोद्भवा: सर्वे शिवधामफलप्रदा: - व्या. त. 1-18
2. भूमिका, पृ. 9- त.-1

3. **भेद** – अनेकता में ही इस सिद्धान्त के सार का अवलोकन होने से यह 'भेदशास्त्र' कहा जाता है। ये शिवशास्त्र कहलाते हैं।

तन्त्र साहित्य अधिकांशतः संवाद शैली में ही विकसित हुआ है। कहीं शिव गुरु होते हैं, पार्वती शिष्या होती हैं, तो कहीं पार्वती गुरु के रूप में उपदेश करती हैं, शिव शिष्य के रूप में होते हैं। इसी शैली भेद से दो धाराएँ बन गईं – शैव तथा शाक्त।

यद्यपि दोनों ही धाराओं का मूल लक्ष्य आत्मज्ञान तथा कल्याण प्राप्ति है, फिर भी एक में आत्म संयम पर व इन्द्रिय निग्रह पर बल दिया गया है, दूसरी इस विषय में उदार रही। योग का दोनों ही धाराओं में विशेष स्थान रहा है। शैव मत के अधिष्ठातृ देव शिव भी योगिराज कहे जाते हैं।

शैवदर्शन के पाँच सम्प्रदाय[1]

शैव दर्शन के मुख्य रूप से पाँच सम्प्रदाय माने जाते हैं जो कि इस प्रकार हैं –

1. महापाशुपत सम्प्रदाय
2. सिद्धान्त शैव सम्प्रदाय
3. वीर शैव सिद्धान्त
4. शाक्त मत
5. काश्मीर शैव मत

इनमें से प्रथम तीन महापाशुपत, शैव सिद्धान्त एवं वीर शैवमत का विकास दक्षिण के तीन राज्यों – आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु तथा कर्नाटक में हुआ। इसके विपरीत शाक्त मत की विभिन्न शाखाएँ भारत के विभिन्न भागों में समय-समय पर विकसित होती रहीं। काश्मीर शैव मत का प्रादुर्भाव कश्मीर में हुआ।

प्रमुख शैव सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है–

(क) पाशुपत सम्प्रदाय

इसे 'नकुलीश पाशुपात' भी कहा जाता है। सर्वदर्शनसंग्रह में माधवाचार्य ने इस सम्प्रदाय का उल्लेख वैराग्य साधना के रूप में किया है। पाशुपत सम्प्रदाय

---

1. प्रत्यभिज्ञा दर्शन और माया, पृ. 3

पंचार्थ सम्प्रदाय कहलाता है क्योंकि इसमें पाँच विषयों की मुख्य रूप से चर्चा की गई है। वे पाँच विषय इस प्रकार हैं – (1) कार्य (2) कारण (3) योग (4) विधि (5) दुःखान्त।

पाशुपत सम्प्रदाय के दार्शनिकों के अनुसार पाशुपत विधि के द्वारा जगत् के कारण भगवान पशुपति अर्थात् शिव की प्राप्ति होती है एवं सभी दुःखों से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। प्रभु द्वारा निर्दिष्ट वैराग्याचारों का पालन करके साधक भगवान पशुपति के अनुग्रह का अधिकारी हो जाता है।

'पशु' अर्थात् जो पाशों से बंधा हुआ जीव है। पाश का अर्थ है 'कार्य-कारण'। इसे ही 'कला' कहा गया है।

पाशुपत मार्ग का तीसरा विषय 'योग' है जिसकी एक निश्चित प्रक्रिया है। यही 'विधि' है। अन्तिम तत्त्व 'दुःखान्त' है। जिस अवस्था में जीव मोक्ष प्राप्त करने के पश्चात् पुनः वापस नहीं आता वह 'दुःखान्त' अवस्था है।

पाशुपत सम्प्रदाय में 'यम' तथा नियमों को भी विशेष महत्त्व दिया गया है। इसमें साधना द्वारा मोक्ष प्राप्त करना ही मुख्य बिन्दु है।

शिव को इस सम्प्रदाय में पशुपति कहा गया है इसलिए इस सम्प्रदाय का नाम पाशुपत सम्प्रदाय है। 'पशु' अर्थात् 'जीव' एवं 'पति' अर्थात् स्वामी। शिव ही सम्पूर्ण चराचर जगत का स्वामी है, अतः वह पशुपति है। इस सम्प्रदाय के ग्रन्थ पाशुपत सूत्र एवं उन पर कौण्डिण्य भाष्य हैं।

(ख) सिद्धान्त शैव अथवा दक्षिण शैव मत

इस मत का विकास विशेष रूप से तमिलनाडु में हुआ। सिद्धान्त शैव मत का प्रथम उन्मेषकाल ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी का समय है। इस पंथ के प्रमुख स्त्रोत मृगेन्द्र तन्त्र आदि आगम हैं। इस सिद्धान्त में जीवात्मा को 'पशु' कहा जाता है तथा इसे 'अणु' क्षेत्रज्ञ आदि नामों से भी अभिहित किया गया है।

सिद्धान्त शैव मत में 'पशु' की तीन कोटियाँ निर्धारित की गई हैं – विज्ञानाकल, प्रलयाकल तथा सकल।

(ग) वीर शैव मत

मदिराज तथा मदारम्ब के पुत्र वसव को वीर शैव मत का प्रवर्तक माना गया

है। शैव योगी गोरखनाथ कृत 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' इसी सम्प्रदाय का ग्रन्थ है। इस सम्प्रदाय को 'वीर' सम्प्रदाय इसलिए कहा गया है क्योंकि ये हठयोग साधना द्वारा इन्द्रियों को जीतने को महत्त्व देते हैं।

यह भी कहा जाता है कि शिवनिन्दा सुनकर वीर शैव मतानुयायियों का क्रोध सीमा से बाहर हो जाता था। सम्भवतः इसी कारण से इनका नाम 'वीर' पड़ा।[1]

इस सिद्धान्त का सार यह है कि योग परम तादात्म्य का उत्प्रेरक है। प्राणशक्ति वायु को पूर्णरूपेण रोककर, प्रबल प्रयत्न से चित्त को स्थिर किए बिना भक्ति नहीं हो सकती एवं बन्धन से मुक्ति नहीं हो सकती। यह षड्स्थल सिद्धान्त इनकी चिन्तन पद्धति का प्राण है।

'वीर शैवागम' 'सिद्धान्त शिखामणि' (रेवणाचार्य) आदि इस सम्प्रदाय के अन्य प्रमुख ग्रन्थ हैं।

(घ) शाक्त मत

शाक्त मत परमेश्वर को मातृत्त्वरूप में स्वीकार करता है। माँ ही परम शक्ति है। वही विश्व की रचना करने वाली पालन करने वाली तथा संहार करने वाली है। शिव अपरिवर्तनीय चेतन है। शक्ति उसकी परिवर्तनशील ऊर्जा है।

शाक्त कहते हैं कि शक्ति के बिना शिव सृष्टि-क्रिया करने में सक्षम नहीं हो सकता। शिव की ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति को ही शाक्त बिन्दु एवं नाद कहते हैं।[2]

शैव तथा शाक्त सम्प्रदाय में अन्य सभी सिद्धान्तों में समानता है केवल प्रधान तत्त्व की भिन्नता है। शैव शिव को ही परम तत्त्व मानते हैं, जबकि शाक्त शक्ति को परम तत्त्व मानते हैं। शाक्त मतवादी मानते हैं कि प्रकाश रूप शिव विमर्शरुपिणी शक्ति के बिना जड़ के समान है।[3]

---

1. शिवनिन्दाकरं दृष्ट्वा घातयेदथवाशपेत्।
   स्थानं वा तत् परित्यज्य गच्छेद्यदि अक्षमो भवेत्।। सि. शि. 9-26
2. प्रत्यभिज्ञा दर्शन और माया- भूमिका
3. शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्
   न चेदेव देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।
   पंचस्तवी का सं.ग्रं. उद्धृत् - प्र. द. और माया पृ. 31

शाक्त मत में भी सम्प्रदाय भेद से सृष्टि रचना के विभिन्न दृष्टिकोण हैं। विद्यार्णवतन्त्र संग्रह, पञ्चस्तवी कारिका आदि इस दर्शन के मुख्य ग्रन्थ हैं।

(ङ) काश्मीर शैव दर्शन

काश्मीर से सम्बद्ध होने के कारण ही इस दर्शन–परम्परा को 'काश्मीर शैव दर्शन' कहा जाता है।

काश्मीर में 'शिव' से पहले नाग पूजा की परम्परा थी। आज भी नाग का शिव के साथ धार्मिक परम्परा में विशेष महत्त्व है। नीलमत पुराण के अनुसार कश्मीर के मूल निवासी नाग थे। बाद में डार्डिक या पिशाच नस्ल के लोग यहाँ आकर बस गए। नाग पूजा यहाँ की प्राचीनतम धर्म प्रणाली रही है। इसके बाद शिव कश्मीर घाटी के प्रमुख देवता रहे। वैसे काश्मीर में सभी हिन्दु देवी–देवताओं की पूजा की जाती थी। कालान्तर में शैव तथा बौद्ध धर्म यहाँ प्रमुख रूप में उभरे। शैव धर्म कश्मीरी समाज की आस्था का विषय बन गया और कालान्तर में काश्मीर शैव दर्शन के नाम से विकसित हुआ।

काश्मीर शैव धर्म से दर्शन की तरफ जो तर्कमूलक या बौद्धिक विश्लेषण प्रधान परिवर्तन हुआ उसमें बौद्ध दर्शन का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है।

बौद्ध धर्म काश्मीर में अशोक के शासनकाल से पूर्व ही पहुँच गया था। किन्तु कुषाण काल में इसका विकास अधिक हुआ।

कश्मीर घाटी में बौद्ध धर्म ब्राह्मण सम्प्रदायों के समानान्तर शताब्दियों तक चलता रहा। आठवीं, नवीं शताब्दी के दौरान् शैव विचारधारा क्षीण पड़ने लगी। इसी समय धार्मिक पुनर्जागरण की एक लहर फैली। इससे बौद्धों ने आलोचनात्मक दृष्टि अपनाई और दार्शनिक पक्ष उभरकर सामने आया। यह ऐसा समय था जब शैव, शाक्त ही नहीं बल्कि वैयाकरण, सांख्य, नैयायिक, योग आदि सभी दर्शन विकसित अवस्था में थे।

काश्मीर के विषय में आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी लिखते हैं – ''काश्मीर की भूमि में चिन्तन और कवन सहोदर हैं। साहित्य, दर्शन और साहित्य–शास्त्र का वह शारदापीठ है। कविता और केसर उसमें एक साथ उगते हैं।[1]''

---

1. काश्मीर की शैव परम्परा

ऐसी गौरवमयी काश्मीर की भूमि पर यह दर्शन विकसित हुआ, पला, बढ़ा। इसे त्रिक दर्शन, परमाद्वैत, महाद्वैत तथा ईश्वराद्वयवाद भी कहा जाता है।

काश्मीर शैव दर्शन परम्परा

काश्मीर की दर्शन परम्परा के मूल स्रोत आगम हैं। आगम, तन्त्र, संहिता आदि शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त किए जाते हैं। आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी के अनुसार शैव पदार्थों का व्युत्पादक शास्त्र 'तंत्र' है जो कि धारणार्थक 'तंत्रि' धातु से निष्पन्न है।'[1]

इसे ही कामिकागम में इस प्रकार कहा गया है-

तनोति विपुलान अर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्रानं च कुरुते यस्मात् तत् तन्त्रमभिधीयते ।।[2]

'तन्त्र' 'तन्त्रयति', तन्त्रयते यः सः' विग्रह के अनुसार शासन, नियन्त्रण, पालन-पोषण आदि अर्थों का उद्भावन करता है। इसके चुरादि णिजन्त प्रयोग से प्रेरणा का अर्थ भी सूचित होता है। तनादि तनु विस्तारवाची धातु से ष्ट्रन प्रत्यय करने पर निष्पन्न तन्त्र शब्द के विभिन्न अर्थ होते हैं।

तन्त्र का व्यवहार के सभी क्षेत्रों में प्रयोग होता है। करधा, ताना, बाना, रूई से लेकर कपड़े तक के अतिरिक्त वंश परम्परा, कर्मकाण्ड परम्परा, रूपरेखा, संस्कार, मुख्य सिद्धान्त आदि अर्थ भी होते हैं।[3]

'कर्मणा युगपद् भावस्तन्त्रम्' (कात्यायन) 'जितमनसिज तन्त्रम्' प्रयोग भी 'तन्त्र' शब्द के विभिन्न आयामों की ओर संकेत करते हैं। स्वतन्त्र-परतन्त्र शब्दों से जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक अर्थों की और स्वतः दृष्टि चली जाती है।

'तन्त्रभिः पञ्चभिरेतच्चकार शास्त्रम्' (तंत्र संहिता)। मन्त्र, तन्त्र आदि प्रयोग इस शब्द की व्यापक परिवेश सीमा को व्यक्त करते हैं। आयुर्वेद शास्त्र भी शल्य, शालाक्य, पाचन और उपचार के साथ तन्त्र के प्रायोगिक महत्त्व पर प्रकाश डालता है। शासन पद्धतियों में भी राजतन्त्र, प्रजातन्त्र, लोकतन्त्र आदि प्रयोग इसके

---

1. का. शै. द. प. पृ. -1
2. का. तन्त्रांतर पटल
3. त.-1 भूमिका पृ.-8

प्रशासनिक कार्यकलापों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। इसी प्रकार सेना, साजसज्जा मञ्च की रचना के विभिन्न पक्ष और अर्थ-तन्त्र की विभिन्न वित्त सम्बन्धी पद्धतियों के पक्ष को 'तन्त्र' शब्द व्यक्त करता है।

इसी प्रकार संगीत शास्त्र की तन्त्री के तारों से झंकृत रागिनियों के स्वर तन्त्र की विविध रस धारणाओं की सरणि का निरूपण तन्त्रशास्त्र ही करता है। यह सब 'तन्त्र' शब्द की अन्वार्थिक प्रायोगिक सान्दर्भिकता को सक्षमतया व्यक्त करता है।[1]

काश्मीर शैव दर्शन के वाङ्मय को साहित्य के आधार पर तीन भागों में विभक्त करके देखा जा सकता है - आगम, स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा। आगम शास्त्र से इसके धार्मिक पक्ष का बोध होता है, स्पन्दशास्त्र से क्रिया पक्ष का ज्ञान होता है तथा प्रत्यभिज्ञा शास्त्र से दर्शनपक्ष का परिचय मिलता है।[2]

1. **आगम शास्त्र :** आगम दैवी ज्ञान माना जाता है जो कि गुरु-शिष्य परम्परा से चला आ रहा है। काश्मीर शैव मत का आधार वसुगुप्त के शिवसूत्र हैं। इनमें न केवल इस दर्शन के मूल सिद्धान्त सन्निहित हैं, बल्कि इनके द्वारा परम तत्त्व के साक्षात्कार का मार्ग भी दिखाया गया है। शिव-सूत्र भगवान् शिव के द्वारा भगवती पार्वती को कहे गए ऐसी मान्यता है। माना जाता है कि आचार्य वसुगुप्त को ईसा की नवीं शती में शिव के अनुग्रह से स्वप्न में दिए गए आदेश द्वारा इन सूत्रों की प्राप्ति हुई। शिवसूत्र भी एक आगम ही है।

शिव सूत्रों में शाम्भव उपाय तथा उसके द्वारा मोक्ष प्राप्ति का वर्णन किया गया है। आगम ग्रन्थ प्रमुखतया निम्न हैं -

1. मालिनीविजयोत्तर तन्त्र
2. स्वच्छन्द तन्त्र
3. विज्ञान-भैरव
4. मृगेन्द्र तन्त्र
5. रुद्रयामल
6. शिवसूत्र

---

1. त.-1, भू. पृ. 8,9
2. प्र. द. और माया, पृ. 25

आगम शास्त्र व काश्मीर शैव दर्शन में वही सम्बन्ध है जो सम्बन्ध अद्वैत वेदांत तथा उपनिषदों के मध्य है।

2. **स्पन्दशास्त्र :** वसुगुप्त के शिष्य भट्ट कल्लट ने नवीं शताब्दी तक के मध्य शिवसूत्रों में वर्णित सिद्धान्तों को स्पन्दकारिका के रूप में पचास श्लोकों के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। उनकी कारिका के शब्द सरल किन्तु भाव-गम्भीर है। स्पन्दकारिका पर निम्नलिखित व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं-

1. रामकण्ठ की विवृत्ति
2. उत्पल वैष्णव की प्रदीपिका
3. क्षेमराज का स्पन्द सन्दोह
4. स्पन्द निर्णय

3. **प्रत्यभिज्ञा शास्त्र :** प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के दार्शनिकों ने शैव दर्शन की विचारधारा के पूर्ववर्ती विचारों को अपनाया है किन्तु उनके अव्यवहारिक पक्षों की अपेक्षा चिन्तन को अधिक महत्त्व दिया है। प्रत्यभिज्ञा शास्त्र शैव समावेश का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत करता है।

यह अद्वैत विचारधारा का प्रतिनिधि है। प्रत्यभिज्ञादर्शन का विकास मुख्यतया दो रूपों में हुआ है। सोमानन्द तथा उत्पल ने इसे सूत्रों तथा कारिकाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया और अभिनवगुप्त ने अपनी विस्तृत व्याख्याओं के द्वारा इस दर्शन के सिद्धान्तों को सामान्य बुद्धि वाले पाठकों के लिए भी सरल बना दिया।

इस परम्परा का मूल ग्रन्थ सोमानन्द की शिवदृष्टि है। सोमानन्द के शिष्य उत्पलदेव ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा लिखी। इस पर निम्नलिखित व्याख्याएँ हैं-

1. स्वयं उत्पलदेव द्वारा लिखी वृत्ति
2. अभिनवगुप्त विरचित विमर्शिनी
3. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृत्ति विमर्शिनी (अभिनवगुप्त)
4. क्षेमराज का प्रत्यभिज्ञाहृदयम् जिसमें प्रत्यभिज्ञादर्शन का सार है।

अभिनवगुप्त ने सैंतीस आह्निकों में 'तन्त्रालोक' और एक पृथक् ग्रन्थ तन्त्रसार में सिद्धान्तों का समन्वयात्मक प्रतिपादन किया है।

काश्मीर शैव दर्शन आचार्य परम्परा में उत्पलदेव और अभिनवगुप्त

काश्मीर शैव दर्शन की आचार्य परम्परा भगवान् शिव से ही आरम्भ होती है। शैवशास्त्र के गूढ़ सिद्धान्त पहले ऋषि-मुनियों के हृदय में सदियों तक सुरक्षित रहे। कलियुग के समय में ऋषिगण मनुष्य के लिए दुर्गम स्थानों पर जाकर तपस्या में लीन रहने लगे। ऐसे समय में ये शास्त्र सामान्य जन से दूर हो गए।

शास्त्र का अनध्याय देखकर भगवान् शिव ने श्रीकण्ठनाथ का रूप धारण किया और उन्हीं से साढ़े तीन क्रम चले- आमर्दक, त्रयम्बक, श्रीनाथक्रम और अर्धत्रयम्बक क्रम। श्रीकण्ठनाथ ने दुर्वासा ऋषि को शैवागम के पुनरोद्धार का आदेश दिया। दुर्वासा ऋषि ने त्रयम्बकादित्य नामक मानसिक पुत्र को अद्वैत शैवदर्शन का उपदेश दिया।

त्रयम्बकादित्य ने भी त्रयम्बक नामक मानसिक पुत्र को यह उपदेश दिया। यह मानसिक पुत्रोत्पत्ति का क्रम चौदह पीढ़ियों तक चला। पन्द्रहवें पुरुष ने सांसारिक रीति से विवाह किया जिससे संगमादित्य का जन्म हुआ।

संगमादित्य घूमते हुए काश्मीर पहुँचे तथा वहाँ का शान्त वातावरण देखकर प्रभावित हुए तथा स्थायी रूप से वहीं रहने लगे। इनका पुत्र वर्षादित्य था, उनका पुत्र अरूणादित्य और उनके पुत्र का नाम आनन्द था। आनन्द से आचार्य सोमानन्द का जन्म हुआ जो आचार्य उत्पलदेव के गुरु थे।

शैव दर्शन का साहित्यिक रूप आचार्य सोमानन्द की शिवदृष्टि से ही आरम्भ होता है। आचार्य सोमानन्द का समय नवीं शती का अंतिम भाग माना जाता है।[1] आचार्य सोमानन्द मठिका गुरु थे। काश्मीर शैव दर्शन का भव्य प्रासाद आचार्य सोमानन्द द्वारा रचित 'शिवदृष्टि' की ही नींव पर खड़ा है।

शिवदृष्टि

यह ग्रन्थ काश्मीर शैव दर्शन का मूल स्रोत माना जाता है। यह प्रकरण ग्रन्थ है।[2] शिवदृष्टि अर्थात् शिव का दर्शन कराने वाला शास्त्र। इस ग्रन्थ को त्र्यम्बा भी

---

1. शि. दृ. भू. पृ. - 5
2. (क) करोमिस्म प्रकरणं शिवदृष्ट्यभिधानकम्' शि. दृ. 7-121
   (ख) 'तदेवमेतद् विहितं मया प्रकरणं मनाक्' वही- 122

कहा जाता है।[1]

शिवदृष्टि सात आह्निकों में विभक्त है जिनमें शिवतत्त्व, उसकी शक्तियों के स्वरूप, स्वातन्त्र्य, वाक्तत्त्व, दूसरे दर्शनों का खण्डन करके शैव सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना की गई है। प्रत्यभिज्ञा तथा शैव समावेश के उपायों का वर्णन है। मोक्ष की अवस्था को विस्तार से स्पष्ट किया गया है।

शिवदृष्टि एवम् ईश्वर प्रत्यभिज्ञा का प्रतिपाद्य विषय एक ही है। उत्पल ने शिवदृष्टि पर वृत्ति लिखी है। उन्होंने शिवदृष्टि को आधार मानकर ही 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' की रचना की है। ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी के मंगलाचरण में आचार्य अभिनव गुप्त कहते हैं –

श्री त्र्यम्बकसद्वंशमध्यमुक्तामयस्थितेः।
श्री सोमानन्द नाथस्य विज्ञानप्रतिबिम्बकम्।।
अनुत्तरानन्यसाक्षिपुमर्थोपायमभ्यधात्।
ईश्वर प्रत्यभिज्ञाख्यं यः शास्त्रं यत्सुनिर्मलम्।।[2]

आचार्य उत्पल का व्यक्तित्व और कृतित्व

आचार्य उत्पल का समय नवीं शताब्दी का उत्तरार्ध या दशमी शताब्दी माना जाता है क्योंकि ये सोमानन्द के शिष्य थे। सोमानन्द का समय नवीं शताब्दी है। उत्पल ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' की रचना सोमानन्द की शिवदृष्टि को आधार मानकर ही की है।

आचार्य उत्पल के पूर्वज काश्मीर के राजा ललितादित्य के शासनकाल के समय काश्मीर में आये थे। इनका समय नवीं शताब्दी का है। उत्पलदेव का निवास स्थान श्रीनगर में था।

ऐसा भी माना जाता है कि इनका निवास स्थान 'गोतापुर', 'विचारनाग' में था। यह श्रीनगर में 'मुअरा' के आस-पास है।

उत्पल के पिता का नाम उदयाकर था तथा माता का नाम वागीश्वरी था।[3] इनके एक पुत्र भी था जिसका नाम विभ्रमाकर था।

---

1. वही - 7-121
2. ई. प्र. वि. मं.
3. जनस्यायत्न सिद्ध्यर्थमुदयाकरसूनुना।

आचार्य उत्पल देव के ग्रन्थ इस प्रकार हैं-

1. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका
2. प्रत्यभिज्ञा वृत्ति
3. प्रत्यभिज्ञा टीका
4. सिद्धित्रयी (ईश्वर सिद्धि, सम्बन्ध सिद्धि, अजडप्रमातृसिद्धि)
5. शिवदृष्टि वृत्ति
6. शिव स्त्रोतावलि

कोई भी चिन्तन प्रणाली स्वत: प्रसूत नहीं होती। उस पर अपने से पूर्व विद्यमान चिन्तनधारा का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। जहाँ तक उत्पल के दर्शन का प्रश्न है, इसका विकास एक ऐसी ऐतिहासिक प्रक्रिया से गुजरा था कि इसके ऊपर समकालीन चिन्तनधाराओं का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था। बुद्ध ने स्वयं स्वीकार किया था कि उन्होंने जिस धर्म की खोज की है, वह प्राचीन व नित्यधर्म है।[1]

उत्पल के विषय में अभिनवगुप्त कहते हैं –

"वे सोमानन्द सागर के कमल के समान हैं। उनके द्वारा संविद् की सुगन्धि के सन्दर्भ दिग्दिगंत में प्रसारित हैं। उस कमल की मकरन्द माधुरी के मधुर आस्वाद का आवेश अत्यन्त विलक्षण है। इससे उपवृहिंत नाद में एक संमोहिनी शक्ति है।[2]"

श्री सोमानन्द बोध श्रीमदुत्पलविनि:सृता।
जयन्ति संविदामोद सन्दर्भा दिक्प्रसरर्पिण: ।।
तदास्वादभरावेश बृंहितां मतिषट्ददीम्।
गुरोर्लक्षाणगुप्तस्य नाद संमोहिनीं नुम: ।।

आचार्य उत्पल जहाँ शिवभाव को प्राप्त उच्चकोटि के साधक, भक्त भी थे। दार्शनिक थे वहीं, दार्शनिक बुद्धि के साथ भक्ति रस से भरा हुआ हृदय भी उनके

ईश्वर प्रत्यभिज्ञेयमुत्पलेनोपपादिता।। ई. प्र. वि. - 4-1-18

1. प्र. द. और माया पृ. - 63
2. त. 1-10, 11

पास था। आचार्य लक्ष्मण जू के अनुसार–

''इस ग्रन्थ (शिवस्त्रोत्रावली) का आविर्भावक कोई सामान्य कवि न होकर समावेशदशाभिभूत पर विश्रान्तिसेवी अनन्य साधक है। इस ग्रन्थ में करूणा भी है, आर्त्त पुकार भी है, भक्ति भी है, उन्माद भी है, विवशता भी है, दैन्य भी है, ग्लानि भी है, अभीष्ट से शिकवा भी है, नम्रता भी है और आत्मसमर्पण भी है।[1]

आचार्य उत्पल की भाषा शैली के विषय में यह कथन उद्धृत करना सही होगा– ''उन्होंने समनिम्नोन्नत भावों की उर्वर धरा पर चिन्तन के बेलगाम अश्वों को इस सलीके से चलाया कि टापों से उद्भूत कर्ण कर्कशध्वनि नाम मात्र के लिए भी सुनने को नहीं मिली।[2]

आचार्य उत्पल के साहित्य में जहाँ दर्शन की गम्भीरता है। वहीं गेयता का गुण भी विद्यमान है। दृष्टव्य है शिव स्तोत्रावली का यह पद–

नाथ कदा स तथाविद्य
आक्रन्दो ये समुच्चरेद् वाचि।
यत्समनन्तरमे व
स्फुरति पुरस्तावकी मूर्तिः।।[3]

आचार्य अभिनवगुप्त

आचार्य अभिनवगुप्त का समय ग्यारहवीं शताब्दी का मध्यकाल माना जाता है। अभिनवगुप्त का पूरा नाम श्रीमन्महामहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तपाद है।

'अभिनव' शब्द के साथ 'गुप्त' इनके पूर्वज अत्रिगुप्त के समय से चली आ रही थी। गंगा और यमुना के मध्य क्षेत्र में जो 'अन्तर्वेद' क्षेत्र कहलाता था, अत्रिगुप्त वहीं रहते थे। कन्नौज में उस समय यशोवर्मन का शासन था।

अत्रिगुप्त अत्यन्त प्रतिभाशाली पुरुष थे। अत्रिगुप्त के लगभग दो शताब्दी बाद अभिनवगुप्त का जन्म हुआ। इनका जन्म विस्तता नदी के किनारे शीतांशु मौलिन् मन्दिर के पास भव्य आवास में हुआ था। इनके परिवार के पास जागीर भी

---

1. शि. स्रो. पृ. 7
2. वही, पृ. 6
3. शि. स्तो. पृ. 9–19

थी। अभिनवगुप्त के पिता चुखुलुक के नाम से प्रसिद्ध थे। दसवीं, ग्यारहवीं सदी का समय काश्मीर में आध्यात्मिक उन्नति का समय था। अभिनव ने अपने नाम के विषय में लिखा है–

'नन्दन्ति पितरस्तस्य नन्दन्ति च पितामहाः।
अद्य माहेश्वरो जातः सोऽस्मान् संतारयिष्यति ।।'[1]

इस श्लोक से ऐसा लगता है कि इनका जन्मनाम महेश्वर था तथा अभिनव प्रतिभा के कारण अभिनव रखा गया। इनकी माता विमलकला तथा पिता नरसिंह गुप्त थे।[2] इनके गुरु लक्ष्मणगुप्त नामक विद्वान थे।[3] आचार्य अभिनव गुप्त ने अपनी आध्यात्मिक अभिरूचि को जाग्रत करने का श्रेय शम्भुनाथ और भगवती दूती को दिया है।[4] इन आचार्य शम्भुनाथ को वे अपने ज्ञानरूपी गौरव की रक्षा करने वाला बताते हैं। अभिनवगुप्त आचार्य उत्पल का भी बहुत अधिक आदर करते थे। उत्पल को उन्होंने अपने गुरु का भी गुरु माना है।[5]

अभिनवगुप्त के माता तथा पिता की मृत्यु इनके युवा होने तक हो चुकी थी किन्तु परिवार भार को इन्होंने अकेले ही आजीवन संभाला और अविवाहित रहकर विद्या को ही जीवन समर्पित किया। इन्होंने अपने निवास का उल्लेख 'प्रवरपुर' नाम से किया है। यहीं पर रहकर उन्होंने अपनी अधिकांश रचनाएँ लिखीं। आचार्य अभिनवगुप्त की रचनाएँ इस प्रकार हैं –

1. बोधपंचदशिका
2. मालिनीविजयवार्तिक
3. परात्रिंशिका विवृत्ति
4. तन्त्रालोक

---

1. तं. - 1- 1
2. विमलकलाश्रयाभिनवसृष्टिमहा जननी
   भरिततनुश्च पञ्चमुखरूचिर्जनकः।
   तदुभयामल स्फुरतिभावाविसर्गमयं
   हृदयमनुत्तरामृतकुलं मन संस्फुरतात् ।। त. 1-1
3. तत्प्रशिष्यः करोम्येतां तत्सूत्रविवृत्तिं लघुम्।
   बुद्ध्वाभिनवगुप्तोऽहं श्रीमल्लक्ष्मणगुप्ततः ।। ई. प्र. वि. मं.
4. इति श्री सुमति प्रज्ञाचन्द्रिका शान्तमानसः।
   श्री शम्भुनाथः सद्भावं जाग्रदादौन्यरूपयत् ।। त. 10-287
5. त. 12-25

5. तन्त्रसार
6. तन्त्रवट धानिका
7. ध्वन्यालोकलोचन
8. अभिनवभारती
9. भगवद्गीतागीतार्थ संग्रह
10. परमार्थ सार
11. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी
12. ई. प्र. विमर्शिनी
13. पर्यन्तपञ्चाशिका
14. घटाकारपराकुलक विवृत्ति
15. क्रम–स्तोत्र
16. देहस्थ देवताचक्र स्तोत्र
17. भैरवस्तव
18. परमार्थोर्ध्वदेशिक
19. परमार्थचर्चा
20. महोपदेशविंशतिका
21. अनुत्तराष्टिका
22. अनुभवनिवेदन
23. रहस्यपञ्चदशिका
24. तन्त्रोच्चय
25. पुरुवाविचार
26. क्रमकेलि
27. शिवदृश्यावलोकन
28. पूर्वपञ्चिका
29. पदार्थप्रवेशनिर्णयटीका
30. प्रकीर्णकविवरण
31. प्रकरणविवरण
32. काव्य कौतुक विवरण
33. कथामुखतिलक
34. लध्वीप्रक्रिया
35. भेदवादविवरण
36. देवीस्तोत्रविवरण
37. तत्त्वाध्वाप्रकाशिका
38. शिवशक्यत्यविनाभाव स्तोत्र
39. बिम्ब–प्रति बिम्बवाद
40. अनुत्तराष्टक

इन सबमें प्रधान कृति तन्त्रालोक है जिसमें शैव दर्शन के सभी प्रमुख सिद्धान्तों का विस्तार से वर्णन है।

आचार्य अभिनव गुप्त की विमर्शिनी टीका

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा नामक कारिकामय ग्रन्थ का अपने गुरवर श्री सोमानन्द द्वारा निर्मित शिवदृष्टि नामक ग्रन्थ की गम्भीरता देखकर श्री उत्पलदेव ने प्रणयन किया था। श्री उत्पलदेव विरचित कारिकामय ईश्वरप्रत्यभिज्ञा नामक ग्रन्थ शिवदृष्टि ग्रन्थ

के प्रतिबिम्ब के समान है। अतः स्वाभाविक रूप से ही यह ग्रन्थ भी अत्यन्त दुरुह बना, ऐसा स्वयं उत्पल देव ने भी माना। इसीलिए 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ग्रन्थ का निर्माण करके स्वयं ने ही उस पर वृत्ति (लघु वृत्ति) और विवृत्ति (माध्यमिक व्याख्यान) भी लिखी।

आचार्य उत्पल देव प्रत्यभिज्ञा दर्शन के उद्‌भट विद्वान् थे अतः उनकी दार्शनिक रचना 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' कारिका ग्रन्थ भी महद् उच्चकोटि की है। विचार एवं भाषा की दृष्टि से स्वयं आचार्य ने अपने इस ग्रन्थ को अतिशय दुर्बोधगम्य समझा है इसीलिये इस ग्रन्थ को बोधगम्य बनाने हेतु स्वयमाचार्य ने ग्रन्थ का दो बार व्याख्यान किया, प्रथम ग्रन्थ पर लघुवृत्ति लिखी, किन्तु इस लघुवृत्ति से भी ग्रन्थ की दुरुहता में कोई कमी नहीं हुई तो ग्रन्थ की पुनः विवृत्ति (विशेष व्याख्या) लिखकर आचार्य ने स्वसम्प्रदाय के विद्वानों के लिये बोधगम्य अवश्य किया तथापि यह ग्रन्थ केवल विशिष्ट अधिकारी विद्वानों के लिये ही उपयोगी बन सका। प्रत्यभिज्ञा दर्शन की सूक्ष्मता (सूक्ष्म कोटियाँ) जब तक नहीं समझेंगे तब तक इस दर्शन का कोई महत्त्व नहीं होगा। ऐसा ही चिन्तन करके आचार्य अभिनव गुप्त ने 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' ग्रन्थ पर विमर्शिनी नामक टीका लिखी।

इस टीका का नामकरण ही यह स्पष्ट करता है कि आचार्य अभिनव गुप्त वृत्ति, विवृत्ति नामक दोनों टीकाओं और मूलग्रन्थ प्रत्यभिज्ञा कारिका की विलष्टता स्वीकार कर उन्हें बोधगम्य बनाने के लिये ही मूलग्रन्थ पर प्रौढ़ टीका लिखी है। तर्क का ही विमर्शन पर्याय है। प्रत्यभिज्ञा को प्रमिति का विषय बनाने वाली ज़ो विमर्शिनी, वह विमर्शिनी प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी है। अस्तु इस नामकरण से आचार्य अभिनव गुप्त को इस टीका को लिखने का आशय स्पष्ट होता है कि प्रत्यभिज्ञा कारिका को भली भाँति आत्मसात् करने योग्य व्याख्यान होना चाहिए इसीलिये आचार्य ने प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी को लिखा है।

प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी का वैशिष्ट्य : ऊपर कहा जा चुका है कि – आचार्य उत्पल देव विरचित प्रत्यभिज्ञा कारिका पर स्वयमाचार्य ने दो टीकाएँ लिखी हैं अस्तु उस पर विमर्शिनी लिखने का कोई औचित्य नहीं प्रतीत होता। इस प्रश्न का समाधान भी यह कह कर किया है कि आचार्यकृत दोनों टीकाएँ बड़ी गूढार्थ लिये हुए हैं अतः प्रायः वे दोनों टीकाएँ मूलग्रन्थ के समान है विद्वानों के लिये भी

अतिदुरुह हैं। अस्तु - ग्रन्थ का हार्द-प्रकाशन करने योग्य टीका की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता को महामाहेश्वर आचार्य अभिनव गुप्त ने प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी लिखकर पूर्ण किया है। अत: यह कहा जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी का लेखन कोई पिष्टपेषण जैसा काम नहीं है।

विमर्शिनी टीकाकार ने विमर्शिनी के अतिरिक्त 'बृहत्प्रत्यभिज्ञाख्या' अत्यधिक विस्तृत अपर टीका भी मूलग्रन्थ पर लिखी थी। अत: प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी का क्या औचित्य है ? 'बृहत्-प्रत्यभिज्ञा' यह टीका तो मूल ग्रन्थ के समान एक स्वतन्त्र ग्रन्थ रूप ही है। इसकी दुरुहता भी प्रत्यभिज्ञा कारिका के समान विद्वान समाज में प्रसिद्ध है। हालाँकि इस विस्तृत व्याख्या में कारिकोक्त समस्त विषयों को बहुत विस्तार से बहुत भलिभाँति प्रतिपादित किया हुआ है तथापि यह व्याख्या विषय (प्रतिपाद्य विषय) की गम्भीरता के कारण स्वयं ही स्वाभाविक रूप से गम्भीर बन गई। यह दर्शन के मर्मज्ञ में प्रवेश के इच्छुकों के लिये सर्वथा दुरुह होने से उपयोगी नहीं है। अस्तु विद्वज्जनोपयोगी इस टीका को लिखने के बाद भी साधारणजनोपकारार्थ प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी को लिखना आवश्यक था।

प्रत्यभिज्ञा कारिका सूत्रों पर लिखी गई यह विमर्शिनी टीका विषय को बोधगम्य बनाती हुई न केवल प्रत्यभिज्ञा के पद पदार्थों को स्पष्ट करती है अपितु यथार्थत: उन्हें आत्मसात् करवाने में पूर्णतया समर्थ है।

प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी बड़ी स्फीत टीका है।[1] आचार्य अभिनव गुप्त की यह टीका संक्षिप्त तथा सर्वाङ्गीण है। संक्षेप में कारिकाओं के अर्थ को दार्शनिक पद्धति से समग्र रूप में उपस्थापित करती है। व्याख्येय के एक-एक व्याख्यातव्य पद का व्याख्यान करती है।

हालाँकि आज तो यह विमर्शिनी भी बहुत दुर्बोध टीका है इसीलिये इस टीका की भी टीका करने हेतु आचार्य भास्कर कण्ठ प्रवृत्त हुए अपनी टीका के प्रारम्भ में स्वयं भास्कराचार्य टीका लिखने का कारण लिखते हैं कि "अद्य तु तत्रापि दुर्बोधत्वं दृष्ट्वा श्रीभगवता शिष्यबुद्धिमाविश्य प्रेरित: स्वत: सिद्ध श्रीमद् राजानक

---

1. "तत्र च सर्वजनहितार्थ श्रीमताभिनवगुप्ताचार्येण वृहत्तप्रत्यभिख्या बहुविस्तरा टीका कृता। तदविचारणे जनमशक्तं ज्ञात्वा तेनैव प्रत्यज्ञिकारिका सूत्रेषु संग्रह विमर्शिनीति टीका कृता।" भास्करी : पृ. सं. 3

वैडूर्यकण्ठात्मज श्रीमदवतार कण्ठपुत्रो भास्करकष्ठोऽहं दशसहस्त्रोत्तरलक्षसंख्याक-श्रीमोक्षोपाय-टीकाकरणेन कृतत्तदवगाहन स्कन्ध संवाहनः स्वपितुः परम्परागतमुपदेशं श्रुत्वा श्रीकौलनरोत्तमेभ्यश्च विद्योपदेशमासाद्य तद्व्याख्यायां प्रवृत्तः।''

आचार्य भास्कर कण्ठ के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि आचार्य अभिनव गुप्त की प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी टीका बहुत असाधारण टीका है - ''इस टीका की गम्भीरता और उपादेयता का विचार करके ही मैं इस विमर्शिनी-विमर्शपरा टीका की भगवत्प्रेरणा से कर रहा हूँ। इस विमर्शिनी टीका पर कुछ लिख पाना मेरे लिये तभी सम्भव हो सका है जबकि मैंने परम्परया तत्त्वोपदेश सुना ग्रहण किया है कौलतन्त्र के आचार्यों से विद्योपदेश ग्रहण करके ही मैं इस विमर्शिनी की व्याख्या लिखने में प्रवृत्त हुआ हूँ।'' ऐसा कहकर श्रीभास्करकण्ठ अपनी भास्करी की प्रामाणिकता का कथन और विमर्शिनी की प्रौढ़ता के साथ-साथ परम प्रामाणिकता को बता रहे हैं। उपर्युक्त भास्करी टीका अंश से यह तथ्य भी स्फुरित होता है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन के प्रौढ़ज्ञान जिज्ञासुओं के लिये विमर्शिनी का अध्ययन आवश्यक है।

इस विमर्शिनी टीका का अन्य वैशिष्ट्य यह है कि टीकाकार ने प्रत्यभिज्ञा सूत्रों की व्याख्या करते हुए तान्त्रिक परम्पराओं के पारस्परिक विरोध का उल्लेख किये बिना उन सब का समुचित समन्वय किया है। समस्त तान्त्रिक परम्पराओं में दो बातें साधारणतया एक समान हैं। यथा -

1. चेतना को ज्ञानरूप और क्रियावान् माना जाना
2. प्रवृत्ति निवृत्ति मार्गों का परस्पर अविरोध कहना

इन सर्व सम्मत अवधारणाओं के आश्रय से आचार्य ने व्याख्यातव्य ग्रन्थ की व्याख्या करते हुए स्वमत का प्रतिपादन किया है। शिवशक्ति रूप तत्त्व द्वय की एकात्मता को स्थापित करना प्रत्यभिज्ञा दर्शन का मूल है । शिव अथवा शक्ति एक ही सत्ता को संज्ञा भेद से बताते हैं।

श्री सोमानन्द का शिवदृष्टि ग्रन्थ प्रत्यभिज्ञा दर्शन के स्वरूप को बताने वाला है। उत्पल देव की ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका में शिवदृष्टि के विचारों की सम्पुष्ट्यर्थ तात्त्विक व्याख्यान हुआ है। इस में शिव (ईश्वर) निष्क्रिय अथवा केवल ज्ञान स्वरूप मात्र नहीं है। वह शिव क्रियारूप भी है। परम चैतन्य जिस चेतनारूप धर्म

वाला है वही उसका चैतन्य धर्म शक्ति कहा गया है। जैसा कि निराभासात् पूर्णाद् 'अहम्' इति यहाँ पर निराभास स्वरूप से पूर्व में प्रकाशमान जो अहम् = देह प्रमातृ आदि विषय परिमित एवं भासित है। वह परम शिव शुद्ध प्रकाश रूप है। अर्थात् जो अवस्था दिक् कालादि द्वारा ग्रहण नहीं होने वाला चिदालोक शरीर वाला शिव है उसका सदा उस प्रकार का स्वात्मानुभवितृता द्वारा जो निरूपम चमत्कार से सरस हुआ निज धर्म वही शक्ति सम्बन्धी परम तत्त्व स्पन्द कहा जाता है। शिव में अन्तर्निहित शक्ति सम्बन्ध से कहा जाने वाला तत्त्व ही परम है क्योंकि इन दोनों का सदा ही ऐक्य रहता है। किसी निमित्त से कदाचिद् ही ऐक्य होता है ऐसा नहीं समझना चाहिए। एक मात्र तत्त्व वह परम शिव है, वही चित्त है उसी से समस्त चिन्मय पदार्थों का प्रादुर्भाव है और उनका उसी चिन्मय परम शिव में विलय है। समग्र सृष्टि उसी का उन्मेष-उन्मीलन मात्र है। यह सब प्रत्यभिज्ञा की विमर्शिनी में साधुतया मंगलाचरण पद्य में स्पष्ट किया गया है।

विमर्शिनी भाषा और भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से बहुत प्रौढ़ टीका है तथापि तत्त्व व्याख्यान की शैली सरलता वाली है। भाष्य की शैली में आचार्य ने इसे लिखा है।

उत्पलदेव की ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका का प्रथम पद्य का ''कथञ्चिदासाद्य.'' व्याख्यान देखें तो स्पष्ट होता है कि टीकाकार की व्याख्यान शैली वैज्ञानिक है, सम्भवत: विमर्शिनी नामकरण भी इस तथ्य को स्पष्ट करने हेतु किया गया है।

कथाञ्चिदासाद्य. कारिका की व्याख्या करने से पूर्व उसकी अवतरणिका के प्रयोजनादि रूप अनुबन्धों को स्पष्ट कर देते हैं। जैसे-

ग्रन्थ का विषय तो है	:	प्रत्यभिज्ञा तत्त्व का उपपादन
ग्रन्थ का प्रयोजन है	:	परमेश्वर से तादात्म्य की योग्यता प्राप्त करने वाली प्राणियों का परमार्थचतुष्टय प्राप्ति (जनोपकार)
ग्रन्थ का अधिकारी	:	स्वोपकार की इच्छा वाला मनुष्य, अपरोक्ष आत्मदृष्ट शक्ति वाला
ग्रन्थ का विषय से सम्बन्ध	:	प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव

आगे इस प्रथम मङ्गलाचरण निमित्त पठित कारिका की व्याख्या विमर्शिनी लिखते समय आचार्य ने यह समझाया है कि कोई यह न समझे कि यहाँ नमस्कार ही नहीं किया गया है अत: यहाँ आस्तिक बुद्धि कैसे होगी, आदि को मन में रखकर ''इह:'' प्रकृतकारिका में परमेश्वर के प्रति प्रह्वीभाव (विनम्रता भाव) ही नमस्कार है। वही नमस्कार्य के प्रति स्वयं को नम्र करना मात्र है।

यही 'तदेकविषयतानियोजना लक्षणा प्रह्वता' ऐसा कहकर यह यहाँ स्पष्ट प्रकट किया गया है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के प्रत्येक विषय का स्फीत रूप में अध्येता को बोध हो एतदर्थ लिखी गई इस विमर्शिनी के अध्येता को बोध हो एतदर्थ लिखी गई इस विमर्शिनी के कुछ स्थल जो कि इसके वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करने वाले हैं उद्धृत कर स्थाली- पुलाक न्यायेन इस टीका का वैशिष्ट्य दिखाया गया है।

मूलकारिकाओं की दुरुहता को इस टीका ने बहुत कुछ कम कर दिया है जैसा कि अधिकारी के प्रसङ्ग में प्रथम कारिका में जनशब्द का प्रयोग किया गया है यहाँ प्रयुक्त जन शब्द की व्याख्या अर्थात् उसका आशय स्पष्ट किया गया है। प्रमाणिकस्य. ऐसा कहकर। और प्रामाणिक कौन है ? इस पर कहा है- 'परमेश्वर तादात्म्य योग्यतापादन बुद्धिः' अर्थात् परमेश्वर से जो तादात्म्य है वही अहं चित्त स्फुरण इसके विषय में होने वाली जो योग्यता उस योग्यता के अर्जन के अनुकूल जो बुद्धि उस बुद्धि वाला ही जन अधिकारी है ऐसे ही पुरुष को जन कहा गया है। शेष मनुष्यों की तो पशु संज्ञा है। जैसा कि ''मायीयाशुद्ध विद्यारागकला संचार्यमाणस्य पशुत्वम'' यहाँ माया पदार्थवादी वैष्णवादि वे सब किञ्चिज्ज्ञ कुछ ज्ञान लेने भर वाले अल्पज्ञ लोगों अल्प ज्ञानरूपा अशुद्ध विद्या राग रञ्जित स्वभाव वालों को पशु पद वाच्य कहा है।

सासांरिक लोग अज्ञान वश परमेश्वर से भिन्न क्षणिक देवताओं को भी स्वेष्ट लाभ लोभ से नमस्कार करते हैं धनादि के कारण राजा व तत्सदृशों को नमन करते हैं। यह सब उनका कृत्य अज्ञान जन्य है। वे परम तत्त्व समस्त तत्त्वों से परे देव शिव को नहीं जानते हैं क्योंकि वे मिथ्याज्ञान रूषित अन्त: करण वाले हैं। अत: इनको पशु संज्ञा से अभिहित किया है।

उक्त विमर्शिनी के भावों को आचार्य भास्कर ने भी भली भाँति स्पष्ट किया है। आचार्य भास्कर ने इस विमर्शिनी के विषय में ''तत्र सर्वजन हितार्थ

श्रीमताऽभिनवगुप्ताचार्येण.... प्रत्यभिज्ञा कारिका सूत्रेषु संग्रहमयी विमर्शिनीति प्रसिद्धा टीका कृता इस प्रकार प्रशंसा करते हुए लिखा है। इस टीका को सर्वजनहितकारिणी और संग्रहमयी कहा है। 'सर्वजनहितार्थ' इस पद का प्रयोग करके यह स्पष्ट किया गया है कि यह दार्शनिक पदार्थों का विवेचन करने वाली तत्काल तक उपलब्ध व्याख्याओं में सर्वाधिक सरल टीका है। संग्रहमयी विशेष लगाकर यह स्पष्ट किया गया है कि इस टीका में दर्शन के समस्त पदार्थों का ऊहापोह के साथ सम्पूर्ण विवेचन हुआ है। सम्बन्धित दर्शन का कोई भी विषय छूटा नहीं है। अस्तु यह इस दर्शन की भाष्य स्थानीया है।

यह विमर्शिनी व्याख्या कारिकास्थ गूढार्थ प्रकाशन में साक्षात् अध्यापन करने वाले गुरु के समान है।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका तथा विमर्शिनी का काश्मीर शैव साहित्य में विशिष्ट स्थान है। काश्मीर शैव दर्शन के साहित्य सागर की धारा प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका अपने अर्थ गाम्भीर्य के लिए प्रसिद्ध है। आचार्य सोमानन्द का महान् ग्रन्थ शिवदृष्टि इस धारा के विद्वानों का मूल आधार ग्रन्थ रहा। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका ग्रन्थ में शिवदृष्टि में प्रतिपादित विषयों को ही विश्लेषणात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किया है और अभिनवगुप्त की व्याख्याएँ इसे समझने हेतु अत्यावश्यक हैं। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका यद्यपि अपने आपमें सम्पूर्ण ग्रन्थ है किन्तु विमर्शिनी व्याख्या इसे स्पष्ट करती हुई साधारण बुद्धि वाले जिज्ञासुओं को भी कारिकाग्रन्थ को समझने में सहायता करती है। आगे पाँच अध्यायों में कारिका एवम् विमर्शिनी को साथ लेकर कहीं ग्रन्थ में वर्णित विषयानुसार काश्मीर शैव दर्शन के सभी प्रमुख सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन किया गया है। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा एक संक्षिप्त किन्तु गम्भीर विवेचन से पूर्ण ग्रन्थ है जो 'गागर में सागर' की कहावत को चरितार्थ करता है जिससे विषय को सम्यकतया समझा जा सके।



द्वितीय अध्याय

ज्ञान-शक्ति निरूपण

आचार्य उत्पल ने 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिका' की रचना महेश्वर की दासता स्वयं प्राप्त कर सकें और दूसरों को भी करवा सकें, इस उद्देश्य से की है।[1] आत्मज्ञान की प्राप्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है जो कि 'प्रत्यभिज्ञा' स्वरूप है। प्रत्यभिज्ञा है स्वयं को शिव रूप में पहचान लेना। इसमें शिव की ज्ञान शक्ति ही कारण बनती है। इसी कारण से उत्पल सर्वप्रथम ज्ञानाधिकार में आठ आह्निकों में ज्ञान शक्ति का निरूपण करते हैं। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका का आधे से अधिक भाग इसी ज्ञान शक्ति का निरूपण करता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि उत्पल ज्ञान-शक्ति को अत्यधिक महत्त्व देते हैं।

प्रस्तुत अध्याय ''ज्ञान शक्ति निरूपण'' में सर्वप्रथम ज्ञानशक्ति की परिभाषा पर विचार किया जायेगा। सामान्यतया ज्ञान जानने के अर्थ में प्रयुक्त होता है किन्तु शैव दार्शनिक इसे परम शिव की शक्ति मानते हैं। ज्ञान स्वत: प्रकाशित है इसे सिद्धि के लिए किसी और साधन की आवश्यकता नहीं है। मिथ्या ज्ञान कोई अलग वस्तु नहीं है, यह भी परम शिव का ही रूप है। शिव तत्त्व का ज्ञान ही परम लक्ष्य है, यही पूर्णख्याति है। ज्ञान का प्रयोजन स्वयं में शिव को जानना और जानकर अन्य लोगों को भी दु:खों से मुक्ति दिलाना है। ज्ञान बोध रूप है। विश्व का प्रत्येक प्राणी ज्ञान का अधिकारी है। वहाँ कोई जाति, लिङ्ग, वर्ण आदि का भेद नहीं है। इच्छा-ज्ञान व क्रिया तीनों शिव की ही शक्तियाँ है, अत: पारमार्थिक रूप से इनमें भेद नहीं है। पाश्चात्य दार्शनिक ज्ञान को बुद्धि से जोड़ते हैं, वहीं शैव दर्शन इसे परम शिव की शक्ति मानता है। इस प्रकार ज्ञान शक्ति का विस्तार से हम इस अध्याय में विवेचन करेंगे।

---

1. कथंचिदासाद्य महेश्वरस्य दास्यं जनस्युपकारमिच्छन्।
   समस्तसंपत्समवाप्तिहेतुं तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि।।

   ई. प्र. का. 1-1

(I) ज्ञान शक्ति

परिचय : ज्ञान शब्द से हम सामान्यतया यह समझते हैं कि हमारी जानने, समझने की जो शक्ति हैं, वह ज्ञान है। यह उपलब्धिसूचक अर्थ में अधिक प्रयुक्त होता है जैसे – मुझे घट का अथवा पट का ज्ञान हुआ।

व्युत्पत्ति के आधार पर 'ज्ञानम्' शब्द 'ज्ञा' धातु में ल्युट् प्रत्यय लगाकर बनता है जिसका अर्थ है– जानना अथवा परिचित होना।

किन्तु यह ज्ञान का सामान्य अर्थ है। दर्शनशास्त्र में ज्ञान को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान मिला हुआ है। यहाँ पर ज्ञान सामान्यदृष्ट, अनुभूत ज्ञान नहीं है, वरन् धर्म तथा दर्शन के उच्चस्तरीय मनन से उत्पन्न ज्ञान है जो आत्मसाक्षात्कार व परमात्मा से मिलन का अनुभव है। ज्ञान ही मोक्ष की धुरी है तथा मोक्ष का स्वरूप भी है। शैव दर्शन में ज्ञान को परम शिव की शक्ति माना गया है। परम शिव की तीन मुख्य शक्तियाँ हैं – इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया। समस्त जगत का प्रकाशन ज्ञान शक्ति से होता है, ऐसा शैव दार्शनिक मानते हैं।[1]

(II) ज्ञान की सिद्धि

ज्ञान स्वत: प्रकाशित है : ज्ञान के विषय में कोई भी विचार करने से पहले यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यहाँ ज्ञान को शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ज्ञाता शिव की ज्ञान शक्ति है। शिव का साक्षात्कार ही ज्ञान प्राप्ति है। शैव मतानुसार ज्ञान स्वत: सिद्ध है।

प्रमाणों की निरर्थकता : ज्ञान के लिए किसी और प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान शिवरूप एवं अनवच्छिन्न प्रकाश वाला है।[2]

तत्र ज्ञानं स्वत: सिद्धम् क्रिया कायाश्रिता सती।
परैरप्युपलक्षेत तयान्यज्ञानमूह्यते ।।[3]

---

1. भेदेऽवभासमाने ज्ञाता ज्ञेयं च भासते हि यया।
सा ज्ञानशक्तिरस्याख्याता शास्त्रेषु अनन्तवैचित्र्या।।

स्वा. द. 3-31

2. 'अनवच्छिन्न प्रकाशस्य प्रमाणव्यापारोपाधेय प्रकाशात्मकसिद्धयनुपयोग एव।'

ई. प्र. वि. 1-1-2

3. ई. प्र. का. 1-1-5

ज्ञान के प्रकाश से तो अन्य पदार्थों का प्रकाश होता है और स्वयं ज्ञान का भी प्रकाश होता है। कहा भी गया है कि जानने वाले को किससे जाना जा सकता है। आचार्य उत्पल कहते हैं–

कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे।
अजड़ात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः ।।[1]

जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है तथा स्वयं भी प्रकाशित होता है, वैसे ही ज्ञान भी स्वयं को स्वयं प्रकाशित करता है।[2]

ज्ञान शिव से अभिन्न है: परम शिव भी स्वप्रकाश रूप ही है।[3] जिस प्रकार स्वतः प्रकाशित सूर्य के लिए लालटेन की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञान शिव से भिन्न नहीं है, अतः उसके लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती।

स्वयं शिव ही स्वयं को ज्ञात करते हैं : परम शिव स्वयं ही अपने स्वरूप को छिपाते हैं और स्वयं ही ज्ञात करवाते हैं। स्वयं ही अपने रूप को स्वयं के लिए प्रकाशित करते हैं। शिव से भिन्न कुछ भी नहीं है –

अस्माकं तु स्वप्रकाशशिवतामात्रवादिनाम्।
अन्यं प्रति चकास्तीति वच एव न विद्यते।।[4]

ज्ञान स्वतः वेद्य है : जो वस्तु प्रकाशित होती है, वही वेद्य हो सकती है। वस्तु वेद्य है, इसलिए प्रकाशित है, ऐसा नहीं कहा जाता बल्कि अवेद्य का तो प्रकाशन ही संभव नहीं है इसलिए ज्ञान प्रकाशित है तथा स्वतः वेद्य है–

भातत्वाद्वेद्यमपि तन्न वेधत्वेनभासनात्।[5]

ज्ञान कभी मेय नहीं हो सकता क्योंकि वह शिवरूप ही है। मेय वह होता है जो

---

1. (क) विज्ञातारमरे केन विजानीयात्, वृ. 2-5-19 उद्धृत ई. प्र. वि. 1-1-5
   (ख) ई. प्र. – 1-1-2
2. विषय प्रकाशेन सह ज्ञानमपि स्वत एव विषयविलक्षणतया प्रकाशते। त्रि. द., पृ. 7
3. तस्मात्प्रकाश एवायं पूर्वोक्तः परमः शिवः।
   यथा यथा प्रकाशेत तत्तद्भाववपुः स्फुटम्।।
   त. 10-55, 56
4. त. – 10-62
5. त. – 10-96

परप्रकाश्य होता है तथा जिसकी प्रकाशता दूसरे के अधीन होती है। ज्ञान को प्रकाशन के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है।

यदि ज्ञान की स्वप्रकाशता को नहीं माना जायेगा तो समस्त विश्व को सुप्त मानना पड़ेगा। प्रकाशन के बिना तो इसको जाना ही नहीं जा सकता।

अप्रकाश से भी प्रकाशन संभव नहीं है बल्कि शिव के प्रकाश से ही विश्व प्रकाशित होता है। वह आदि सिद्ध परमेश्वर ही सबको प्रकाशित करता है। शिव के लिए अन्य किसी साधक प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि वह स्वयं सारे प्रमाणों का आधार है। यदि शिव की स्वप्रकाशता को नहीं माना जायेगा तो अनवस्था होगी तथा विश्व सूप्तावस्था को त्याग ही नहीं पायेगा। प्रकाश कभी अनधिगत होता ही नहीं अतः उसके लिए प्रमाणों की आवश्यकता ही नहीं है।[1] कहा भी गया है–

प्रकाशो नाम यच्चायं सर्वत्रैव प्रकाशते।
अनपह्नवनीयत्वात्किं तस्मिन्नमानकल्पनैः।।
प्रमाणान्यपि वस्तूनां जीवितं यानि तन्वते।
तेषामपि परो जीवः स एव परमेश्वरः।।[2]

यदि शिव का स्वप्रकाशत्व नहीं माना जायेगा तो उपदेश्योपदेष्टा भाव का व्यवहार संभव नहीं हो सकेगा इसलिए शिव का वेद्यत्व मानना आवश्यक है।[3]

---

1. स्वप्रकाशेऽत्र कस्मिंश्चिदनभ्युपगते सति।
   अप्रकाशात्प्रकाशत्वे ह्यनवस्था दुरुत्तरा।
   ततश्च सुप्तं विश्वं स्यान्न चैव भासते हि तत्।।
   अन्याधीन प्रकाशं हि तद्भात्यन्यस्त्वसौ शिवः।
   इत्यस्य स्वप्रकाशत्वे किमन्यैर्युक्तिडम्बरैः।।
   मानानां हि परो जीवः स एवेत्युक्तमादितः।
   त. 10–114, 116
2. (क) त. 1–54, 55
   (ख) 'आदिसिद्धे' इति, अविच्छिन्नप्रकाशे इत्यर्थः। ई. प्र. वि. 1–1–2
3. नन्वस्ति स्वप्रकाशेऽपि शिवे वेद्यत्वमीदृशः।
   उपदेशोपदेष्टृत्व व्यवहारोऽन्यथा कथम्।
   त. 10–117

परम शिव की सिद्धि में प्रमाणों की निरर्थकता इसलिए भी सिद्ध होती है क्योंकि प्रमाण अज्ञातार्थ का प्रकाशक होता है।[1] प्रकाश शाश्वत प्रकाशमान है। इसको छिपाया नहीं जा सकता अत: प्रकाश के विषय में प्रमाण निरर्थक हैं। प्रमाण वस्तु मात्र के जीवन का विस्तार करते हैं। स्वप्रकाश रूप परमेश्वर उनसे परे हैं।[2]

(III) मिथ्या ज्ञान भी ज्ञान ही है

शैव दार्शनिकों की यह मान्यता है कि शिव से भिन्न कुछ भी नहीं है इसलिए जो मिथ्या ज्ञान है या विकल्प कहा जाता है, वह भी ज्ञान ही है क्योंकि शिव से वह अभिन्न है-

सर्वेभावेषु चिद्व्यक्तेः स्थितैव परमार्थता।
मिथ्याज्ञाश्रविकल्पानां सत्वं चिद्व्यक्तिशक्तता।।
विद्यते तत्तदत्रापि शिवत्वं केन वार्यते।
इति वेदेषु सत्यत्वं स्थितमेव चिदुद्गमात्।।[3]

व्यवहार जगत् में भेद है, वास्तव में नहीं : मिथ्या ज्ञान और यथार्थ ज्ञान का भेद व्यवहार जगत् में मानना उचित है किन्तु यह सत्य नहीं है। व्यवहार जगत का सत्य परम सत्य नहीं होता।

इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है राजा के आदेश पर कागज के नोट से भी व्यवहारजगत् में रुपये का काम चलता है जबकि नोट रूपये के मूल्य की वस्तु वास्तव में नहीं है। इसी प्रकार व्यवहार जगत् में भेद शिव की इच्छा से ही दिखाई देता है।[4]

व्यवहार जगत् को पारमार्थिक भी नहीं मान सकते क्योंकि इससे अनवस्था

---

1. 'अनधिगत विषयं प्रमाणमज्ञातार्थप्रकाशो वा' उ. त. 1-55
2. प्रमाणान्यपि वस्तूनां जीवितं यानि तन्वते।
   तेषामपि परोजीवः स एव परमेश्वरः।। त. 1-1-55
3. शि. दृ. 4-7,8
4. तथा शिवोदयादेव भेदो मिथ्यादिकः कथम्।
   व्यवहाराय सत्यत्वं न च वा व्यवहारगम।।
   तथा च देशे कश्चन राजाज्ञा जायते यथा।
   व्यवहारोऽस्तु दीनारैरेतैरव्यवहारगैः।। शि. दृ. 4-9,10

फैली जायेगी। सब जगह सत्यता माननी पड़ेगी तथा बिम्ब को मिथ्या मानने के सिद्धान्त का व्याघात हो जायेगा।

व्यवहार जगत् के पदार्थ व्यवहार जगत् में अर्थ क्रिया में समर्थ हैं अतः उस दृष्टि से सत्य हैं।[1]

(IV) शिव तत्त्व का ज्ञान (पूर्ण ख्याति) है

भारतीय दर्शन परम्परा में सत् ख्याति, असत् ख्याति, आत्म ख्याति, अन्यथा ख्याति, अख्याति, विपरीत ख्याति आदि अनेक शब्द ज्ञान तथा भ्रम के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं।

प्रत्यक्ष के अन्तर्गत ही भारतीय दार्शनिक भ्रम या भ्रान्त ज्ञान की व्याख्या करते हैं। शक्ति में रजत की, रज्जु में सर्प की और नेत्रों को दबाने पर दो चन्द्रमाओं की प्रतीति भ्रान्ति ज्ञान के उदाहरण हैं। पित्त से पीड़ित व्यक्ति को सभी वस्तुएँ पीली दिखाई देती हैं, यह भी भ्रान्त ज्ञान है।

ख्याति पञ्चक : सभी दर्शन भ्रम की अपने-अपने तरीके से व्याख्या करते हैं। वस्तुवादी दार्शनिक असत्य का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता यह कहते हैं। दूसरी तरफ प्रत्ययवादी दार्शनिक यह मानते हैं कि आभास का भी प्रत्यक्ष हो सकता है। अर्थात् किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होना ही उसे सत्य सिद्ध नहीं करता। प्रमुख ख्याति सिद्धान्त इस प्रकार हैं-

1. **अन्यथाख्यातिवाद :** न्याय वैशेषिक के भ्रम सिद्धान्त को अन्यथा ख्यातिवाद कहा जाता है। इनके अनुसार 'रज्जू-सर्प' में जो सर्प है, उसका अन्यत्र कहीं (अन्यथा) अस्तित्व होता है। रज्जू में उसका ज्ञान लक्षण-प्रत्यक्ष के कारण होता है। अतः यह सर्प ज्ञान अन्य स्थान पर स्थित सर्प का ज्ञान है। इसीलिए यह सिद्धान्त अन्यथाख्यातिवाद कहलाता है।
2. **सत्ख्यातिवाद :** रामानुज के अनुसार भ्रम में होने वाले सर्प का ज्ञान वास्तविक है, इसलिए यह सिद्धान्त सत्ख्यातिवाद कहा जाता है।
3. **विवेकाख्याति :** मीमांसकों के अनुसार भ्रम दो अलग-अलग ज्ञान

---

1. अर्थ क्रिया समर्थत्वमेददेवास्य वास्तवम्। वहीं-21

विषयों में भेद न समझने के कारण है। 'रज्जू-सर्प' ज्ञान में सर्प ज्ञान स्मृति के कारण है तथा रज्जूज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। जब इसी को सत्य मान लिया जाता है तो यह अख्याति तथा सर्प रज्जू के भेद को न समझना विवेकाख्याति है।

4. **आत्मख्याति :** विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार 'रज्जू-सर्प' भ्रम में मन में स्थित विज्ञान ही बाहर प्रक्षेपित कर जाने जाते हैं।
5. **अनिर्वचनीय ख्याति :** अद्वैत वेदान्त के अनुसार भ्रम रूप सर्प सत्य नहीं है, फिर भी प्रतीत होता है, इसलिए असत्य भी नहीं है। वह सदसद् अनिर्वचनीय है।[1]

काश्मीर शैव दर्शन की मान्यता : शैव दर्शन के अनुसार वस्तुवादी दार्शनिक भ्रम का यथार्थ से तादात्म्य कर लेते हैं जो कि सही नहीं है।

अपूर्ण ख्याति : भ्रम में जो सर्प हमने देखा वह हमारी कल्पना की रचना है। भ्रम वस्तु को पूर्णतया मिथ्या नहीं कह सकते क्योंकि यह पूर्णतया अनस्तित्ववान नहीं होती वरन् यह चेतना की वास्तविक चैतसिक दृष्टि अथवा आत्म प्रक्षेपण है। यह भ्रम अपूर्ण ख्याति है।

पूर्ण ख्याति : पूर्ण ख्याति या परम ज्ञान शिवतत्त्व का ज्ञान करना है। यह मोक्ष की अवस्था होती है। शेष अवस्थाएँ अपूर्ण ज्ञान की अवस्थाएँ होती हैं। ज्ञान का अभाव कभी नहीं होता केवल ज्ञान का आवरण या अपूर्णता होती है।

"मैं जानता हूँ" मेरे द्वारा जाना गया, इस प्रकार यह ज्ञान अहम् परामर्श से युक्त होता है।[2] प्रकाश के अभाव[3] के कारण ही व्यक्ति नहीं जान पाता कि वह कौन है? अज्ञान क्या है? आदि। जब ज्ञान प्रकाशित होता है तब विभिन्न प्रकार के ज्ञान होते हैं- यह घट है, यह पट है, आदि।

ज्ञान तो सूर्य की रश्मियों के समान है जो स्वयं भी प्रकाशित होता है और

---

1. भारतीय दर्शन - डॉ. नन्दकिशोर देवराज, पृ. 658, 659
2. अहम् जानामि, मया ज्ञातं ज्ञास्यते च इत्येवं प्रकाशाहं परामर्श परिनिष्ठितमेव इदं ज्ञानंनाम,
   ई. प्र. वि. 1-1-5
3. यहाँ 'अभाव' से तात्पर्य 'आवरण' है।

अन्य समस्त जगत को भी प्रकाशित करता है। यदि ज्ञान स्वत: सिद्ध नहीं हो तो यह संसार ही अन्धे के समान हो जायेगा।[1]

यही काश्मीर शैव दर्शन का पूर्ण ख्यातिवाद का सिद्धान्त है।

(V) ज्ञान का प्रयोजन

प्रयोजन का अर्थ : ज्ञान की सिद्धि के पश्चात् प्रश्न यह उठता है कि ज्ञान की आवश्यकता क्या है ? ज्ञान प्राप्ति के पीछे क्या प्रयोजन है ? प्रयोजन वह होता है जिस विषय को लेकर प्राणियों की प्रवृत्ति होती है–

'यमर्थमधिकृत्य पुरुष: प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्'[2]

ज्ञान का प्रयोजन–परोपकार व दु:खमुक्ति : ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी के अनुसार ज्ञान प्राप्ति का प्रयोजन परार्थ या परोपकार के अलावा कुछ भी नहीं हो सकता। दु:खीजनों का उपकार करना ही उसका प्रयोजन है। ज्ञान प्राप्ति स्वयं को दु:ख मुक्त कर लेने या मोक्ष प्राप्त कर लेने के लिए ही नहीं होती बल्कि सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण करने वाली होती है। संसार के अन्य व्यक्तियों को भी उस ज्ञान से अवगत कराया जाये तो स्वयं प्राप्त कर चुके हैं, यही ज्ञानी व्यक्ति का ज्ञान से प्रयोजन हो सकता है।[3]

शैव दर्शन में विभिन्न सिद्धान्तों के अनुशीलन से ज्ञान के प्रयोजन इस प्रकार कहे जा सकते है।

परमानन्द की प्राप्ति शैव दर्शन में मोक्ष की अवस्था को माना गया है।

---

1. असिद्धौ च प्रकाशस्य कोऽहं किं त्वं तमोऽपि किम्।
   न किञ्चिदपि वा किं स्यात्तूर्ष्णीं स्यादपि वा कथम्।।
   अयं घटोऽयं पट इत्येवं नाना प्रतीतिषु।
   अर्कप्रभेव स्वज्ञानं स्वयमेव प्रकाशते।।
   ज्ञानं न चेत्स्वयंसिद्धं जगदन्धं ततो भवेत्।

   ई. प्र. वि. – 1–1–5
2. ऊ. ई. प्र. वि. 1–1–1
3. ''जनस्य अनवरत जननमरण पीडितस्य इत्यनेन कृपास्पदतया उपकरणीयत्वमाह.... परार्थसम्पत्यतिरिक्त प्रयोजनान्तरावकाशं पराकरोति।

   इ. प्र. वि. 1–1–1

परमशिव सच्चिदानन्द स्वरूप है उसमें लीन साधक निरन्तर महाल्लाद को अनुभव करता है। वह जीवनमरण के चक्र से सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

चित् परमेश्वर की अन्तरंग शक्ति है तो आनन्द बाह्य शक्ति है। शिव को पाने वाला परम आनन्द को प्राप्त कर लेता है।

प्रत्यभिज्ञा या मोक्ष : काश्मीर शैव दार्शनिक प्रत्यभिज्ञा को ही मोक्ष कहते हैं। शिव स्वरूप में स्वयं को पहचान लेना ही प्रत्यभिज्ञा है। साधक का जब इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है कि मैं जो स्वयं को सीमित अणु जीव मानता हूँ, ऐसा नहीं है बल्कि मैं सर्वत्र व्यापक शिव का ही रूप हूँ, तब वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

ज्ञान प्राप्ति का लक्ष्य यही प्रत्यभिज्ञान है। प्रत्यभिज्ञा ही मोह को दूर करती है। मुक्त साधक को संसार से कोई लेना-देना नहीं रह जाता।

यही शिव का दास्य भाव है, मोक्ष है। केवल शब्दों का अन्तर है। यही परम ज्ञान है। स्वयं ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् दूसरों को भी यह ज्ञान करवाना ही उत्पल के लिए ज्ञान का प्रयोजन है।

(VI) ज्ञान का स्वरूप द्वैत एवं अद्वैत

ज्ञान दो प्रकार से होता है- द्वैत ज्ञान एवं अद्वैत ज्ञान। अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से ही यह समस्त विश्व बिना किसी सामग्री की अपेक्षा रखते हुए स्व-स्वरूप से अभिन्न होने पर भी भिन्न दर्पण में दिखाई पड़ने वाली नगरी के समान चित्र-विचित्र रंग-ढंग से मिला हुआ सा भासता है।

भिन्न-भिन्न रूपों वाले पदार्थों में व्यक्त हो जाना ही द्वैत कहलाता है तथा जिसमें द्वैतभाव का अभाव हो वही अद्वैत है।

वास्तव में अहन्ता और इदन्ता से रहित जो ज्ञान है, वही अद्वैत ज्ञान है। संशय आदि से वर्जित अद्वैत ज्ञान है। सम्पूर्ण विश्व पर निर्भर होकर देह आदि परिमित प्रमातृभावरूप कलंक को दबाकर "मैं उस परमशिव तत्त्व में प्रवेश करता हूँ" ऐसा कहना ही अद्वैत है।[1]

अज्ञान या द्वैत ज्ञान : ज्ञान के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से जानने के लिए अज्ञान क्या है, यह जानना आवश्यक है।

---

1. ई. प्र. वि. मं. शि. र.

द्वैत ज्ञान ही अज्ञान कहा गया है। शैव दर्शन के अनुसार परमेश्वर से भिन्न कुछ भी नहीं है, अज्ञान भी शिव से भिन्न नहीं हैं। ज्ञान, अज्ञान, बन्धन, मोक्ष, द्वैत, अद्वैत, ये सब कल्पनाएँ परम शिव के स्वातन्त्र्य का विलास मात्र हैं। शिव के विलास या स्वातन्त्र्य के ही ये दो पहलू हैं- पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष।[1] पूर्व पक्ष को हम बन्धन या अज्ञान कह सकते हैं। यह वह अवस्था है जिसमें शिव स्वयं को जीव रूप में संकुचित कर लेता है।

उत्तर पक्ष में जब जीव स्व-स्वरूप में लीन रहता है उसे मोक्षावस्था या ज्ञान कहा जा सकता है। वस्तुतः यह सब शिव में ही है। उससे भिन्न कोई ज्ञान या अज्ञान नहीं है।

अज्ञान तथा मल में भेद नहीं है। अज्ञान चेतना पर पर्दा डाल देने वाला तथा स्वातन्त्र्यानुभूति को अन्धकार के समान ढक देने वाला होता है।

अज्ञान ही बंधन का कारण है : जीव को आत्म-अनात्म संबंधी उलझन में फंसाता है।[2] जैसा कि शिव सूत्र में कहा गया है-

'ज्ञानं बन्धः'[3]

इस सूत्र का अर्थ है भेदपूर्वक ज्ञान ही बन्धन का कारण होता है। यही अज्ञान है। यहाँ 'ज्ञानं' शब्द 'भेदपूर्वक ज्ञान' के लिए कहा गया है।

शिव तत्त्व अभेदरूप है किन्तु उसी को जब भेदपूर्वक देखा जाता है, तब वह ज्ञान द्वैत ज्ञान हो जाता है। इस अवस्था में यह अज्ञान कहलाता है। इस द्वैत को मिलाकर जब साधक अद्वैत का साक्षात्कार करता है, वही वास्तविक ज्ञान है।

अख्याति : अज्ञान को ही अख्याति कहा गया है। ख्याति का अर्थ ज्ञान है। यह 'अज्ञान' ज्ञान का अभाव नहीं है। यदि ज्ञान का अभाव माना जायेगा तो जड़ पदार्थों में भी अतिव्याप्ति हो जायेगी।

---

1. पूर्वपक्षतया येन विश्वमाभास्य भेदतः।
   अभेदोत्तरपक्षान्तर्नीयते तं स्तुमः शिवम्।। ई. प्र. 1-2-1
2. (क) मलमज्ञामिच्छन्ति संसाराकुरकारणम्।
   इतिप्रोक्तं तथा च श्री मालिनी विजयोत्तरे।। त. 1-23
   (ख) अज्ञानं तिमिरं .... वहीं
3. शि. सू. -2

अज्ञानमिति न ज्ञानाभावश्चातिप्रसङ्गत: ।
सहि लोष्टादिकेऽप्यस्ति न च तस्यांस्ति संसृतिः ।।[1]

परम शिव की एकान्त सत्ता के विपरीत जब नीले, पीले, सुख, दुःख आदि द्वैत प्रथात्मक ज्ञान होते हैं तो ये ज्ञान ही अज्ञान बन जाते हैं। यही अपूर्ण ज्ञान है। इस अवस्था में ज्ञान का अभाव नहीं रहता बल्कि ज्ञान की अपूर्णता रहती है।

अतो ज्ञेयस्य तत्त्वस्यसामस्त्येनाप्रथात्मकम्।
ज्ञानमेवतदज्ञानं शिवसूत्रेषु भावितम् ।।[2]

यही कारण है कि शिवसूत्र में 'ज्ञान बन्धं' कहा गया है, 'अज्ञानं बन्धं' नहीं। यहाँ द्वैत प्रथात्मकता पूर्ण ज्ञान को अज्ञान कहा गया है।

द्वैत प्रथा तदज्ञानं तुच्छत्वाद् बन्ध उच्यते।
तत एव समुच्छेद्यमित्यावृत्या निरूपितम्।।[3]

बौद्ध एवं पौरूष अज्ञान : आश्रय भेद की दृष्टि से अज्ञान के दो भेद किये जाते हैं- बौद्ध एवं पौरूष। पहली अवस्था में अपने स्वरूप का सही ज्ञान नहीं होता अर्थात् साधक स्वयं को शिव से भिन्न समझता है। स्वातन्त्र्य की हानि इस अज्ञान का कारण है। यह पौरूष अज्ञान की अवस्था है। यह मूल अज्ञान है।

इस अज्ञान के आधार पर मानव का समस्त व्यवहार चलता है।[4] पौरूष अज्ञान को ही 'संसारांकुरकारणम्' और मल कहा गया है। बौद्ध अज्ञान की आश्रय बुद्धि है किन्तु बुद्धि में स्थित अज्ञान संसार का कारण नहीं हो सकता। मूल मलरूपी अज्ञान ही संसार का कारण है। यही पौरूष अज्ञान है।

बौद्ध अज्ञान यदि नष्ट हो भी जाये तो बौद्ध ज्ञान ही उत्पन्न हातो है। बौद्ध ज्ञान का आश्रय भी बुद्धि ही होती है। बुद्धि में आश्रय होने के कारण यह बौद्ध ज्ञान भी विकल्पात्मक ही होता है और विकल्प संसार का ही रूप कहा जाता है इसलिए बौद्ध ज्ञान तो संसार का आविर्भाविक होगा।[5]

---

1. त.- 1-25
2. त.-1-30
3. वहीं - 30
4. शि. दृ. भू. पृ. - 22
5. त. 1-24

इसीलिए कहते हैं कि साधक के लिए बौद्ध ज्ञान उपादेय नहीं है।

परमार्थ विकल्पेऽपि नावलीयेत पण्डितः।
को हि भेदो विकल्पस्य शुभे वाऽप्यथ वाऽशुभे ।।[1]

साधक के लिए यह आवश्यक है कि पौरूष पाशों या मलों का वह शोधन करे। बुद्धिगत अज्ञान का निराकरण विवेक ज्ञान द्वारा हो सकता है।[2]

पौरूष अज्ञान के द्वारा शिव का पूरा चिदात्मक उल्लास, आवृत्त हो जाता है। इसी के कारण 'पशुपति' 'पशु' बनकर रह जाता है। यह अज्ञान भी शाश्वत अखण्ड शिव से ही उत्पन्न है। अपने स्वातन्त्र्य द्वारा शिव स्वयं ही संकोच का आश्रय लेते हैं तथा अल्पज्ञत्व और अल्पकर्तृत्व को अपना लेते हैं। यही कारण है कि आणव मल शिव स्वरूप का आवरण बन जाता है–

तत्रपुंसोयदज्ञानं मलाख्यं तज्जमप्यथ।
स्वपूर्णचिकित्यारूप शिवतावरणात्मकम् ।।
संकोचिदृक्क्रियारूपं तत्पशोरविकल्पितम्।[3]

(VII) ज्ञान शक्ति का स्वरूप

काश्मीर शैव दार्शनिक ज्ञान को परम शिव की शक्ति के रूप में देखते हैं। ज्ञान शक्ति शिव के त्रिशूल (इच्छा, ज्ञान, क्रिया) का एक शूल है। यह भेदरूपी बन्धनों को भस्म कर देता है।

ज्ञान बोध रूप है : यह ज्ञान शक्ति शाश्वतस्फुरणशील है तथा सत्य का निश्चित ज्ञान कराती है। इच्छा व क्रिया भी ज्ञान शक्ति में लीन होकर रहते हैं।

ज्ञान सर्वत्र स्फुरित है। जहाँ–जहाँ ज्ञान है, वहाँ–वहाँ बोध का स्फुरण है, यह व्याप्ति नियम है। बोध स्फुरण होने पर परम प्रकाश का साक्षात् हो जाता है। यही मोक्ष की अवस्था कहलाती है। इस प्रकार ज्ञान शिव रूप ही है।[4]

---

1. वहीं व्याख्या
2. पाशाश्च पौरूषाः शोध्या दीक्षायां न तु धीगताः।
   तेन तस्यां दोषवत्यामपि दीक्षा न निष्फलाः ।।
   उद्धृत त. 1–24 व्या.
3. त. 1–37, 38
4. वहीं, नी. क्षी. वि.भा.

ज्ञान में शक्ति के विषय में आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं-

एवमेतदियं वस्तुनान्यथेति सुनिश्चितम्।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञान शक्ति र्निगद्यते।।[1]

यह वस्तु ऐसी है, दूसरे प्रकार की नहीं है, ऐसा जो निश्चय है, वही ज्ञान है। इस ज्ञान को जिस शक्ति द्वारा प्रकाशित किया जाता है वही ज्ञान शक्ति है।

ज्ञान शक्ति का कहीं पर भी अभाव नहीं है। यह बोधरूपा होती है। जहाँ-जहाँ ज्ञान है, वहाँ-वहाँ बोध भी है।

ज्ञान की उत्पत्ति-ज्ञान आद्यस्पन्द है : ज्ञान शक्ति की उत्पत्ति के विषय में आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि सर्वप्रथम जब प्रक्षुब्ध अवस्था का उदय नहीं हुआ था तब एक ऐसा परामर्श था जो कि स्वात्मनिष्ठ था। वह परामर्श एक वीरक परामर्श कहलाता है।

यह अद्वैत दशा है। इसी अद्वैत दशा से जब विश्व उन्मेष रूपी आद्यस्पन्द सम्भव होता है तब उस रूप में अवस्थित परामर्श को ज्ञान शक्ति कहते हैं-

सैव प्रक्षुब्धरूपा चेदीशित्री संप्रजायते।
तदा घोराः परा देव्यो जाताः शैवाध्व दैशिकाः।
स्वात्म प्रत्यवमर्शो यः प्राग्भूदेकवीरकः।।
ज्ञातव्य विश्वोन्मेषात्मा ज्ञानशक्ति तया स्थितः।[2]

बौद्ध एवं पौरूष ज्ञान : बौद्ध तथा पौरूष अज्ञान के समान ही बौद्ध व पौरूष ज्ञान भी होते हैं जो उन अज्ञानों की निवृत्ति से उत्पन्न होते हैं।

बौद्ध ज्ञान 'मैं यह जानता हूँ' इस प्रकार का अध्यवसायात्मक ज्ञान होता है। इस स्थिति में माया सहित छः कञ्चुकों से संकुचित अणु के अणुत्व में स्थित चिन्मयत्व का प्रतिबिम्ब पड़ता है।

बुद्धि 'इदम्' के रूप में जो वस्तु पदार्थ हैं, उनकी जानकारी देती है। यह बौद्ध है। यह पोषणीय भी है और पोषण कर्ता भी है।[3]

---

1. त. 1-4
2. त. 3-72,73,74
3. अहमित्थमिदं वेद्मीत्येवमध्यवसायिनी।

इस ज्ञान की सीमा यह है कि इस प्रकार के ज्ञान से मुक्तिरूपी परम लक्ष्य नहीं पाया जा सकता बल्कि पौरूष ज्ञान ही मुक्ति में कारण है।

जब साधक के पशु संस्कार क्षीण हो जाते हैं और परात्पर प्राप्त हो जाने पर अत्यन्त विकसित निर्विकल्पक ज्ञान प्राप्त होता है वही पौरूष ज्ञान है।

बौद्ध ज्ञान अविकल्पात्मक होता है किन्तु उसका विमर्श पौरूष ज्ञान में होता है अथवा कहा जाता है कि बौद्ध ज्ञान और पौरूष ज्ञान में पोष्यपोषकभाव है –

तस्मात्प्रविततात् बन्धनात्परस्थानविरोधकात्।
दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धामं नयत्यपि।।[1]

दीक्षा आदि के द्वारा जब पौंस्न या पौरूष अज्ञान नष्ट हो जाता है फिर भी वर्तमान शरीर के अन्त होने पर वह अपूर्ण ज्ञान व्यक्त अर्थात् प्रकाशित हो जाता है। शरीर के न रहने पर ही ऐसा साधक शिव तत्त्व में लीन होकर विदेह मुक्ति को प्राप्त करता है।[2]

शरीर प्रारब्ध द्वारा प्राप्त है एवं कार्ममल से युक्त है। शरीर के रहते कार्म मल तो रहता ही है उसके भी न रहने पर विदेह मुक्ति मिलती है। जीवन्मुक्त का जहाँ तक प्रश्न है, वह बौद्ध ज्ञान से मिलती है।

बौद्ध अज्ञान के नष्ट होने पर बौद्ध ज्ञान का उद्भव होता है तथा साधक को शिव तत्त्व की प्राप्ति होती है।

बौद्ध ज्ञान परमेश्वर अद्वैत शास्त्र के श्रवण मनन के द्वारा उद्भूत होता है। इसके लिए भी गुरु दीक्षा आवश्यक है। दीक्षा और बौद्ध ज्ञान दोनों ही मुक्ति के लिए आवश्यक हैं।

षट्कञ्चुकाबिलाणूत्थप्रतिबिम्बितो यदा।।
धीर्जायते तदा तादृग्ज्ञानम ज्ञान शब्दितम्।
बौद्धं तस्य च तत्पौस्नं पोषणीयं च पोष्टृ च।।

त. 1-39, 40

1. उ. त. 1-42
2. बौद्धज्ञानेन तु यदा बौद्धमज्ञानजृम्भितम्।
   विलीयते तदा जीवन्मुक्तिः करतले स्थिता।।

   त. 1-44

दीक्षापि बौद्धविज्ञानपूर्वा सत्यं विमोचिका।
तेन तत्रापि बौद्धस्य ज्ञानस्यास्तिप्रधानता।।[1]

ज्ञान प्राप्ति में दीक्षा की भूमिका : प्रसंगवश दीक्षा के विषय में भी विचार करना आवश्यक है- दीक्षा गुरु द्वारा शिष्य को प्रदत्त ज्ञान है। दीक्षा के द्वारा ज्ञान देकर 'पशु' जीव की आवरण - विकृतवासना का नाश होता है। इस प्रकार इसमें 'दान' और 'क्षय' दोनों साथ होते हैं, इसीलिए इस क्रिया को दीक्षा कहा जाता है-

दीयते ज्ञानसद्भाव: क्षीयन्ते पशुवासना:।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता।।[2]

दीक्षा भी बौद्ध विज्ञान के उल्लसित करने पर ही मुक्ति प्रदा होती है। इसलिए दीक्षा में बौद्ध ज्ञान की प्रधानता होती है।[3] दीक्षा के साथ शक्तिपात द्वारा भी गुरुशिष्य को ज्ञान की प्राप्ति करा सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि गुरु भी ज्ञानवान् हो। इस प्रकार ज्ञान के स्तर भिन्न-भिन्न हो सकते हैं किन्तु परम ज्ञान अद्वैत ज्ञान है जिसके विषय में कहा गया है कि विश्व भावों का एक निर्विकल्प भावमय साक्षात्करण ही पुद्गल प्राणियों का पूर्ण परमेश्वर ज्ञान है।

शेष जो विकल्पात्मक ज्ञान हैं उनकी कोई सीमा नहीं है। संसार में अनन्त विकल्पात्मक भाव हैं जो स्वयं के प्रकाश से प्रकाशित नहीं होते।

इन सभी भावों में एक रहस्यात्मक भाव है जो महाभाव कहलाता है, वह परम प्रकाशरूपता से युक्त है। यह परम प्रकाशरूपता ही प्रधान सत्ता है।

यह बोध प्रधान सत्तात्मक है जिसका अपना एक अलग रूप है। इसका निर्विकल्प साक्षात्कार ही इसका प्रधान कहलाता है।

इस प्रकार का साक्षात्कार होना साधक के लिए सौभाग्य का विषय है। यह अणु पुरुषों का परात्पर ज्ञान कहलाता है। यही पूर्ण ज्ञान है।

इसके अतिरिक्त जितने ज्ञान हैं वे सभी विकल्पात्मक ज्ञान हैं। उन्हें शाक्त या आणव ज्ञान कहते हैं। ये अपूर्ण होते हैं क्योंकि चित् के स्वात्मरूप का प्रथन उसमें नहीं हो सकता-

---

1. त. 1-45
2. उ. त. 1-43
3. वहीं 1-45

विश्व भावैकभावात्मस्वरूप प्रथनं हि यत्।
अणूनां तत्परं ज्ञानं तदन्यदपरं बहु ।।[1]

विवेकज्ञान या प्रातिभ ज्ञान : परम ज्ञान को 'विवेक' शब्द से कहा गया है। विवेक अतीन्द्रिय विज्ञान है तथा यही प्रातिभ ज्ञान के उपाय रूप में कहा गया है। विवेक ज्ञान ही वह ज्ञान है जिससे परम शिव को जाना जा सकता है। यह ज्ञान साधक के संस्कारों में समाकर जो कुछ त्यागने योग्य है, उसका निरास करता है तथा साधक को प्रातिभ ज्ञान प्रदान करता है।[2] इसी प्रातिभ ज्ञान से साधक को मुक्ति प्राप्त होती है।

इस मुक्तावस्था में वह अन्य प्राणियों पर अनुग्रह करके उन्हें भी मुक्त कर सकता है। प्रातिभ ज्ञान से युक्त साधक के मायीय मल पराशक्ति के प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं। तंत्रालोककार के शब्दों में-

यदा प्रतिभया युक्तस्तदा मुक्तश्च मोचयेत्।
पराशक्ति निपातेन ध्वस्तमायामलः पुमान्।।[3]

प्रतिभा ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है कि वह साधक के समस्त बन्धन नष्ट करके उसे मोक्ष प्रदान करता है।[4]

इस प्रातिभ ज्ञान या विवेक ज्ञान की अवस्था में साधक का एक ओर तो गुरु दीक्षा की तलवार से पाप नष्ट हो जाता है, वहीं दूसरी ओर आगम आदि के प्रभाव से उसकी भावनाओं की भी शुद्धि हो जाती है।

इस अवस्था में वास्तविक रूप से प्रतिभा तत्त्व का चरम विकास होता है तथा वह ज्ञान का सर्वश्रेष्ठ रूप है-

---

1. त. 1-141
2. उपयोऽत्र विवेकैकः सहि हेयं विहायनम्।
   ददाति अस्य च सुश्रोणि प्रातिभं ज्ञानमुक्तमम्।। त. 13-165
3. (क) त. 13-166
   (ख) उपायो देवदेवेशिविवेकस्तत्र वै परः।
   हेयतां चैव संसारे ज्ञात्वा जन्तुर्विमोचयेत्।। उ. त. 13-166
4. प्रातिभोऽस्य स्वभावस्तु केवलीभाव सिद्धिदष।। वहीं - 169

दीक्षाविच्छिन्न पाशत्वाद्भावना भावितस्य हि।
विकासम् तत्त्वमायाति प्रातिभं तदुदाहृतम्।।[1]

प्रातिभ ज्ञान की प्राप्ति गुरु आम्नाय द्वारा भी होती है तथा स्वाभाविक भी होती है। स्वाभाविक ज्ञान स्वत: स्फूर्त होता है। इससे विवेकज्ञान प्राप्त होता है जो कि अतीन्द्रिय ज्ञान है। विवेक ज्ञान किसी प्रमाण द्वारा नहीं प्राप्त हो सकता। यह स्वयं निर्भासित शुद्ध ज्ञान है।

इसके अतिरिक्त सभी ज्ञान सेन्द्रिय ज्ञान कहलाते हैं। ये समस्त ज्ञान सापेक्ष होते हैं। परम ज्ञान के सामने ये वैसे ही हैं जैसे सूर्य के सामने दीपक आदि व्यर्थ होते हैं। इसी को अभिनवगुप्त इस प्रकार कहते हैं-

विवेकोऽतीन्द्रियस्त्वेष यदायाति विवेचनम्।
पशुपाशपति ज्ञानं स्वयं निर्भासते तदा।।
प्रातिभे तु समायाते ज्ञानमन्यत्तु सेन्द्रियम्।
वागक्षिश्रुतिगम्यं चाप्यन्यापेक्षं वरानने।।
तत्त्यजेबुद्धिमास्थाय प्रदीपं तु यथा दिवा।[2]

विवेक ज्ञान की स्थिति में केवल विमर्श होता है, स्पन्द की परा सक्रियता होती है, उस समय साधक निर्विचार अवस्था में रहता है। यह अवस्था शब्दों में अवर्णनीय होती है। इसे ही गुरुतम प्रतिबोध कहते हैं।[3]

श्रौत, चिन्तामय एवं भावनामय ज्ञान : (ये भेद ज्ञान के स्रोत की दृष्टि से किए गए हैं) शास्त्रों में निर्दिष्ट ज्ञान श्रुत ज्ञान है। श्रुत ज्ञान का तात्पर्य सुना हुआ ज्ञान है। आप्त वचनों से प्राप्त ज्ञान श्रुत ज्ञान है।

चिंतामय ज्ञान विशिष्ट ज्ञान है। यह मन्द और अभ्यस्त के भेद से दो प्रकार का होता है। निरन्तर शास्त्राभ्यास द्वारा दक्षता प्राप्त कर लेने वाला स्वभ्यस्त चिन्तामय ज्ञान कहलाता है। यह सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है जो मोक्ष प्रदान करता है।

ज्ञान का प्रकाशन तीन प्रकार से होता है-

---

1. त. 13-174
2. त. 13-174, 177, 178
3. त. 13-178 व्या.

भेद, भेदाभेद एवं अभेदात्मक : वस्तु ज्ञान की सत्ता इन तीन प्रकारों से उल्लसित है। इनमें आणव ज्ञान भेदात्मक और शाक्त ज्ञान भेदाभेद प्रधान है। शाम्भव ज्ञान अभेदप्रधान है।[1]

ज्ञान को शैव दर्शन में मोक्ष का साधन बताया गया है। ज्ञान के विषय में शैव दार्शनिक कहते हैं कि समस्त चराचर जगत् में ज्ञान व्याप्त है।

संसार में जड़ता और चेतनता की मात्रा के आधार पर तथा उपयोगिता के आधार पर पदार्थों की श्रेष्ठता का मापन किया जाता है। इस आधार पर सबसे श्रेष्ठ ज्ञान है। यही ज्ञान साधक को चरम लक्ष्य की प्राप्ति कराता है तथा साधक से योगीश्वर बना देता है–

स्थण्डिलादुत्तरं तूरं तूरादुत्तरतः पटः।
पटाध्यानं ततो ध्येयं ततः स्थाद्धारणोत्तरा।।
ततोऽपि योगजं रूपं ततोऽपि ज्ञानमुत्तरम्।।
ज्ञानेन हि महासिद्धो भवेद्योगीश्वरसत्त्विति।।[2]

सम्पूर्ण विश्व ज्ञान में वैसे ही मिला हुआ है जैसे मुख दर्पण के साथ प्रतिबिम्बावस्था में मिला होता है। बोध से विश्व को अलग करके नहीं देखा जा सकता। बिना प्रकाश कोई पदार्थ प्रकाशित नहीं हो सकता। कहा भी गया है– ज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की सत्ता स्वीकार्य नहीं है। इसी से यह सिद्ध होता है कि यह जगत् ज्ञान रूप ही है। ज्ञान के बिना पदार्थ की अनुभूति किसी के द्वारा नहीं की जा सकती।

इसलिए यह निश्चित है कि ज्ञान व पदार्थ तादात्म्य भाव से रहते हैं–

बोधमिश्रमिदं बोधाद्भेदेनाशक्यभासनम्।
परतत्त्वादि बोधे किं प्रतिबिम्बं न भण्यते।।[3]

---

1. (क) वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञान सत्ता विजृम्भते।
भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना।। त. 1–229 व्या.
(ख) अभेदोपायमत्रोक्तं शाम्भवं शाक्तमुच्यते।
भेदाभेदात्मकोपायं भेदोपायं तदाणवम्।। वहीं – 230
2. त. 2–42, 43
3. त. 2–57

ज्ञान और ज्ञेय एक रूप ही होते हैं क्योंकि दोनों का संवेदन एक साथ होता है। इसी मत को पुष्ट करते हुए तन्त्रालोककार कहते हैं- ज्ञान शक्ति सूर्य है और क्रिया शक्ति चन्द्र रूप में प्रकाशित होती रहती है।

सूर्य और सोम दोनों स्वतन्त्र रूप से अवस्थित होते हैं किन्तु एक दूसरे से अवियुक्त भी होते हैं। प्रमाण और प्रमेय रूप से पार्थक्य दिखता है किन्तु अन्योन्याश्रय होने से एकता होती है। इसीलिए ज्ञान व ज्ञेय एक दूसरे के बिना अस्तित्वहीन होते हैं-

सूर्य प्रमाणमित्याहु: सोमं मेयं प्रचक्षते।
अन्योन्यमवियुक्तौ तौ स्वतन्त्रावाप्युभौ स्थितौ।
भोक्तृभोग्यो भयात्मैतदन्योन्योन्मुखतांगतम्।।
ततो ज्वलन चिद्रूपं चित्रभानु प्रकीर्तित:।
योऽयं वह्ने परं तत्त्वं प्रमातुरिदमेव तत्।।[1]

इस प्रकार ज्ञान व क्रिया की एकता कही गई है।

(VIII) ज्ञान का अधिकारी

जो कोई भी व्यक्ति जन्म लेता है, वह परमेश्वर की दासता (जिसको प्रभु ने सभी इष्ट दे दिए हैं) का अधिकारी है। इसमें कोई नियम, जाति अथवा वर्ग का प्रश्न ही नहीं उठता।

किसी व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त हो एवं किसी अन्य को ज्ञान की प्राप्ति न हो ऐसा शैव दार्शनिक नहीं मानते।

जिस-जिस को महेश्वर के स्वरूप का विस्तार प्राप्त हो जाता है, उस-उस को प्रत्यभिज्ञारूपी महाफल प्राप्त हो जाता है चाहे वह किसी भी जाति अथवा वर्ग का हो यह ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिका के आरम्भ में ही आचार्य उत्पल स्पष्ट करते हैं-

कथंचिदासाद्य महेश्वरस्य दास्यं जनस्युपकारमिच्छन्।
समस्त संपत्समवाप्ति हेतुं तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि।।[2]

---

1. त. 3-121, 122
2. ई. प्र. का. 1-1-1

कोई भी 'जन' इस 'प्रत्यभिज्ञा' रूपी परमज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी हो सकता है।[1]

(IX) ज्ञान का उपाय, ज्ञान की अवधि एवं क्रम

ज्ञान में क्रम का अभाव : ईश्वर प्रत्यभिज्ञा के अनुसार ज्ञान प्राप्ति में क्रम-व्यक्तिक्रम नहीं होता क्योंकि वहाँ प्रमाद का अभाव है।

इसको स्पष्ट करने के लिए वे उदाहरण देते हैं- जैसे गर्म तेल की कड़ाही में एक बूंद भी चन्दन डाल दिया जाये तो वह शीघ्र ही तेल को ठण्डा कर देता है।

इसी प्रकार योग बुद्धि द्वारा की गई साधना होती है जो महाभयंकर संसार को नष्ट कर देती है। गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं-

'नेहातिक्रमनाशोऽस्तिप्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।'[2]

तात्पर्य यह है कि निष्काम कर्मयोग में आरम्भ का नाश नहीं होता है और उलटा फल रूपी दोष भी नहीं लगता है इसलिए इस निष्काम कर्मरूप योगधर्म का थोड़ा सा भी साधन संसार सागर से पार करा देता है।

प्रमाण से शास्त्रों से या गुरुवाक्य से एक बार दृढ़ प्रतिपत्तिपूर्वक ज्ञान हो जाने पर यह सारा संसार शिवमय है, ऐसा दृढ़ ज्ञान हो जाने पर इन्द्रियों के द्वारा कोई कृत्य करने के लिए शेष नहीं रह जाता। इस ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भावना का भी कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

ज्ञान प्राप्ति के बाद कोई प्रयत्न शेष नहीं रहता : जिस प्रकार स्वर्ण की परीक्षा हो जाने के बाद 'भावनाकरण' जैसे घिसना, तपाना आदि नहीं करना पड़ता है और हमारे माता-पिता की जानकारी के लिए किसी दूसरे उपाय की आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् किसी परीक्षा की आवश्यकता नहीं रह जाती।[3]

---

1. विमर्शिनी- वहीं
2. श्रीमद्भगवद्गीता
3. सुकृज्ज्ञाते सुवर्णे हि भावनाकरणम् व्रजेत्।
   एकं वारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यत: ।।

भावनाकरण : प्रसंगवश यह जानना भी आवश्यक है कि यह 'भावनाकरण' की प्रक्रिया क्या है ? 'भावनाकरण' का अर्थ है – शुद्धि करना।

भाव्य में निश्चित रूप से रहने वाला व्यापार भावना कहलाता है। यह दो प्रकार की कही गई है– 1. शाब्दी भावना 2. आर्थी भावना।

'भाव्य' का अर्थ है स्वर्ग आदि। भावना त्र्यंशरूपी होती है। इसमें तीन प्रश्नों के उत्तर निहित होते हैं – 'किं', 'कथं' तथा 'केन' दोनों भावनाओं की दृष्टि से इन प्रश्नों के उत्तर इस प्रकार हैं–

1.	अर्थ भावना		प्रश्न	उत्तर
		(क)	किं (क्या)	स्वर्ग
		(ख)	केन (किसके द्वारा)	याग
		(ग)	कथं (कैसे)	यज्ञ, हविष्य
2.	शाब्दी भावना	(क)	किं (क्या)	पुरुष की भव्याकृति
		(ख)	केन (किसके द्वारा)	शब्द
		(ग)	कथं (कैसे)	अर्थवादी वाक्य

अर्थ संग्रह के अनुसार – भावना नाम भवितुर्भवनोनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेष:। सा चा द्विधा – शाब्दीभावना आर्थीभावना चेति।

भावना उत्पन्न होने वाले (फल या क्रिया) की उत्पत्ति में सहायक उत्पादयिता (उत्पादक) का विशेष प्रकार का व्यापार है। वह (भावना) दो प्रकार की है– शाब्दी भावना तथा आर्थी भावना।

भावना मीमांसा का एक महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द है जिसकी निष्पत्ति 'भू' धातु से प्रेरणार्थक णिच् तथा ल्युट् (अन) लगने से स्त्रीलिंग में होती है। सामान्यत: लौकिक व्यवहार में इसका अर्थ किसी गन्ध या रस से किसी पदार्थ को वासित करना–भावना देना – इच्छा आदि होता है। किन्तु यहाँ यह विशेष अर्थ में प्रयुक्त

ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्या दृढ़ात्मना।
करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयापि वा।।
सर्वदा पितृमात्रादि तुल्यदाढ्र्येन सत्यता।। शि. दृ. 7–5, 6

है। भावना उत्पादयिता-फल को उत्पन्न कराने के प्रेरक का विशेष प्रकार का व्यापार है जिससे होने वाले फल या क्रिया को सम्पन्न करने में सहायता मिलती है।[1]

इसी 'भावना' को प्रभाकर मीमांसक 'नियोग' कहते हैं और कौमारिल मीमांसक 'भावना' कहते हैं।[2] भावनाकरण की आवश्यकता विवेक ज्ञान प्राप्त साधक को नहीं है। उसे यज्ञ आदि कर्मों द्वारा अपनी आत्मा को शुद्ध करने की कोई रह जातीहै क्योंकि परम प्रकाश से उसके समस्त बन्धन पहले ही नष्ट हो जाते हैं।

ज्ञान का उपाय : शैव दार्शनिकों के अनुसार स्वात्म, शास्त्र व गुरु, इन तीनों से ज्ञान होता है, इसीलिए ज्ञान को त्रिप्रत्यय ज्ञान कहते हैं।

त्रिप्रत्ययमिदं ज्ञानमिति यच्च निशाटने।
तत्संघात विपर्यासविग्रहैर्भासते तथा।।[3]

अन्य प्रकार के परम ज्ञान की प्राप्ति के उपाय तीन प्रकार के कहे जा सकते हैं- शांभव, शाक्त एवं आणव। इनमे साक्षात् उपाय शांभव उपाय है। शांभव उपाय का ज्ञान शाक्त उपाय है और उसका भी उपाय आणव उपाय है।

शाम्भव उपाय यदि निरन्तर, जाग्रत रहे तो परात्पर ज्ञान की अनुभूति शीघ्र हो जाती है। शाम्भवोपाय जब अपने चरम स्वरूप को प्राप्त होता है तो वह अनुपाय विज्ञान बन जाता है। यह केवल मात्र उपाय का निषेधस्वरूप ही नहीं है, बल्कि शाश्वत् संवित् समावेश है-

तच्च साक्षादुपायेन तदुपायादिनापि च।
प्रथमानं विचित्राभिभंगीभिरह भिद्यते।।[4]

ज्ञान का उपाय ज्ञान ही है

ज्ञान का उपाय अज्ञान नहीं हो सकता, यह सत्य है। ज्ञान परम ज्ञान का उपाय होता है। यह ज्ञान कारण होता है। 'पर' ज्ञान सूक्ष्म है जो कि विकल्पात्मक,

---

1. अर्थसंग्रह, पृ. 25
2. त. 1-27 व्या.
3. त. 4-78, 79
4. त. 1-142

स्थूल, शाक्त तथा आणव ज्ञानों से विलक्षण होता है। इसे शाम्भव ज्ञान भी कहते हैं। यह शांभव ज्ञान इच्छात्मक होता है।

शाक्त एवं आणव ज्ञानों में ज्ञान व क्रिया की प्रधानता होती है।[1]

शांभव उपाय में विवेक ज्ञान कारण है जो प्रातिभ ज्ञान को उत्पन करता है। संसार की हेयता का ज्ञान विवेक से होता है। विवेक ज्ञान द्वारा प्रातिभ ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुआ साधक अन्य प्राणियों को भी मुक्त करवाता है। ज्ञान प्राप्ति में गुरु दीक्षा तथा आगम अभ्यास का भी विशेष महत्त्व है।[2]

उपायोऽत्र विवेकैकः स हि हेयं विहापयन्।।
ददात्यस्य च सुश्रोणि प्रातिभं ज्ञानमुत्तमम्।
दीक्षासिच्छिन्न पाशत्वाद्भावना भावितस्य हि।।
विकासं तत्त्वमायाति प्रातिभं तदुदाहृतम्।[3]

गुरु द्वारा शिष्य के हृदय में ज्ञान की उत्पत्ति को तन्त्रालोक में अत्यन्त हृदयग्राही उदाहरणों द्वारा प्रतिपादित किया है। गुरु द्वारा शिष्य के हृदय में ज्ञान की ज्योति जला देना वैसे ही है जैसे राख में दबी चिन्गारी को बाहर निकाल कर हवा देना तथा बीज को बोकर उसे बड़ा वृक्ष बनाना–

तत्छक्त्या सुप्रबुद्धस्य ध्वस्तमायामलस्य च।
भस्मच्छन्नाग्नि वत्स्फौट्यं प्रातिभे गौरवगमात्।।
बीजं कालोप्त संसिक्तं यथा वर्धेततत्तथा।
योगयाग जपैरूक्तैर्गुरूणा प्रातिभं स्फुटेत्।।[4]

---

1. ज्ञानस्य चाभ्युपायो यो न तद ज्ञानमुच्यते।
ज्ञानमेव तु तत्सूक्ष्मं परं त्विच्छात्मकं मतम्।। त. 1-144
2. ज्ञानस्य चाभ्युपायो यो न तदज्ञानमुच्यते।
ज्ञानमेव तु तत्सूक्ष्मं परं त्विच्छात्मकं मतम्।। त. 1-144
3. त. 13-165, 174
4. त. 13-175, 176
तथा –
'यथाग्निर्भस्मनाच्छन्नस्तदपास्येन्धनैधितः।
समीरण बलाविष्टो भूरितेजा वरानने।।
प्रभविष्णुः प्रकाशार्चिरेवमेतद्भवेतत्फुटम्।

ज्ञान की अवधि : बाह्य विषयों में एकानेक बुद्धि के रहते हुए भी अनेक सम्मिलित एकत्व सदैव स्फुरित रहता है।

काल जब सूक्ष्म हो जाता है तो उससे उत्पन्न सूक्ष्म ज्ञान के बाद उसका स्वत: निरास हो जाता है। काल तो ज्ञान का क्षणभेदक है। काल स्वयं सूक्ष्म क्षण रूप ही है।

काल की सूक्ष्मता की अवधि ज्ञान की अवधि है। प्रथम ज्ञान तक क्षण समाप्त हो जाता है। ज्ञानीय सत्ता ही कालावधिक सत्ता है। यह एक दूसरे के अन्त से ही सम्बन्धित है –

कालस्तु भेदकस्तस्य स तु सूक्ष्म क्षणोमत:।
सौक्ष्म्यस्य चावधिर्ज्ञानं यात्तिष्ठति सक्षण:।।[1]

ज्ञान का अभाव तब तक नहीं होता, जब तक प्रमाता और उसकी इन्द्रियों का संयोग विभाग न हो जाये। प्रमाता की दृष्टि किसी पदार्थ पर पड़ती है तो उसे प्रतीत होने लगता है कि यह नील है, पीत है, इस प्रकार की है, आदि।

इस प्रकार दृष्टिभेद से वस्तुभेद उत्पन्न होता है। जब दृष्टि नील से हटकर पीत पर पड़ती है तो नील ज्ञान की अवधि समाप्त हो जाती है। यह एक विभाग है। पीत का संयोग होता है, फिर विभाग होता है। एक साथ ही काल व ज्ञान की वस्तु विभाग संयोग जन्य अवधि समाप्त व शुरु होती रहती है। संयोग विभाग चालू रहने पर ज्ञान का भाव तथा न रहने पर ज्ञान का अभाव मानना चाहिए। यह आशंका गलत है। धारा प्रवाह ज्ञान का अभाव नहीं होता, बल्कि उनके अर्थों का सन्दर्भित अर्थ उजागर रहता है तथा पदार्थ का स्मरणात्मक ज्ञान समाप्त नहीं होता।

तद्भावश्च नो तावद्यावत्ताक्षवर्त्मनि।
अर्थे वात्मप्रदेशेवा न संयोग विभागिता।।[2]

यथोप्तं कालतो बीजं तत्सुसिक्तमथक्रमात्।
अङ्कुरै: पल्लवैराढ्यं तत्पुष्पादि फलान्वितम्।।
व्यापकं विटपं तद्वद्गुरुत: प्रातिभं प्रिये। –वहीं

1. त. 7–25
2. त. 7–27

ज्ञान नित्य है और संयोग-विभाग अनित्य पदार्थों में होते हैं। यही कारण है कि ज्ञान में संयोग और विभाग का अभाव होता है किन्तु इस कारण से विज्ञान का अभाव नहीं हो सकता।

वास्तव में यह संवित् तत्त्व है जो काल का स्पर्श भी नहीं करती। जैसे शिव काल की सीमाओं से परे है, वैसे ही ज्ञान भी नित्य प्रकाश रूप है।[1] इस सम्बन्ध में शिव दृष्टि में इस प्रकार कहा गया है कि अनादि अक्षय परब्रह्म जब उत्कर्ष को प्राप्त होता है, तब वह देश-काल आदि से परे होता है-

तावद्यावत्पराकाष्ठा यावत्पश्यत्यनन्तकम्।
अक्षादिवृत्तिभिर्हीनं देशकालादिशून्यकम्।।
सर्वतः क्रम संहारमात्रमाकारवर्जितम्।
ब्रह्म तत्त्वं पराकाष्ठा परमार्थस्तदेव सः।।[2]

(X) ज्ञान का इच्छा एवं क्रिया से सम्बन्ध

शैव दर्शन का ज्ञान का इच्छा व क्रिया से सम्बन्ध का विचार दर्शन के क्षेत्र में अपूर्व है तथा विशेष महत्त्व रखता है।

शैव दर्शन के अनुसार इच्छा व क्रिया ज्ञानपूर्वक ही होती है और तभी प्रवृत्तियाँ तथा व्यवहार संभव हो पाता है।

समस्त प्राणी वर्ग ईश्वर का ही स्वरूप है। शैव दर्शन की मान्यता है। सब भावों को अपने बोध में जो भासित करते हैं, वहाँ पर उसका भासना क्रिया शक्ति है।

इस क्रिया शक्ति से ही विचित्र शरीर आदि की स्थिति का विभाग होता है। यदि ऐसा आभासन नहीं होता तो कल्पना करना असम्भव हो जायेगा। इसलिए अन्तःकरण में प्रकाश का आभासन ज्ञान शक्ति कहलाती है। इसी ज्ञान शक्ति का अहं विमर्श होता है।[3]

---

1. वस्तुतो ह्यत एवेयं कालं संविन्न संस्पृशेत्।
   अतएकैव संवित्तिर्नानारूपे तथा तथा।। त. 7-30
2. शि. दृ. 2-4, 5
3. स्वप्रकाशे निजेधाम्नि भासयेद्भाविभ्रमान्।

इच्छा-शक्ति : इच्छा शक्ति को स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि इच्छा शक्ति प्रकाश का ही चमत्कार है। प्रकाश में एक विशिष्ट धर्म होता है, जिसे अहम् प्रत्यवमर्श कहते हैं। अहम् प्रत्यवमर्श के द्वारा प्रकाश में विभुत्व तथा नित्यत्व का आक्षेप हो जाता है।

इसी धर्म के चमत्कार से इच्छा शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। चित् के प्राधान्य के कारण परप्रमाता में सिसृक्षा रूप परामर्श के कारण ही इच्छा शक्ति उदित हो जाती है। तभी उसे प्रकाश का चमत्कार कहा जाता है।[1]

इसी इच्छा शक्ति को समस्त ओजों का ओज, शाश्वत, अचल और ध्रुव कहा गया है। वह शिव की स्वाभाविक शक्ति है जो अनन्त शक्तियों से युक्त है। वह इच्छा शक्ति अग्नि की गर्मी और सूर्य की किरणों के समान है। यह समस्त संसार का कारण है।[2]

वही इच्छा शक्ति ज्ञान, क्रिया के रूप में विस्तृत हो जाती है। उसी में सर्वज्ञ आदि गुण व्यक्त, अव्यक्त होकर रहते हैं-

सर्वज्ञादिगुणास्तत्र व्यक्ताव्यक्तश्च संस्थिता।
सैविच्छा ज्ञान रूपा च क्रियादिगुण विस्तृता।।[3]

परम प्रमाता शिव ही क्रिया शक्ति के योग से ईश्वर हो जाता है। इच्छा व क्रिया ज्ञान पूर्वक ही हुआ करती हैं, इसी से सारा व्यवहार है, इसीलिए प्राणी वर्ग को ईश्वर का स्वरूप कहा गया है-

---

भासना च क्रिया शक्तिरिति शास्त्रेषु कथ्यते।।
यया विचित्र तन्वादिकलना प्रविभज्येत।
भासनानभाते च कथं नामप्रकल्पनम्।।
तदस्यान्त: स्थितं भानं ज्ञानशक्तिरहं स्मृता।।
उ. ई. प्र. वि. व्या. 1-1-4

1. (क) तन्त्रसार 1-3 हि. व्या.
   (ख) मा. वि. त. 3-5
2. तदोजोश्चौजसां सर्वं शाश्वतं ह्यचलं ध्रुवम्।
   सा ममेच्छा परा शक्ति: शक्तियुक्ता स्वभावजा।।
   वह्नेरून्मेष विज्ञेया रश्मिरूपां रवेरिव।
   सर्वस्य जगतो वापि स्वा शक्ति: कारणात्मिका।। ने. त. 1- 24, 25
3. वहीं - 27

इच्छा-ज्ञान-क्रियापूर्ण यस्मात्सर्वाः प्रवृत्तयः।
सर्वेपि जन्तवस्तस्मादीश्वरा इति निश्चिताः।।[1]

ज्ञान स्वतः सिद्ध है एवं क्रिया शरीर से सम्बन्ध रखती है तथा दूसरे के द्वारा भी उपलक्षित होती है, क्रिया द्वारा अन्य ज्ञान को भी जाना जा सकता है।[2]

सूर्य-चन्द्र : इसी कारण से ज्ञान व क्रिया को सूर्य तथा चन्द्र कहा गया है। ज्ञान सूर्य के समान स्वयं प्रकाशित होता है तथा क्रिया चन्द्रमा के समान प्रकाश स्वरूप ज्ञानरूपी सूर्य की और इंगित कर देती है।

ज्ञान और क्रिया शक्ति के द्वारा ही समस्त व्यवहार संचालित होने के कारण सभी प्राणियों का जीवन कहा गया है-

'ज्ञान क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम्' ।।[3]

अन्तः करण में जब "मैं जानता हूँ", ऐसा ज्ञान प्रकाश अन्तः करण में भासता है, यह विमर्श क्रिया शक्ति कहलाता है।

'स च संरम्भो क्रियाशक्तिरुच्यते।'[4]

इसी को सोमानन्द इस प्रकार कहते हैं कि घट आदि के ग्रहण काल में ही जो 'मैं घट को जानता हूँ' ऐसी अनुभूति है, वही क्रिया है। यही ज्ञान के जैसी भासती है।

यह क्रिया शक्ति अपनी शक्ति द्वारा प्राण पुर्यष्टक के क्रम में शरीर में रहती है। वही क्रिया शक्ति स्पन्दन रूपिणी होकर व्यापार रूप व्यवहार को सम्पादित करती है।

मायामय पद में भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय वही क्रिया शक्ति बनती है। वह क्रियाशक्ति किसी अन्य के शरीर आदि में ज्ञात होकर अपने ज्ञानात्मक स्वभाव को जनाती है।

---

1. उ. ई. प्र. वि. 1-1-4
2. तत्र ज्ञानं स्वतः सिद्धं क्रिया कायाश्रिता सती।
   परैरप्युपलक्षेत् तयान्यज्ञानमूह्यते ।।
   ई. प्र. का. - 5
3. ई. प्र. वि. 1-1-4
4. ई. प्र. वि. 1-1-5

इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य कृष्णानन्द सागर कहते हैं कि वेदान्त दर्शन का भी मत है कि जैसा वह जानता है, इसमें अन्तःकरण की वृत्ति, विशेष रूप क्रिया ही 'ज्ञा' धातु का वाच्यार्थ है क्योंकि 'ज्ञा' धातु अवबोधरूप में पढ़ी गई है ओर चित्तत्व प्रतिबिम्ब रूपी आभास से युक्त होकर ही 'तिङ्' प्रत्यय का अर्थ होता है।

परस्पर अध्यास को प्राप्त हुए आभास और बुद्धि के भेद का ग्रहण नहीं होता तथा ये दोनों आभास में मिल जाने के कारण अनूभूत नहीं होते। आचार्य उत्पल इस विषय में कहते हैं कि 'तिङ्' प्रत्यय का वाच्यार्थ आभास है और 'ज्ञा' धातु का अर्थ है बुद्धि की क्रिया। ये दोनों आपस में मिले होने के कारण तथा भेद ज्ञान के न होने के कारण ही ऐसा कहा जाता है कि यह ज्ञान असत्य है।

बुद्धि के कर्तृत्व का अध्यास कहकर 'ज्ञाता जानता है', ऐसा भी कहा जाता है। इस प्रकार चैतन्य के ज्ञान का अध्यास होने के कारण बुद्धि का ज्ञान कहा जाता है।[1]

शिव ही इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूप है-

अत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन् निवृत्तचिद्विभुः।
अनिरूद्धेच्छा प्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः॥[2]

परमशिव में इच्छा-ज्ञान-क्रिया : जब वे शिव पूर्ण चिदानन्द मात्र में प्रकाशित होते रहते हैं, और उसी में उनको लय होता रहता है, उस समय उनकी समस्त इच्छा, समस्त ज्ञान तथा सम्पूर्ण क्रिया उनमें ही लीन रहती है।[3]

यही परावस्था है। यह चिद्रूप आह्लादरूप परम शिव की निर्विभाग अवस्था होती है जिसमें तीनों शक्तियाँ समरस अवस्था में रहती हैं-

सुसूक्ष्म शक्ति त्रितय सामरस्येन वर्त्तते।
चिद्रूपाह्लादपरमो निर्विभागः परस्तदा॥[4]

औन्मुख्य : शिव से उसकी शक्तियाँ पृथक् नहीं होती जब शिव अपने स्वभाव के वैभव से सृष्टि करने के लिए उन्मुख होते हैं वह उनकी इच्छा का सर्वप्रथम

---

1. ई. प्र. वि. 1-1-5
2. शि. दृ. 1-2
3. वही-3
4. वही-4

सूक्ष्मकाल होता है।

शिव की इच्छा के प्रथमोन्मेषकाल में सम्पूर्ण शक्ति का मिश्रण होता है। इस इच्छा शक्ति का कार्यरूप की तरफ उन्मुख होना औन्मुख्य है।[1] आचार्य सोमानन्द ने इस दृष्टि का अत्यन्त सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है-

जैसे निस्तरंग सागर में तीव्र लहर उठने के पहले जो कम्पन होता है, हाथ में मुठ्ठी बाँधने के पहले जो कँपन होता है, वैसे ही चित्स्वरूप परमशिव के भीतर वर्तमान चैतन्य जब सृष्टि रचना के लिए प्रथमतया प्रवृत्त होता है तो उस अवस्था के प्रथम विकास को औन्मुख्य कहते हैं।[2]

कुछ अन्य दार्शनिक इसे किंचिदुच्छूनता कहते हैं। इसी प्रकार जब शिव की वह इच्छा कार्य रूप में परिणत होती है तो उसके कारण वे सेच्छ हो जाते हैं।

उस शिव का जो आभोग अर्थात् ज्ञान उत्पन्न करने का सामर्थ्य है, वही इच्छा का व्यवस्थित होना है। इस प्रकार सूक्ष्म से स्थूल होकर शिव स्थूलता युक्त लगते हैं किन्तु पारमार्थिक रूप में स्थूल नहीं है। शिव अपनी इच्छा से ही स्थूल रूप में भासते हैं-

किञ्चिदुच्छूनता सैव महद्भिः कैश्चिदुच्यते।
तस्येच्छा कार्यतां याता यया सेच्छ स जायते।।

---

1. (क) विचित्र रचना नानाकार्य सृष्टि प्रवर्तने।
भवत्युन्मुखिता चित्ता सेच्छायाः प्रथमा तुटिः।। वही-8
(ख) अनादि निधनाच्छान्ताच्छिवात् परमकारणात्।
इच्छा शक्ति र्विनिष्क्रान्ता ततो ज्ञानं ततः क्रिया।।
उ. श्री. कुलावतार से महार्थमञ्जरी, पृ. 14

2. प्रवृत्तस्यनिमित्तानाम परेषां क्व मार्गणम्।
गच्छतो निस्तरंगस्य जलस्याति तरंगताम्।।
आरम्भे दृष्टिमापात्य तदौन्मुख्यं हि गम्यते।
व्रजतो मुष्टितां पाणेः पूर्वः कम्पस्तदेक्षते।।
बोधस्य स्वात्मनिष्ठस्य रचनां प्रतिनिवृत्तिः।
तदास्या प्रविकासो यस्तदौन्मुख्यं प्रचक्षते।।
शि. दृ. 1-13, 14, 15

औन्मुख्य य आभोगः स्थूलः सेच्छा व्यवस्थिता।
न चौन्मुख्यप्रसङ्गेन शिवः स्थूलत्वभाक्क्वचित्।।[1]

इच्छा, ज्ञान, क्रिया शक्तियों के प्राधान्य और अप्राधान्य से ही सृष्टि के तत्त्वों का विकास होता है।

जिस प्रकार प्रथम क्षण में दूध गाय से अलग नहीं है, उसी प्रकार शिव से सृष्टि अलग नहीं है। इच्छा भी एक क्रिया हैं अतः क्रमशः उत्पन्न होने वाले व्यापार में उनके पूर्वापर भाग की कल्पना करनी चाहिए।[2]

इच्छारूपी क्रिया की उत्पत्ति का प्रथम क्षणात्मक भाग ही औन्मुख्य है। कर्मनिष्ठ निवृत्ति की प्राप्ति भी औन्मुख्य है एवं कर्मावछिन्ना निवृत्ति भी औन्मुख्य है इसी प्रकार अनवछिन्ना निवृत्तिमात्र आनन्द भी औन्मुख्य है दूसरे शब्दों में कहा जाए तो आरम्भ से अन्त तक सब औन्मुख्य ही है। इसे ही इच्छा शक्ति का विकास कहते हैं–

तत्कर्म निवृत्ति प्राप्तिरौन्मुख्यं तद् विकासिता।
अनन्तरं हि तत्कार्य ज्ञान दर्शन शक्तितः।।[3]

प्रारम्भिक अवस्था में परमेश्वर अकेला अद्वैत रहा तदनन्तर उसकी आत्मा में क्रियोन्मुख्य इच्छा का प्रथम उल्लास हुआ।[4] उस इच्छा के अन्दर उसके अनन्तर

---

1. (क) वही 1–16, 17
   (ख) कृत्येषुदेवि ! तव सृष्टिमुखेषुनित्यं
   स्वाभाविकेषु विसरत्सु यदुन्मुखत्वम्।
   इच्छेति तत् किल निरूपितमागमज्ञै।
   र्जानासि येन विदधासि च तं तमर्थम्।।
   उ. म. म., पृ.–14
2. गोस्तनात् पाततः क्षीरे विकारस्तत एव हि।
   न च न क्षीरमित्येष व्यवदेशोऽस्ति तत्क्षणम्।।
   यत् इच्छति तज्ज्ञातुं कर्त्तुं व स्वेच्छया क्रियाम्।
   तस्याः पूर्वापरौ भागौ कल्पनीयौ पुरा हि (यौ)।।
   शि. दृ. 1–18, 19
3. वही–20
4. या सा शक्ति जंगद्धातुः कथिता समवायिनी।
   इच्छात्वं तस्य सा देवि सिसृक्षोः प्रतिपद्यते।।

होने वाले समस्त चित्र-विचित्र कार्य छिपे हुए थे।[1]

परमशिव की आरम्भिक अवस्था : परम शिव की प्रारम्भिक अवस्था शिविका (फली) के समान अवस्था थी। वह उत्पन्न इच्छा ऐसी थी जिसमें परमशिव को अपने रूप-आनन्द का ज्ञान नहीं था। वह चिति कही जाती है जो कि आभ्यन्तरत: शबल (अन्तश्चित्तविचित्रा) है। परमेश्वर की पररूपा वह चितशक्ति द्रव्यों में वर्तमान कर्म के समान छिपी हुई स्थित थी।

क्रिया पदार्थ से अलग नहीं रहती तथा कहीं उसका अभाव भी नहीं है। इस प्रकार शाक्त रूप अभेदपूर्ण होता है।[2]

यह इच्छा का प्रथम उदय समस्त पदार्थों की एक स्थानता रूप है। उस एक इच्छा में विश्व ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थ ज्ञानरूप में सुप्त रहते हैं, वह प्रथम उदय ही शाक्त बोध वाला स्वच्छ अवयव रूपवाला है।[3]

अर्थात् वहाँ पृथक् स्थूल या सूक्ष्मावयव नहीं है-

प्रथमोदय इच्छाया: सर्वभावैकादेश्यता।
स एव शाक्त बोधात्मस्वच्छावयव रूपवान्॥[4]

जिज्ञासा उठती है कि इच्छा का प्रथम उन्मेष किस प्रकार का है? इस सम्बन्ध में आचार्य सोमानन्द कहते हैं-

---

मा. वि. त. 3-5

1. सैकापि सत्यनेकत्वं यथा गच्छति तच्छृणु।
एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम्॥

वही-6

2. (क) न द्रव्यतिरिक्ताऽस्ति क्रिया च न विद्यते।
न तथापि विना कार्यं किंचनापिहि जायते॥
न चापि केवलाद् द्रव्यात् किंचनापि प्रवर्त्तते।
तस्मादित्थमिह ज्ञय शाक्तं रूपमभेदवत्॥ शि. दृ. 7-15, 16
(ख) शि. दृ. 7-16, 17
3. इच्छा रूपा शिवस्यै ह्यभिन्ना सर्वतोमुखी।
किञ्चियुच्छुनतापत्तेः सार्वज्ञादिगुणस्ततः॥

ने. त. 21-35

4. वही

वह प्रथम उदय अपने ही आनन्द रस से आनन्दमय है। उसका अपना कार्य रूप प्रयोजन ही उसका अपना कार्य रूप प्रयोजन ही उसका शरीर है। अपने उस स्वरूप में वह परमेश्वर उसी प्रकार स्थित रहता है व आत्मबोध से उस प्रकार के स्वरूप वाला हो जाता है।

जब परम शिव की इच्छा का स्पन्दन होता है, तब वह अपनी पूर्व अवस्था से थोड़ा निम्न कोटि का बन जाता है और आनन्द के साथ संश्लिष्ट हो जाता है।

इस औन्मुख्य की स्थिति में शिव की स्थिति राजा या सम्राट के समान हो जाती है। दृश्यमान क्षुद्र शरीर में असीम संवित् समाविष्ट रहती है और उसका बोध भी रहता है, उसका वह स्पन्दन प्रथम पदार्थ है।

इस अवस्था में परमं शिव का पूर्णचितत्त्व शिव की किञ्चिन्मात्रा में उसकी ही इच्छा शक्ति से तिरोहित हो जाता है।

इस दशा में वह शिव तत्त्व शाम्यदा अर्थात् शान्ति देने वाली आनन्दयुक्त उस प्रकार की सत्क्रिया से व्याप्त हो जाता है तथा शान्ति और आनन्द उसका शरीर हो जाते हैं, वह स्वयं स्वच्छ तथा ज्ञान क्रिया से युक्त हो जाता है–

स्वानन्दैकरसाह्लादीस्वकार्यार्थ शरीरवान्।
तथा स्थितस्य ध्यानेन बोधाद्वातत्स्वरूप भाक्॥
तस्येच्छास्पन्दनं पूर्वन्यग्भावो ह्लादसंगमः।
भूय भूपतिशक्त्याभमग्रथं तत्पूर्णचिल्लयात्॥[1]

इच्छा, ज्ञान, क्रिया, चित् व आनन्द आदि शिव की पाँच शक्तियाँ हैं। ये परम शिव की विमर्श शक्ति के ही पाँच रूप हैं।

परम शिव में जब इच्छा मात्र रहती है तो वह शिवाकार युक्त होता है। जब केवल इच्छा की तरंग मात्र रहती है, इच्छा पूर्णरूपेण अभिव्यक्त नहीं रहती। तरंग उठने से भी पहले परम शिव में उस तरंग का कर्तृभाव मात्र रहता है।

---

1. (क) शि. दृ. 1–18, 19
(ख) औदासीन्य प्रहाणेन यदौन्मुख्यं महेशितुः।
तदिदं स्याज्जगत् सर्वमित्यस्मिन् किन्नुयुक्तिभिः॥
'पूजा रहस्य' से म.म. में उद्धृत, पृ. 40

इस अवस्था में परम शिव समस्त भावों से परे केवल शिव मात्र रहता है।[1]

परम शिव की पाँचों शक्तियों में प्राधान्य इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया का ही रहता है। चिद् और आनन्द शक्तियाँ शिव-शक्ति की यामल अवस्था है।[2]

यामल अवस्था में इच्छा, ज्ञान व क्रिया शक्तियाँ अभिव्यक्ति से पूर्वावस्था में लीन रहती हैं तथा ये पाँचों शक्तियाँ मिलकर शिव कही जाती हैं।

सदाशिव अवस्था में इच्छा ज्ञान व क्रिया : शक्ति तत्त्व के प्रथमोन्मेष में अहंता अस्फुट रूप में ही इस इच्छा शक्ति को ढके रहता है तथा मैं हूँ, ऐसी अनुभूति होती रहती है। यह 'सदाशिव' अवस्था कही गई है।[3]

शिव की इच्छा शक्ति व ज्ञान शक्ति सदा शिव अवस्था में कुछ और धनीभूत हो जाती है। स्पन्दन बढ़ जाता है। इस अवस्था में विद्या मन्त्र तथा कला के रूप में कल्पित देह से सम्पीडित होकर शक्ति प्रकाश के समान प्रसारित हो जाती है। यह अधिकार तथा अभिमान की स्थिति है-

याति व्याप्तिं तथा भूतां शाम्यदामोदसत्क्रियाम्।
शान्तानन्दवपुः स्वच्छः उररीकृत दृक्क्रियः।।
मध्य व्योमशान्ति बोधभर लब्धोदयः शिवः।
तस्यापि विद्युदालोकवदभेदवती चला।।[4]

इस अवस्था में 'अहम् इदम्' इस प्रकार से परामर्श होता है।

---

1. तत्त्व देवस्तथा तावद् भावशक्त्या घटादि के।
   निजशक्ति समाविष्टेरायान्ति शिव सम्पदः।।
   क्रियाशक्ति परामत्वे क्वचित् पिण्ड शिवात्मता।
   क्वचिदन्तः कृतौ ज्ञानाद् भवेत् पद शिवात्मता।।
   इच्छामात्रे रूपशिवस्तरङै तदतीतता।
   कर्तृमात्रे सर्वभाव व्यतीत शिवभावता।।
   शि. दृ. 7-29, 30, 31
2. यामल शिवशक्ति के एकत्व (संघट्ट) को कहा गया है।
3. (क) विभर्ति रूपमिच्छातः कदाचिज्ज्ञानशक्तितः।
   सदाशिवत्वमुद्रेकात् कदाचिदैश्वरीं स्थितिम्।। शि. दृ. 1-30
   (ख) ईश्वरो बहिरून्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः। ई. प्र. 3-1-3
4. शि. दृ. 7-20, 21

यह 'सदाशिव' अवस्था ज्ञान, क्रिया, दोनों का ही प्रथम उन्मेष है।[1]

यह शिव का आन्तरिक निमेष कहा जाता है– 'निमेषोऽन्त: सदाशिव'[2]

ईश्वर अवस्था : शिव 'इदम् अहम्' इस परामर्श की स्थिति में 'ईश्वर' प्रमाता कहा जाता है। जब विमर्श शक्ति में 'इदम् अहम्' यह प्रतीति उल्लसित होती है। जगत् की क्रमिक अभिव्यक्ति का आरंभ 'ईश्वर' अवस्था में होता है। इस अवस्था में क्रिया शक्ति का प्राधान्य होता है।[3]

यह बहिरून्मेषकी अवस्था है– 'ईश्वरो बहिरून्मेषो'[4]

सदाशिव अवस्था के बाद अभिमान के संश्लेष से वह परमाशैवी मलयुक्त हो जाती है। इस अवस्था में सर्वेश्वरत्व का उदय होता है।

यह सर्वेश्वरी क्रिया शक्ति शक्तिरूपी दीपक की किरण के समान कही गई है। इस अवस्था में विश्व वैसे ही छिपा रहता है जैसे घट मृत्पिण्ड में छिपा रहता है–

तस्यापि शक्तिर्मृत्पिण्डघट्वद्विश्वतांगता।
यावद्यावात्तरेद् विद्यामायादिधन पार्थिवम्।।[5]

इसी क्रिया शक्ति से जगत् का विस्तार होता है।[6]

सद्विद्या की अवस्था : शिव में जब ज्ञान व क्रिया की समानरूप से प्रधानता होती है, यह सद्विद्या की स्थिति कही जाती है।[7]

---

1. ज्ञानं क्रियेति द्वयोरपि प्रथमोन्मेषे सदाशिवो देव:। म. म. – 15
2. ई. प्र. 3-1-3
3. द्वितीयाया उल्लेखे द्वितीय: संभवतीश्वरो नाम।।
   म. म.-15
4. ई. प्र. 3-1-3
5. शि. दृ. 7-28
6. ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञान शक्ति निर्गिद्यते।
   एवं भूतमिदं वस्तु भवत्विति यद्य पुन:।।
   जाता तदैव तत्तद्वत्कुर्वत्यत्र क्रियोच्यते।
   एवं सैषा द्विरूपापि पुनर्भेदैरनेकताम्।।
   मा. वि. त. 3-7, 8
7. ज्ञाता स आत्मा ज्ञेय स्वभावश्च लोकव्यवहार:।
   एकरसां संसृष्टि यत्र गतौ सा खलु निस्तुषा विद्या।।

यह समान रूप से अहम्-इदम् को धारण करने के कारण समानाधिकरण कही जाती है-

'समानाधिकरणां च सद्विद्याहमिदंधियोः'।[1]

क्रिया शक्ति की पूर्ण व्यापकता होने पर वही शिव बाह्य स्थूल पिण्डों या अर्थों के रूप में अभिव्यक्त हो जाते हैं, और वे ही शब्दों के रूप में अभिव्यक्त हो जाते हैं।

इच्छा-ज्ञान-क्रिया शक्ति का 'त्रिक' रूप : इसे ही 'त्रिक' कहा गया है प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय अथवा इच्छा, ज्ञान, क्रिया अथवा शिव, शक्ति, नर इस प्रकार की त्रिपुटी का रूप ही त्रिक है।[2]

त्रिक-तालिका

शिव-भाव	शक्ति-भाव	नर-भाव
परा-शक्ति	परापरा-शक्ति	म-कला
अ-कला	ह-कला	म-कला
अ	उ	म्
अभेद	भेदाभेद	भेद
इच्छा	ज्ञान	क्रिया
प्रमाता	प्रमाण	प्रमेय
उत्तम-पुरुष	मध्यम-पुरुष	प्रथम-पुरुष
एक-वचन	द्वि-वचन	बहु-वचन

(प. त्रिं. पृ. 11)

वस्तुतः शिव तत्त्व तो शुद्ध रूप ही है किन्तु वेद्यता के प्रधान होने पर जड़वत् आभासित होना ही नरात्मक तत्त्व है। इस प्रकार विश्व की नर, शक्ति और शिवात्मकता के कारण त्रिक कहा गया है। जड़ता के प्रबल संस्कारवश स्वातन्त्र्य का स्थान परतन्त्रता ले लेती है और नरात्मक जड़रूप का उदय होता है। जहाँ तक शिव का प्रश्न है, यह अच्युतचिद्रूप तत्त्व है। इसमें सन्देह नहीं। इसी की इच्छा, ज्ञान और

---

1. ई. प्र. 3-1-3
2. प. त्रि. पृ. 86, 87

क्रिया ये तीन शक्तियाँ शाश्वत स्फुरित हैं। ग्राह्य की अपेक्षा न होने पर मन्त्र, मन्त्रेश और मन्त्रमहेश ही तीन शुद्ध प्रमाता माने जाते हैं। ग्राह्य की अपेक्षा होने पर विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल अशुद्ध प्रमाता माने जाते हैं। यही छः शुद्धाशुद्ध प्रमाता नर रूप हैं। इस तरह नर-शक्ति शिवात्मक विश्व की मान्यता में कोई अन्तर नहीं आता-

यत्तु ग्रहीतृतारूपसंवित्संस्पर्शवर्जितम्।
शुद्धं जंड तत्स्वरूपमित्थं विश्वं त्रिकात्मकम्।।[1]

कोई वस्तु एकाएक रूपान्तरित नहीं होती। शिव का प्रमातृ-सद्भाव परशक्त्यात्मकता के विकसित मान-मेय भाव के अतिरिक्त नहीं होता। प्रश्न उपस्थित होता है कि इस विभाजन का बीज क्या है? इसका समाधान यह है कि शक्ति को ही विभाजन का बीज मानना चाहिये। शक्ति का प्रसर इच्छा, ज्ञान व क्रिया के रूप में होता है।

त्रिशूल

इच्छा ज्ञान और क्रिया रूप त्रिधा रूप में शक्तितत्त्व का विस्तार अपने पृथक स्वरूप में भी उल्लसित रहने पर भी मूल शक्तितत्त्व एक ही है। परम शिव की इच्छा इन्हीं तीन शक्तियों को 'त्रिशूल' कहा जाता है। वस्तु के सत्त्व की ख्याति इन्हीं तीन शक्तियों के सम्बन्ध के कारण होती है। जिस वस्तु का इन तीन शक्तियों से सम्बन्ध नहीं होता वह आकाश कुसुम के समान अवस्तु है। पहले पहले शक्ति तत्त्व में समावेश होता है जिसे शाक्त समावेश कहते हैं। वस्तुतः शक्ति त्रिशूल का सामरस्य परा शक्ति है। इस परा शक्ति में एकात्मकता शाक्तसमावेश है। इसके बाद परा शक्ति भी शिव के साथ तन्मय हो जाती है। यह शांभव समावेश है। विश्व शुद्ध चिद्रूप ब्रह्म से एकाकार होता है। तदनन्तर परा शक्ति से और अन्ततः परमशिव से-

इष्यत इति वेद्यत इति संपाद्यत इति च भास्वरूपेण।
अपरामृष्टं यदपि तु नभः प्रसूनत्वमभ्येति।।

1. त. 10-182

शक्तित्रिशूलपरिगमयोगेन समस्तमपि परमेशे।
शिवनामनि परमार्थे विसृज्यते देवदेवेन।।[1]

त्रिशूल शब्द शाम्भव, शाक्त और आणव समावेश के लिए भी प्रयोग किया गया है। ये क्रमशः शाम्भव, शक्त और आणव नामक शूल है। जैसे लोहे के शूल होते हैं, वैसे ये शूल नहीं होते। सुषुम्ना और कुण्डलिनी जागरण की दशा में प्राण के उर्ध्व संचरण की दशा में दण्ड की तरह सीधे ऊपर चलने से दण्ड की कल्पना की गई है। दण्ड के ऊपर शूल की तरह ही तीन उर्ध्व बिन्दुओं की प्रकल्पना की जाती है, जहाँ परा, परापरा और अपरा शक्तियों की स्वाभाविक स्थिति होती है। दण्ड के ऊपरी भाग में स्थित इन बिन्दुओं को मिलाने से त्रिशूल सदृश आकृति होती है अतः इन्हें त्रिशूल कहते हैं।

पराशक्ति की व्याप्ति का परिवेश शाम्भव शूल कहलाता है। परापरा शक्ति प्रधान व्याप्ति के परिवेश के मध्य बिन्दु को आणव त्रिशूल कहते हैं शाम्भव सबसे ऊपरी सिरा है। उससे चार अंगुल नीचे शाक्त और उससे भी चार अंगुल नीचे आणव शूल अवस्थित है। अंगुली माप के अनुसार भी उर्ध्व बिन्दु द्वादशान्त कहा जाता है-

अमुष्माच्छाम्भवाच्छूलाद्ध्रासयेच्चतुरङ्गलम्।
शाक्ते ततोऽप्याणवे तत्त्रिशूलत्रितयं स्थितम्।।[2]

इच्छा ज्ञान व क्रिया शक्ति के इस त्रिक् रूप को दूसरे शब्दों में प्रमातृ-प्रमाण व प्रमेय भाव तथा त्रिकोण, त्रिपुटी, त्रिशूल आदि शब्दों से अभिव्यक्त किया जाता है। प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण के त्रिक में भी शुद्ध विद्या ही स्वयं को प्रकट करती है। विभागहीन भगवती शुद्ध विद्या ही माया के पद पर उतरकर भेदरूपता को अपनाती है। बाहरी जगत्-प्रसार की जन्मभूमि होने से माया भी वास्तव में शिव-विद्या या शुद्ध विद्या ही है। वही अपने अभेदमय स्वरूप-स्वातन्त्र्य से ही भिन्न-भिन्न आकार-प्रकारों वाले प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयों के मौलिक एकाकार रूप पर आवरण डालकर त्रिकोण के रूप में ही सर्वत्र परिलक्षित होती है।

इसे ही त्रिशूल भी कहा गया है। इसके इसी त्रिक रूप की अर्चना करनी

---

1. प. सा. 44, 45
2. त. 15 - 363

चाहिए क्योंकि साधना के सन्दर्भ में प्रमातृभाव, प्रमाण-भाव और प्रमेय भाव तीनों का समान महत्त्व अंगीकार करना आवश्यक है। क्योंकि तीनों में शिव-प्रकाश समान रूप से व्याप्त है। यही शिव का विमर्शरूपी स्वातन्त्र्य है जो बाहर 'म-ह-अ' तथा अन्तर्मुखी होने पर 'अ-ह-म' इस प्रकार स्पन्दित होता रहता है। यही परमगुह्य अर्थात् महान रहस्य कहा जाता है।[1]

अनुत्तर कला स्वरूप विकास की अवस्था में प्रसार क्रम को अपनाकर पहले शक्तिभाव और फिर नर-भाव पर उतरकर जड़-चेतनात्मक प्रमेय विश्व के रूप में विकसित हो जाती है। त्रिक शब्दों में इसको सृष्टि कहते हैं। पारिभाषिक रूप में इसकी अभिव्यञ्जना इस प्रकार की जाती है- 'अ-ह-म' अर्थात् अनुत्तर की प्रतीक 'अ-कला' का पहले, शक्ति की प्रतीक 'ह-कला' पर और फिर नर की प्रतीक 'म-कला' पर अवरोह करना। स्वरूप-विश्रान्ति की अवस्था और फिर शिव-भाव पर आरोह करके स्वरूप में ही विश्रान्त हो जाता है।

त्रिक शब्दों में इसको संहार कहते हैं। इसकी पारिभाषिक अभिव्यञ्जना का रूप 'म-ह-अ' है। अर्थात् नर की प्रतीक 'म-कला' का पहले शक्ति की प्रतीक 'ह-कला' पर और फिर अनुत्तर की प्रतीक 'अ-कला' में ही आरोह प्रक्रिया के द्वारा विश्रान्त हो जाना। दोनों रूपों में यह केवल 'अ-ह-म' की ही प्रसार-संहारमयी लीला है। यही शिव का त्रिक रूप है। समूचा विश्व-प्रपञ्च नरात्मक, शक्त्यात्मक और शिवात्मक होने के कारण त्रिकरूपी ही है[2]। इस त्रिक में से जो कुछ अपने आप तक (ज्ञेय रूप में) सीमित रहता है, वह केवल जड़रूपता के साथ सम्बन्धित होने के कारण मुख्य रूप से नरात्मक विश्व कहलाता है। इसे ही 'शेष' कहा जाता है, यह पराशक्ति का 'अपरारूप है। जो कुछ भी इदं रूप में भासमान रहता हुआ, बुलाये जाने पर बुलाने वाले के अहंभाव से युक्त होने पर भी उससे भिन्न इदम् रूप में ही अवस्थित रहता है।

शक्त्यात्मक रूप युष्मत् (आप) शब्द द्वारा वाच्य होता है। 'तुम बैठते हो' - ऐसा बोलने वाले व्यक्ति के आन्तरिक संवेदन में यह चेतना वर्तमान रहती है कि 'जिस प्रकार मैं बैठता हूँ उसी प्रकार यह भी बैठता है,' अत: वह अपने 'अहंभाव' को 'त्वंभाव' के साथ एकाकार कर लेता है।

---

1. प. त्रि. पृ. 118-119
2. प. त्रि. पृ. 118-119

'मैं बैठता हूँ' इस प्रकार से अहं विमर्श की ही प्रधानता जहाँ होती है, वहाँ शिवात्मक रूप होता है।

त्रिक सन्दर्भ में मध्यम पुरुष से भेदाभेद प्रधान शक्ति रूप का अभिप्राय लिया जाता है। यह रूप जहाँ शिवरूप की अपेक्षा से भेद प्रधान है, वहाँ नररूप की अपेक्षा से अभेद प्रधान है। फलत: यह रूप स्वत: विच्छेदसहित होने पर भी विच्छेदहीनता की ओर उन्मुख है। यही कारण है कि शक्ति को सदा शिव की ओर उन्मुख रहने वाली बताया गया है। साथ ही इसी कारण अस्मद् और युष्मद् शब्द को समकक्ष रखा जाता है। मूलत: सारे पदार्थ अपनी अपनी जगह सर्वात्मक हैं। नररूपधारी पदार्थ भी जड़ता छोड़कर शक्तिरूप और शिवरूप प्राप्त कर सकते हैं। शिवभाव सबमें रहता हुआ सबका मूलाधार है।[1]

शिव का यामल स्वरूप इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया के 'त्रिक्' से ही सम्पन्न होकर अनवच्छिन्न भाव से भासता है।[2]

ये इच्छा, ज्ञान, क्रिया तीनों शक्तियाँ ही सूर्य चन्द्र और अग्नि कही गई हैं और इन्हीं को शिव के तीन नेत्र कहा जाता है।[3]

इच्छा, ज्ञान, क्रिया तीनों के सामस्य की अवस्था को शिव-शक्ति का यामल भाव कहा गया है। इसे 'नेत्र' भी कहा गया है।[4]

(XI) सर्वज्ञत्त्व

आचार्य उत्पल देव एवं अभिनव गुप्त का यह मानना है कि प्रमाताओं के भेद पारमार्थिक नहीं है। स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण ही उनमें भेद दिखाई देता है।

---

1. प. त्रि. पृ. 119-120
2. त. सा. 1-3
3. सूर्याचन्द्रमसौ वह्निस्त्रिधाम परिकल्पना।
   त्रिनेत्रकल्पना मह्यं तदर्थमिह दृश्यते।।
   दहनाप्यायने तेन प्राकाश्यं विदधाम्यहम्।
   ने. ते. 1-30, 31
4. तद्वीर्यापूरितं सर्वं मम तेजोपबृंहितम्।
   इच्छा ज्ञान क्रिया रूपं नेत्रामृतमनुत्तमम्।।
   ने. त. 1-32

शिव एक ही प्रमाता है : वास्तविकता यह है कि शिव से लेकर स्थावर तक सर्वज्ञ शिव ही एक प्रमाता है। अनेकानेक रूपों में अपने आपको जानते हुए स्वयं भगवान शिव विराजमान हैं।[1]

जो भगवान सदाशिव जिस वस्तु-पदार्थ को जैसा भी सूक्ष्म-स्थूल रूप से जानता है, उसे पहले से लेकर आखिर तक कीट-पतंगे भी जानते हैं। यहाँ तक एक ही प्रमाता है। इस प्रकार प्रमाता की सर्वज्ञता सिद्ध होती है।

शिव की ज्ञान शक्ति शिव से अभिन्न है : यह है कि ज्ञान शक्ति शिव से लेकर स्थावर जङ्गम तक एक ही है। अत: सर्वज्ञता की सिद्धि हो जाती है।[2] मल से अनावृत्त ज्ञान को भी सर्वग (सर्वज्ञ) कहा गया है।[3]

(XII) पाश्चात्य मत में ज्ञान का स्वरूप[4]

ज्ञान के विषय में यदि पाश्चात्य दृष्टिकोण को देखा जाए तो शैव दर्शन की तुलना मुख्य रूप से 18वीं सदी के दार्शनिक 'हीगेल' से की जा सकती है।

'हीगेल' पूर्ण अद्वैतवादी दार्शनिक है। हीगेल के मत में एकमात्र तत्त्व पूर्ण विज्ञान अथवा चैतन्य है। सम्पूर्ण विश्व इसी का परिणाम है। जो चित् है वही सत्य है।[5]

द्वैतवाद को हीगेल सिरे से खारिज कर देते हैं। उनके मत में द्वैतवाद का प्रश्न ही निरर्थक है।

हीगेल के अनुसार समस्त जगत एक तार्किक व्यवस्था है। एक निरपेक्षतत्त्व

---

1. ई. प्र. वि. हि. व्या. 1-1-5
2. ततश्च भगवान सदाशिवो जानाति इत्यत: प्रभृति किमिरपि जानाति- इत्यन्तम् एव प्रमाता इति फलत: सर्वज्ञत्वं प्रमातु:।''

   ई. प्र. वि. 1-1-5
3. स एव च मलो मूर्त: किं ज्ञानेन न वेद्यते।
   सर्वगेण तत: सर्व: सर्वज्ञत्वं न किं भजेत्।

   त. 9-76
4. दृष्टव्य - प्रमुख पाश्चात्य दार्शनिक - डा. डी.आर. जाटव
5. Whatever is real is ratinal, and whatever is rational is real.... Hegel

   (प्र.पा.दा. पृ.-294)

ज्ञान है, उसी में जीवन, क्रम, विकास, चेतना और ज्ञान रहते हैं। इस निरपेक्ष तत्त्व का लक्ष्य स्वचेतन की ओर गति करना है।

यहाँ शैव दर्शन का शिव का स्वरूप उल्लेखनीय है, जहाँ परम शिव में ही स्वातन्त्र्य विश्व उल्लसित होता है और वह परम तत्त्व स्वयं को बाँधकर स्वयं ही मुक्त होता रहता है।

हीगेल के अनुसार सर्वोच्च विकास की ओर गति करते हुए मन और विश्व प्रयोजन एकात्म हो जाते हैं। यह मत हीगेल का 'निरपेक्ष विज्ञानवाद' कहलाता है।

हीगेल वैज्ञानिक व्याख्या तथा तर्क को ज्ञान प्राप्ति का मुख्य साधन मानते हैं।

शैव दर्शन से यहाँ अन्तर स्पष्ट होता है। शैव दार्शनिक तर्क को बुद्धि का कार्य मानते हैं, परम ज्ञान व मोक्ष प्राप्ति तक तर्क का पहुँचना असम्भव है।

यह भेद केवल उत्पल व हीगेल में ही नहीं है, वरन् भारतीय और पाश्चात्य ज्ञान मीमांसा के विचार में यहाँ पर सदैव विभिन्नता आती है।

पाश्चात्य मत में बुद्धि चेतन है तथा उसे बहुत महत्त्व दिया जाता है।

भारतीय दर्शनों में बुद्धि को जड़ माना जाता है एवं आत्मतत्त्व को ही महत्त्व दिया गया है।

पाश्चात्य दर्शन की पहुँच 'विज्ञान' अथवा प्रत्यय तक है। प्लेटो, हीगेल आदि इसी श्रेणी के दार्शनिक हैं।

भारतीय दर्शन में परम तत्त्व उन प्रत्ययों और विज्ञानों का भी कारण है और मूल तत्त्व है।

विज्ञान चित् आदि तो मूल तत्त्व की शक्तियाँ हैं, जैसे सागर में लहरें। चैतन्य और जड़ पदार्थों का जिस प्रकार भारतीय दर्शन स्थापित करते हैं, पाश्चात्य दार्शनिक उस प्रकार नहीं कर पाते क्योंकि यह व्याख्या तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरती वहीं भारतीय दार्शनिकों की दृष्टि में तर्क की अपेक्षा साधना, योगाभ्यास, गुरु दीक्षा, शास्त्र स्वाध्याय आदि का अधिक महत्त्व है। पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट के अनुसार, मानवीय ज्ञान संवेदन से प्रारम्भ होता है, धारणाओं तक जाता है और प्रत्ययों में समाप्त हो जाता है।

ज्ञान की मूल सामग्री हमें संवेदन से मिलती है, ऐसा काण्ट मानते हैं। संवेदन प्रत्यक्ष क्रिया है। देश और काल को काण्ट मन से उत्पन्न मानते हैं।

काण्ट के अनुसार ज्ञान की प्राप्ति के लिए इन्द्रिय संवेदन बुद्धि द्वारा उनमें सामञ्जस्य स्थापित करना तथा विवेक शक्ति द्वारा व्यावहारिक जगत की विभिन्नताओं में संतुलन निश्चित करने से होती है।

काण्ट के अनुसार अनुभव तथा बुद्धि दोनों का अपना-अपना महत्त्व है। वे कहते हैं-

प्रत्ययों के बिना प्रत्यक्ष अन्धे हैं,
प्रत्यक्षों के बिना प्रत्यय खाली
हैं।[1]

पाश्चात्य दार्शनिकों में ज्ञान को सबसे अधिक सम्मान सुकरात के दर्शन में मिलता है। सुकरात सन्त श्रेणी के दार्शनिक थे।

सुकरात के अनुसार 'ज्ञान' सर्वोत्तम 'शुभ' है। ज्ञान ही 'सद्गुण' है। ज्ञान से समस्त बुराईयाँ दूर की जा सकती है।[2]

सुकरात के शिष्य प्लेटो ने विशुद्ध ज्ञान की ओर एक कदम और बढ़ाया है। प्लेटो के अनुसार ज्ञान सत्य के प्रति अनुराग से ही होता है। सत्य की खोज ज्ञान की ओर ले जाती है।

प्लेटो भी तर्क को महत्त्व देता है। उनके अनुसार द्वन्द्वात्मक पद्धति या तर्क का उद्देश्य सार्वभौम ज्ञान की प्राप्ति करना ही है। प्लेटो के अनुसार ज्ञान का सर्वोच्च स्तर बौद्धिक अन्त:दृष्टि है।

ज्ञान का मूल विषय 'प्रत्यय' हैं। पदार्थ वास्तविक नहीं है, किन्तु पदार्थों के 'प्रत्यय' जो विज्ञानरूप हैं, वे ही वास्तविक तत्त्व हैं।

यह प्रत्ययवाद बौद्ध विज्ञानवाद के साथ कुछ समानता रखता है। प्लेटो विज्ञानवादियों के विपरीत प्रत्ययों को नित्य अपरिणामी तथा मूल दृव्य मानता है।

प्लेटो ने प्रत्यय अथवा 'विचार' को बौद्धिक जगत् से पृथक् करके माना किन्तु अरस्तु ने यह प्रतिपादित किया कि नित्य प्रत्ययों को वस्तु जगत से अलग

---

1. Precepts without concepts are blind; concepts without precepts are empty. (प्र.पा.दा. पृ.-294)
2. 'Knowledge is Virtue',
   'Knowledge is the highest good' वही, पृ. 290

नहीं कर सकते।

अरस्तु ज्ञान तथा प्रत्ययों के साथ वस्तु-जगत् का अस्तित्त्व भी स्वीकार करता है।

भारतीय दर्शन ज्ञान को आत्मा के साथ जोड़ता है, परम तत्त्व के साथ ज्ञान का तादात्म्य तथा एकरूपता स्वीकार करता है। शैव दर्शन में ज्ञान को प्रकाशरूप पूर्ण चेतन माना गया है। यहाँ ज्ञान शिव तत्त्व से भिन्न नहीं है। पाश्चात्य दार्शनिक ज्ञान के विषय में बुद्धि व मन से ऊपर नहीं उठते।

मोक्ष के प्रत्यय का भी पाश्चात्य एवं भारतीय दर्शन का मुख्य अन्तर है। यह ज्ञान मीमांसा का प्रमुख कारण है। जहाँ भारतीय दर्शन दु:खों की आत्यन्तिक, एकान्तिक निवृत्ति की बात करता है, जीवन मरण के फेरे से छूटकर शिव, ब्रह्म में लीन होने की बात करता है, वहीं पाश्चात्य दर्शन व्यवहार जगत् की उलझनों को सुलझाने में अधिक व्यस्त है।

पाश्चात्य जगत् में ज्ञान की चर्चा का आरम्भ ही व्यावहारिक आवश्यकताओं के लिए हुआ। सर्वप्रथम सोफिस्टों द्वारा दर्शन की शिक्षा कुलीन व्यक्तियों को व्यवहार कुशल बनाने के लिए दी जाती थी। भारतीय दर्शन में गुरु शिष्य को मोक्ष के लिए ज्ञान प्रदान करता था-

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्माऽमृतं गमय।

वहाँ शक्तिपात्, दीक्षा, गुरु का शिवमयत्व साधना, योग आदि सब विचार ढूंढे नहीं मिलते केवल तर्क का पक्ष पाश्चात्य दर्शन लेता है। उनके अनुसार ज्ञान वही सच्चा है जो तर्क की कसौटी पर खरा उतरे।

भारतीय दर्शन तर्क को ज्ञान का विरोधी मानता है। तर्क को हेत्वाभास के अन्तर्गत लेता है। यह मान भी लिया जाये कि यह बुद्धि और तर्क भारतीय दर्शनों की आत्मा और चिन्तन के समान विचार हैं तो भी उद्देश्य और आचरण की वह उदात्तता पाश्चात्य दर्शन में दिखाई नहीं देती जो हमारे दर्शन की प्रमुख विशेषता है। भारतीय दर्शन सांसारिक सुखों के रास्ते दार्शनिक के लिए नहीं खोलता बल्कि उसे संसार से विरत करके जोगी बना देता है, वह बात पाश्चात्य दर्शन में नहीं है।

इससे स्पष्ट होता है कि शैव दार्शनिकों के अनुसार पूर्ण ज्ञान का कोई बाधक नहीं होता। ऐसा ज्ञान ही सच्ची मुक्ति प्रदान कर सकता है। अज्ञान से संकोच की वृद्धि होती है जो संसार का कारण बनती है किन्तु पूर्ण ज्ञान मुक्ति का दाता होता है।

ज्ञान तथा अज्ञान दोनों ही बौद्ध तथा पौरुष के भेद से दो प्रकार के होते हैं। बौद्ध ज्ञान शुद्ध विकल्पात्मक होता है तथा पौरुष ज्ञान उससे श्रेष्ठ होता है क्योंकि यह निर्विकल्पात्मक होता है। इन दोनों में पोष्य-पोषक भाव है।

शैव दर्शन के अनुसार वह ज्ञान रूपी प्रकाश ही है जो अज्ञान रूपी तिमिर को सदा के लिए हटा देता है और मुक्ति रूपी परम प्रकाश से साक्षात्कार करवाता है। जब पूर्ण परवास्था की प्राप्ति होती जाती है, वेधवेतृभाव समाप्त हो जाता है, सूक्ष्मावस्था आ जाती है तब अभेद होने पर वही अखण्ड ज्ञान प्राप्त होता है यह मोक्ष की अवस्था होती है।

जब प्रक्षुब्धावस्था नहीं थी तब एकमात्र ऐसा परामर्श था जो कि अपने आप में ही स्थित था वह एकवीरक परामर्श कहा जाता है, उसी में विश्व उन्मेष का प्रथम स्पन्द हुआ वह स्थिति ज्ञान शक्ति कही जाती है।

ज्ञान को त्रिप्रत्यय कहा जाता है क्योंकि यह स्वात्म, शास्त्र तथा गुरु, तीनों से प्राप्त किया जा सकता है। कभी इन तीनों के एक साथ होने से ज्ञान की उत्पत्ति होती है कभी अकेले शास्त्र या गुरु के अनुग्रह से भी परम् ज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है। शिव की इच्छा ही ज्ञान की उत्पत्ति का सर्वोपरि कारण है।

इच्छा ज्ञान और क्रिया में से किसी एक का भी अभाव होने से कोई कार्य पूरा नहीं हो सकता यह अनुभव सिद्ध है। इन तीनों शक्तियों की समरसता सृष्टि की उत्पत्ति के समय रहती है। जब घट आदि का ज्ञान होता है तब भी जानने की क्रिया भी साथ में होती है, ज्ञान भी रहता है व इच्छा भी रहती है क्योंकि इच्छा रहित व्यक्ति को ज्ञान नहीं हो सकता।

तन्त्रालोक के अनुसार ''विश्व भावों का एक निर्विकल्प भावमय स्वरूप साक्षात्करण ही पुद्गल प्राणियों का पूर्ण पारमेश्वर ज्ञान है। अन्य विकल्पात्मक ज्ञानों की तो कोई सीमा नहीं है।

शैव दर्शन के अनुसार सभी विकल्पात्मक भावों में एक परम प्रकाश रूप

महाभाव है इसका साक्षात्कार अणु पुरुषों का परात्पर ज्ञान है। विकल्पात्मक ज्ञान अपूर्ण होते हैं जिन्हें शाक्त या आणव ज्ञान कहा जाता है। ये अपूर्ण होते हैं।

परम ज्ञान के उपाय तीन प्रकार के हैं - शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय तथा आणवोपाय। शाम्भवोपाय अपने चरम स्वरूप में पहुँच कर अनुपाय विज्ञान बन जाता है। शाक्तोपाय में ज्ञान शक्ति का तथा आणवोपाय में क्रिया शक्ति का प्राधान्य रहता है।

शैव मतानुसार ज्ञान स्वयं अमूर्त है तथा यह चित् स्वभाव वाला होता है। यदि ऐसा न होता तो उसका आवरण हो जाता। जैसे सूर्य की रश्मियों का आवरण बादल से हो जाता है, आँख की रश्मियों का आवरण पलकों से हो जाता है किन्तु ज्ञान का आवरण सम्भव नहीं है अत: यह चित्स्वभाव वाला है।

एक ओर तो गुरु दीक्षा की तलवार से पाप विखण्डित होकर छिन्न-भिन्न हो जाता है व दूसरी और आगम से (शास्त्र पठन से) उसकी भावनाओं का परिष्कार हो जाता है ।

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में ज्ञान के विषय में अत्यन्त विस्तृत विवेचन पाया जाता है जो कि अत्यन्त मौलिकतापूर्ण तथा गहन अर्थवत्ता को धारण करने वाला है। ज्ञान सम्बन्धी विचारों को जानने से शैव दर्शन के मूल सिद्धान्तों को समझने में भी सहायता मिलती है।



तृतीय अध्याय

स्मृति तथा अपोहन शक्ति निरूपण

ज्ञान शक्ति निरूपण के सन्दर्भ में ही आचार्य उत्पलदेव ने स्मृति शक्ति का निरूपण किया है। स्मृति शक्ति की अवधारणा के द्वारा आचार्य उत्पल बौद्ध दार्शनिकों की आलोचनाओं का खण्डन कर देते हैं।

यदि स्थायी आत्मा का अस्तित्व ही नहीं होगा तो स्मृति कौन करेगा ? स्मृति यदि मानेंगे तो आत्मा का अस्तित्व मानना ही पड़ेगा।

शैव दार्शनिक यह मानते हैं कि स्मृति केवल एक मानसिक प्रक्रिया नहीं है, वरन् परम शिव की शक्ति है।

बौद्ध दार्शनिक क्षणवाद को मानते हैं, इसलिए वे स्थायी आत्मा को मानने के पक्ष में नहीं है। वसुबन्धु विज्ञप्ति को शाश्वत मानते हैं और दिग्नाग उसे ही स्वलक्षण कहते हैं। बौद्ध दार्शनिकों की इन धारणाओं का खण्डन करते हुए ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकार स्मृति से आत्मा की सिद्धि करते हैं। यदि आत्मा नहीं होती तो स्मरण कौन करता ? स्मृति भ्रान्ति नहीं है। लोक व्यवहार स्मृति शक्ति के बिना नहीं चल सकता। व्यवहार में हम स्मृति को मस्तिष्क की योग्यता विशेष के रूप में जानते हैं जो अनुभूत सूचनाओं को एकत्र करती है, किन्तु शैव दर्शन में स्मृति परमशिव की शक्ति के रूप में मानी गई है। अपोहन शक्ति परमशिव की शक्ति है जो भेद तथा विश्व को प्रकाशित करती है। यह स्मृति व ज्ञान दोनों पर अनुग्रह करने वाली शक्ति है। बौद्ध अपोहवाद के अनुसार भी विकल्पों की सृष्टि बुद्धि अपोहन द्वारा करती है। किन्तु यह मत पूर्णतया शैव सिद्धान्त के समान नहीं है यहाँ अपोहन शक्ति है और परमशिव ही कर्ता है। शिव की ज्ञातृत्व शक्ति के ही तीन विभाग किए गए हैं–

न चेदन्तः कृतान्तविश्वरूपो महेश्वरः।
स्यादेकश्चिद्वपुर्ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्ति मान ।।[1]

---

1. ई. प्र. 1– 3–7

I. ज्ञान के विषय में बौद्ध मत

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा के ज्ञानाधिकार के दूसरे आह्निक में आचार्य उत्पल पूर्वपक्ष के तर्कों को रखते हुए अपने सिद्धान्त की स्थापना करते हैं। बौद्ध दार्शनिक क्षणवाद को मानते हैं, इसलिए वे यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि कोई सर्वज्ञ, सर्वकर्तृत्व सम्पन्न आत्मा है। वे परम शिव की सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता तथा स्वप्रकाशता के विरोध में तर्क देते हैं।

II. बौद्ध दर्शन में ज्ञान का स्वरूप

ज्ञान के स्वरूप के विषय में बौद्ध, मीमांसकों तथा चार्वाकों के मत से ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकार का मत अलग ही नहीं बल्कि विशिष्ट भी है। पूर्वपक्ष तथा उत्तर पक्ष के तर्कों द्वारा विमर्शिनीकार ने इस प्रकार इन मतों का निरास किया है।

बौद्ध मत : इस संसार में 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार व्यवहार में लाये जाने वाले परामर्शों के रूप में, भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार वाले ज्ञान क्षण ही प्रकाशमान हैं।''[1]

बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार इन भिन्न-भिन्न ज्ञान क्षणों के अतिरिक्त और किसी आधारभूत स्पन्दात्मक चैतन्य (स्वभाव भूति विश्वात्मा) की सत्ता को स्वीकारना ठीक नहीं है क्योंकि वे ज्ञान क्षण स्वयं ही प्रकाशमान हैं उनको किसी दूसरे पदार्थ के द्वारा प्रकाशित होने की आवश्यकता नहीं पड़ती। ज्ञान एक ही प्रकार का नहीं है अपितु प्रमाता जो कि स्वयं भी ज्ञान रूप है के हृदय में, अजस्र रूप में भिन्न-भिन्न समय, भिन्न-भिन्न विषय व भिन्न-भिन्न आकार प्रकारों के साथ सम्बन्धित ज्ञान क्षणों की एक धारा बहती रहती है।[2] जिसको 'ज्ञान-सन्तान' कहते हैं। एक ज्ञान तो केवल तीन क्षण ठहर सकता है।[3]

ये ज्ञान क्षण दो प्रकार के हैं निर्विकल्प और सविकल्प। निर्विकल्प ज्ञानक्षणों का शास्त्रीय नाम 'स्वलक्षणाभास' है।[4] अर्थात् किसी वस्तु का पहली बार प्रत्यक्ष

---

1. भारतीय दर्शन – बलदेव उपाध्याय, पृ. 124
2. ज्ञानान्येव प्रकाशन्ते भिन्नकालानि भिन्नाविषयाणि भिन्नाकाराणि च। इ. प्र. वि., पृ. 54
3. भा. द. ब. उ., पृ. 125
4. तत्र नीलप्रकाशः 'स्वलक्षणाभास ज्ञानम्' 'स्वम्' अन्यानुयायि स्वरूप संकोचभाजि 'लक्षणं' देशकालकार रूपं यस्य तस्य 'आभासः' प्रकाशनम् अन्तर्मुखं यस्मिन्। ई. प्र.

हो जाने पर उस वस्तु के साथ सम्बन्धित वह प्राथमिक ज्ञानक्षण, जिसमें उस वस्तु का, किसी भी नामरूपात्मक विकल्प से रहित और केवल उस वस्तु के विकल्पहीन स्वरूप में परिनिष्ठत रूप में हो जाता है। यह प्राथमिक ज्ञान क्षण उस वस्तु या अवस्था के विकल्पहीन स्वरूप में ही संकुचित होने के कारण एक ही प्रकार का है।[1] अत: उसके द्वारा सांसारिक आदान-प्रदान सम्भव नहीं हो सकता। यह निर्विकल्प ज्ञान क्षण अपने संस्कार के द्वारा दूसरे सविकल्प ज्ञानक्षण को जन्म देता है। इस क्षण तक पहुँचते-पहुँचते उसी पूर्वानुभूत वस्तु या अवस्था के साथ नामरूपात्मक विकल्पों का सम्बन्ध हो जाता है। ये अनेक प्रकार के हैं।[2] नाम के चार भेद हैं- 'वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान'। रूप को मिलाकर यह पंच स्कन्धों का जो समुदाय है यह सन्तान रूप में बहने वाली ज्ञान धारा है जिससे समस्त वे कार्य किए जाते हैं जो आत्मा के लिए अपेक्षित हैं।[3]

बौद्धों की स्वलक्षण की भावना का प्रसंगवश कुछ विवेचन करना प्रासंगिक होगा।

III. स्वलक्षण एवं विज्ञप्तिमात्रता

बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु के अनुसार विज्ञप्तिमात्रता ही परम सत् है। दृश्य जगत् मिथ्या है। इसकी सभी वस्तुएँ प्रतिभास मात्र हैं। जिस प्रकार तिमिर रोग (एक प्रकार का नेत्र रोग) से ग्रस्त व्यक्ति को आँखों के सामने काले बालों के गुच्छे दिखाई देते हैं अथवा आँख दबाने पर दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं, किन्तु उनका अस्तित्व नहीं होता। इसी प्रकार बाह्य वस्तुओं की प्रतीति होती है। किन्तु वस्तुत: उनका अस्तित्व नहीं होता।

वसुबन्धु के अनुसार वस्तु विज्ञप्तिमात्र है। विषय न अवयवी के रूप में एक

वि., पृ. 54

1. स्वलक्षणाभासं ज्ञानमेकम्....। इ. प्र. वि. 1-2-1
2. साभिलापंविकल्पाख्यं बहुधा....। (इ. प्र. वि. 1-2-1.)
3. .... नापि तद्द्वयम्।
   नित्यस्य कस्यचिद्द्रष्टुस्तस्यात्रानवभासत:।
   अहं प्रतीतिरप्येषा शरीराद्यवसायिनी (इ. प्र. वि. - 1-2-1)
   तथा - यदि आत्मा कश्चिदस्ति, किं तेन। ई. प्र. वि. 3

है, न परमाणुओं के रूप में अनेक हैं। वह परमाणुओं का समूह भी नहीं हो सकता क्योंकि परमाणुओं की सिद्धि ही सम्भव नहीं है।[1]

इसी विज्ञप्ति मात्रता को वसुबन्धु 'तथता' कहते हैं क्योंकि यह सर्वदा एकरस और नित्य है।[2]

वसुबन्धु के अनुसार सभी दोषों से रहित, अनिर्वचनीय, अचिन्त्य, आनन्द-स्वरूप (सुख) शाश्वत, ध्रुव, मुक्ति स्वरूप और महामुनि बुद्ध का धर्मकाय विज्ञप्ति मात्रता है-

स एवानास्त्रवो धातुरचिन्त्यं; कुशलोध्रुवः।
सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुनेः।।[3]

क्षणिक विज्ञानों का प्रवाह साधक के अर्हत् पद पा लेने पर जब सूख जाता है तब विज्ञप्ति मात्रता शेष रहती है, आलय विज्ञान का प्रवाह सूख जाता है। इसीलिए इसे ध्रुव कहा गया है। संसार अनित्य होने से दुःख है, विज्ञप्ति नित्य होने से सुख है।[4]

वसुबन्धु के समान ही दिङ्नाग और उनके अनुयायियों ने भी विज्ञप्ति या चित्त को ही निरपेक्ष सत् माना किन्तु संशोधित रूप में। वसुबन्धु ने विज्ञप्ति को शाश्वत माना था किन्तु दिङ्नाग ने यह घोषित किया कि विज्ञप्ति शाश्वत नहीं बल्कि विज्ञानों की प्रतिक्षण परिवर्तनशील सन्ततिमात्र है। इसका स्वरूप क्षणिकत्व ही है। दिङ्नाग के अनुसार किसी नित्य वस्तु से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती

---

1. न तदेकं न चाप्यनेकं विषयः परमाणुशः।
   न च त संहत यस्मात्परमाणुर्न सिध्यति।।
   षट्केन युगपद योगात् परमाणोः षडैशता।
   षण्णां समानदेशत्वात् पिण्डः स्यादणुमात्रकः।।
   वि. मा. सि. वि. 11/2
2. धर्माणां परमार्थश्च स स यतस्तथतापि स।
   सर्वकालं तथाभावात् सैव विज्ञप्तिमात्रता।।
   वि. मा. सि. त्रिं. 25
3. वही-30
4. ध्रुवो नित्यत्वात् अक्षतया। सुखो नित्यत्वादेव। यदनित्यं तद् दुःखम्।
   अयं च नित्य इति, अस्मात् सुखः। त्रिंशिकाविज्ञप्तिभाष्य, पृ. 56

क्योंकि उत्पत्ति का अर्थ है परिवर्तन।[1]

दिङ्नाग ने ही क्षणिक विज्ञप्ति मात्रता को स्वलक्षण का नाम दिया। उनके अनुसार स्वलक्षण ही परमार्थ सत् है। यह देश, काल, स्वभाव आदि बुद्धि की कोटियों से परे हैं।[2]

स्वलक्षण की सत्ता सबसे भिन्न है। यह स्वप्रकाश और निर्मल है किन्तु आगन्तुक गुणों के कारण मलिन प्रतीत होता है।[3]

प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय यही 'स्वलक्षण' है न कि सामान्य लक्षण।[4] यही साधक का लक्ष्य होना चाहिए।[5]

इसी स्वलक्षण की भावना को आधार बनाकर बौद्ध दार्शनिक शंकाएँ उठाते हैं कि 'अहं' शब्द से शरीर सन्तान या ज्ञान सन्तान का ही बोध होता है। 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ', इस प्रकार की अनुभूति भी शरीर को ही विषय करती है। कोई अन्य ज्ञाता या दृष्टा सिद्ध नहीं होता।

ननु स्वलक्षणाभासं ज्ञानमेकं परं पुनः।
साभिलापं विकल्पाख्यं बहुधा नापि तद्द्वयम्।
नित्यस्य कस्यचिद्दृष्टुस्तस्यात्रानवभासतः।
अहं प्रतीतिरप्येषा शरीराद्यवसायिनी।।[6]

आत्मा को न मानने पर स्मृति का प्रश्न उठता है। स्मृति की सिद्धि किस प्रकार की जायेगी?

पूर्वपक्षियों के अनुसार स्मृति संस्कार से भी मानी जा सकती है। आत्मा है भी तो जब अनुभव ही नष्ट हो गया (क्षणवादियों के अनुसार) तब स्मृति कैसे हो सकती हैं?

---

1. अर्थक्रियाकारित्वलक्षणमयं परमार्थ सत् – न्यायबिन्दु 1-15
2. 'तदेव परमार्थसत्।। न्यायबिन्दु प्रकरण 1-14 प्रत्यक्षपरिच्छेदो
3. प्रभास्वरमिदं चित्तं प्रकृत्यागन्तवो मत्याः। प्रमाणवार्तिक 2-208
4. तस्य विषयः स्वलक्षणम्।। न्यायबिन्दु प्रकरण प्र. प. 12
5. यस्यार्थऽस्य सन्निधाना सन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभास भेदस्तत् स्वलक्षणम्। तदेव परमार्थ सत्।। न्यायबिन्दु प्रकरण – प्रत्यक्ष परिच्छेद – 13, 14
6. ई. प्र. 1-2-1,2

अनुभव को अगर नित्य मान लिया जायेगा तो पदार्थों का ज्ञान सदा बना रहेगा। ऐसी स्थिति में न स्मृति की आवश्यकता होगी और न स्मृतिकर्त्ता की।

यदि कहा जाये कि पूर्वानुभव के संस्कार से ही स्मृति सम्भव है तो संस्कार से ही काम चला लेना चाहिए आत्मा को मानने की आवश्यकता ही क्या है।[1]

इस शंका को बल प्रदान करते हुए कहते हैं कि यदि संस्कार को स्मृति का कारण कहा जाये तो संस्कार का आश्रय किसे कहा जायेगा? संस्कार गुण है और गुण को आश्रय की अपेक्षा होती है।

संस्कार धर्म रूपी वह स्वतन्त्र नहीं हो सकता, अत: उसका कोई धर्मी अवश्य मानना पड़ेगा। यदि ज्ञान सन्तान को संस्कार का धर्मी मान लिया जाये तो पहले ज्ञानों से भिन्न कोई सन्तान ही नहीं बन पाता है जिससे वह ज्ञान सन्तान उत्पन्न हो सके।

यदि कहें कि वह सन्तान ज्ञानों में ही संस्कार रूप से रहता है, तो भी ऐसा कहना संगत नहीं होगा। अन्यत्र किया हुआ अनुभव का विषय, किसी अन्य में संस्कार रूप होकर स्मृति को पैदा नहीं कर सकता है। ऐसा देखा भी नहीं जाता है कि चैत्र को अनुभव हुआ और स्मृति मैत्र को हुई हो। इसलिए अनुभव और संस्कार के अभेद को मानना पड़ेगा।[2]

इसी प्रसंग में संस्कार के आश्रय की अनिवार्यता बताते हुए कहते हैं कि आत्मा को वह आश्रय माना जाये। उसमें भिन्न-भिन्न धर्म होते हुए भी स्वरूप में भेद नहीं होता। वही दृष्ट के समान स्मरण करने वाला आत्मा है।

इस पर शंका उठाते हैं कि ऐसा मानने पर तो आत्मा भी अनित्य ही है। यदि वह संस्कार से अप्रभावित है तो आत्मा को मानने से क्या लाभ है?

---

1. सत्याप्यात्मनि दृङ्नाशात्तद्द्वारा दृष्टवस्तुषु।
स्मृति: केन..... अथ यत्रैवानुभवस्तप्रदैव सा।।
यतो हि पूर्वानुभव संस्कारात्स्मृतिसंभव:।
यद्येवमन्तर्गड्डुना कोऽर्थ: स्यात्स्थायिनात्मना।।
ई. प्र., 1-2-4, 5

2. ततो भिन्नेषु धर्मेषु तत्स्वरूपाविशेषत:।
संस्कारात्स्मृति सिद्धौ स्यात्स्मर्ता दृष्टेव कल्पित:।।
ई. प्र. 1-2-6

स्मृति के वक्त संस्कार पर आधारित मानी जा सकती है। मैं स्मरण करता हूँ, यह जो अनुभव है वह शरीर सन्तान प्रवाह और ज्ञान सन्तान प्रवाह है।[1]

इसी तर्क को बढ़ाते हुए तर्क देते हैं कि जैसे वर्षा और ताप से आकाश का कुछ भी नुकसान नहीं होता किन्तु चमड़े पर उसका है। यदि आत्मा चमड़े के समान मानते हैं तो वह प्रभावित होने के कारण अनित्य होगा एवं यदि आत्मा को आकाश के समान मानते हो तो वह नहीं के बराबर होगा अर्थात् उसका होना या न होना एक समान निरर्थक हो जायेगा। अत: आत्मा नहीं है।[2]

इसके बाद बौद्ध दार्शनिक ज्ञान शक्ति के विषय में शंका उठाते हैं-

यदि ज्ञान चित्स्वरूप है तो क्या आत्मा की तरह अनित्य है? और यदि वह जड़ है तो पदार्थों का प्रकाश कैसे करेगा ? ऐसा तर्क इसलिए दिया जा रहा है कि आत्म तत्त्व की सत्ता मानने वाले सिद्धान्ती ऐसा मानते हैं कि 'काल' उसी वस्तु का नाम है किसी वस्तु का विशेषण होकर आता है। वह वस्तु पदार्थ को विशिष्ट बनाता हुआ संकोच से उसे अनित्य बना देता है। आत्मा चेतन है, अत: संकोच भाव उसमें नहीं हो सकता।[3]

इस प्रकार से आत्मा को चेतन व संकोच भाव रहित मानने पर ज्ञान को भी प्रकाशमान व नित्य माना जाना चाहिए। दोनों के ही नित्य होने पर संबंध नहीं बन पायेगा व कार्यकारण भाव नहीं बन पायेगा। इसलिए ऐसा मानना चाहिए कि ज्ञान आत्मा की शक्ति है, स्वप्रकाश ज्ञान का अस्तित्व नहीं है।

सांख्य मतवादियों की शंका : सांख्य दार्शनिक शंका करते हैं कि पदार्थ में स्वयं को जनाने की शक्ति नहीं होती। ऐसा होता तो सभी को सभी पदार्थों का ज्ञान

---

1. संस्कारादेव स्मृति सिद्धिः' इति। अहं स्मरामि- इति
य: स्मर्ता सोऽपि शरीर संतानो, ज्ञान संतानश्च अध्यवसीयते, यथा 'दृष्टा'
ई. प्र. वि. 1-2-6
2. वर्षा तापाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मव्यतिरिततयोः फलम्।
चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः स्वतुल्यश्चेदसत्समः।।
ई. प्र. 1-2-6
3. ज्ञानं च चित्स्वरूपं चेत् तद् अनित्यं किमात्मवत्।
अथापि जडमेतस्य कथमर्थ प्रकाशता।।
ई. प्र. 1-2-7

होता अथवा किसी को कुछ भी ज्ञान नहीं होता। अतः सारा जग या तो सर्वज्ञ या मूर्ख हो जायेगा। इन्हीं तर्कों के आधार पर सांख्य दार्शनिक यह मानते हैं कि अन्य किसी में यह प्रकाशता माननी पड़ेगी।

सांख्यों के अनुसार ज्ञान अन्य तत्त्व के सत्त्वगुण की प्रधानता से प्रतिबिम्ब ग्रहण करने योग्य हो जाता है। यही बुद्धि तत्त्व है। बुद्धि तत्त्व तमोगुण के प्रभाव से सम्पूर्ण प्रकाश से दूर हो जाता है तथा रजोगुण से तमोगुण को हटा देने से कुछ ही अंश में प्रतिबिम्ब ग्रहण कर पाता है। सांख्य दार्शनिक कहते हैं कि बुद्धि प्रकाश के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने के प्रभाव से आया हुआ प्रकाश का प्रवेश है जो कि बुद्धि तत्त्व में प्रतिबिम्बित हुआ था, वही नील आदि पदार्थों तक कायम रहता है और पदार्थ प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार समस्त जगत का व्यवहार चलता है।[1]

इस प्रकार पूर्वपक्षी यह प्रतिपादित करते हैं कि ज्ञान भी जड़ है। ज्ञान चित्प्रतिबिम्ब के योग से विषय को प्रकाशित कर लेता है।

चैतन्य के प्रतिबिम्ब योग से बुद्धि जड़ होते हुए भी संविद्रूप हो जाती है। क्योंकि जड़ता के अर्थप्रकाशता नहीं रहती। प्रकाश उस प्रतिबिम्ब में होने पर भी कार्य नहीं कर सकता। अग्नि का प्रतिबिम्ब दर्पण में हो तो भी पदार्थों को वह जला नहीं सकता।

यहाँ विज्ञानवादी तर्क करते हैं कि बुद्धि यदि चित्रूप हो जाती है तब पुरुष को मानने की क्या आवश्यकता है ? बुद्धि ही अपना कार्य करके प्रतिबिम्ब द्वारा पदार्थ विषयक हो जाती है। यह विज्ञानवादियों द्वारा मान्य ज्ञान का स्वरूप है।[2] उनका मानना है कि यदि बुद्धि को चेतन माना जाये तो वह भी आत्मा की तरह नित्य हो जायेगी। यदि नित्य नहीं है तो पुरुष (आत्मा) की नित्यता भी नहीं रहेगी जिसमें ज्ञान शक्ति की स्थिति हो सके।

इसलिए निष्कर्ष यह निकलता है कि ज्ञान अर्थप्रकाश स्वभाव वाला है और विकल्प स्मृति आदि रूपों को धारण करता है। इस प्रकार मानने पर समस्त अर्थ व्यवहार की सिद्धि हो जायेगी। इस प्रकार पूर्व पक्षी ज्ञानप्रकाशयुक्त आत्मा का

---

1. अर्थस्य यथा रूपं धत्ते बुद्धिरतथात्मनः।
   चैतन्य..... ई. प्र. 1-2-8
2. ई. प्र. वि. 1-2-8

विरोध करते हैं।

बौद्ध मत का निरास : बौद्धों का खण्डन करते हुए आचार्य उत्पल कहते हैं कि आत्मा है तभी दृष्ट वस्तु का कालान्तर में भी स्मरण होता है, यदि आत्मा नहीं होती तो स्मरण करता ही कौन?[1] फिर यदि बौद्ध कहते हैं केवल संस्कार से ही व्यवहार हो जायेगा आत्मा का क्या प्रयोजन?[2] तो यह सम्भव नहीं है क्योंकि उस संस्कार का आश्रय आत्मा को मानना ही पड़ेगा।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि शैव दर्शन की यह मान्यता है कि ज्ञान के विभिन्न क्षणों में चेतन व स्वयं प्रकाशता अनुस्यूत है।

IV. स्मृति शक्ति निरूपण

स्मृति सिद्धि : स्मृतिज्ञान है क्योंकि वह पूर्व अनुभव के संस्कार से उत्पन्न होता है। स्मृति ज्ञान पूर्वानुभव संस्कार से उत्पन्न होकर अपने में ही रहता है, वह विषय के साक्षात् ज्ञान जैसा नहीं होता।[4]

इस प्रकार का स्मृति द्वारा विषय का स्मरण ज्ञान की स्वप्रकाशता के कारण होता है।[5]

स्मृति भ्रान्ति नहीं है : अनुभूत विषय का विनष्ट नहीं होना और बीच में कुछ काल लुप्त होने के समान पूर्ण रूप से छिपकर पुनः प्रकाशित होना ही स्मृति है।[6]

---

1. सत्यप्यात्मनि दृङ्नाशात्तद्द्वारा दृष्ट वस्तुषु।
   स्मृतिः केन अथ यत्रैवानुभवस्तत्पदैव सा ।।4 ।।
2. यद्येवमन्तर्गडुना कोऽर्थः स्थात्स्थायिनात्मना ।।5 ।।
3. ततो भिन्नेषु धर्मेषु तत्स्वरूपविशेषः।
   संस्कारत्स्मृतिसिद्धौ स्यात्स्मर्ता द्रष्टेव कल्पितः ।।6 ।। ई. प्र. वि. 1, 2, 5-6
4. ई. प्र. 1-3-1 'सत्यं किन्तु स्मृतिज्ञानं पूर्वानुभव संस्कृतेः
   जातमप्यात्मनिष्ठं तन्नाद्यानुभववेदकम् ।।
5. दृक्स्वभासैव नान्येन वेद्या रूपदृशेव दृक्।
   रसे संस्कारत्वं तु तत्तुल्यत्वं न तद्गतिः ।।
   ई. प्र. 1-3-2
6. अनुभूतस्य अनुभव प्रकाशितस्य विषयस्य अप्रमोषोऽनपहारेः
   तथैव प्रकाशनं यत् एतत् स्मृतेः आत्मीयं रूपं तथा प्रकाशना भावे विघटेततमाम्।
   ई. प्र. 1-3-2

यदि स्मृति को भ्रान्ति मान लिया जायेगा तो स्मृति की उत्पत्ति का आधार ही नहीं होगा। अनुभव के संस्कार की बात भी व्यर्थ ही जायेगी।

स्मृतितैव कथं तावद्भ्रान्तेश्चार्थस्थितिः कथम्।
पूर्वानुभव संस्कारापेक्षा च किमितीष्यते।।[1]

भ्रान्ति होने पर उसका अपना आकार प्रकट होता है, उससे पदार्थ का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि वह अप्रकाशित रहता है। प्रकाशित होना ही व्यवस्थित होना है। भ्रान्ति से अर्थ की व्यवस्था नहीं हो सकती

भ्रान्ति तो विषय को स्पर्श भी नहीं करती इसलिए भ्रान्ति का स्मृति से कोई सम्बन्ध नहीं है।[2]

यदि भ्रान्ति से प्रकाशन माना जायेगा तो वह भ्रान्ति नहीं रहेगी और यदि प्रकाशन नहीं माना जायेगा तो स्वतः ही असिद्ध हो जायेगी।[3]

V. लोक व्यवहार के लिए स्मृति आवश्यक है

स्मृति लोक व्यवहार के लिए अतिआवश्यक है। स्मरणमूलक ही सारे व्यवहार होते हैं। सुख, दुःख, त्यागना, लेना, प्रेरणा, स्वीकृति, सभी व्यवहार स्मरण मूलक होते हैं। बौद्ध मत को स्वीकार करने पर लोकव्यवहार विनष्ट हो जायेगा-

एवमान्योन्यभिन्नानामपरस्परवेदिनाम्।
ज्ञानानामनुसंधानजन्मा नश्तेज्जनस्थितिः।।[4]

स्मृति शिव की ही शक्ति है : समस्त विश्व शिव तत्त्व के भीतर समाया हुआ है। ज्ञान, स्मृति, अपोहन सब शिव में ही स्थित है। अपने स्वरूप से अर्थराशि उसी में लीन रहती है। ज्ञान शक्ति के प्रभाव से अनेक प्रकार के आभास उदित व अस्त होते हैं। पहले ग्रहीत होने पर जो आभास बर्हिमुख हुआ था, उसका जो

---

1. ई. प्र. 1-3-4
2. न च अनुभवेन विषयप्रकाशनात्मना स्मृत्यभिधानाया भ्रान्तेः किंचिदपि दृश्यम् अस्ति, सर्वथा विषयमस्पृशन्त्याः। ई. प्र. वि. 1-3-4
3. भ्रान्तित्वे चावसायस्य न जडाद्विषयस्थितिः।
ततोऽजाडये निजोल्लेखनिष्ठाभार्थस्थितिस्ततः।। वही-5
4. ई. प्र. वि. 1-3-6

अन्तर्मुख चेतन स्वरूप ज्ञान है वह कालान्तर में पुनः बहिर्मुखता का परामर्श करता है, वही स्मृति शक्ति है। वस्तुतः वह संवित् रूप ही है।[1]

परम शिव ही पदार्थ रूपी रत्नों को मानो स्मृति रूपी धागे में पिरो देते है-

पदार्थ रत्ननिकरं निजहृदगञ्जपुञ्जितम्।
ग्रन्थन्तं स्मृति सूत्रान्तः संतत्यैव स्तुमः शिवम्।।[2]

वह शिव ही स्वतन्त्रता पूर्वक अनुभव करता है और अनुभूत का स्मरण करता है।[3]

स्मृति काल में अर्थ सामर्थ्य से युक्त होकर पूर्व अवभासित स्वलक्षणरूप अर्थ को विमर्शन करता हुआ शिव ही देशकाल संकोच के साथ स्वरूप का परामर्श करता है।[4]

स्मृति का अपने स्मर्यमाण विषय से भेद नहीं होता। वह शिव ही अनुभव कर्ता होता है और वही स्मर्ता होता है-

न च युक्तं स्मृतेर्भेदे स्मर्यमाणस्य भासनम्।
तेनैक्यं भिन्नकालानां संविदा वेदितैष सः।।[5]

परमशिव स्वच्छ दर्पण के समान स्वयं में अपने रूप से अभिन्न को ही प्रकाशित करता है यही उसका ज्ञानकर्तृत्व, स्मरणकर्तृत्व है। इसी से वह शिव ज्ञानशक्ति और स्मरण शक्ति वाला कहा जाता है।[6]

---

1. न चेदन्तः कृतानन्तविश्वरूपो महेश्वरः।
   स्यादेकश्चिद्वपुर्ज्ञानस्मृत्यपोहन शक्तिमान् ।। वहीं-7
2. ई. प्र. वि. मंगलाचरण, 1-4
3. (क) स हि पूर्वानुभूतार्थोपलब्धा परतोऽपि सन्।
   विमृशन्स इति स्वैरी स्मरतीत्यपदिश्यते।।
   वही, 1-4-1
   (ख) ''एवं च स एव परमेश्वरः 'स्मरति'। एतदेव हि तस्य स्मरणम्',
   वही, वि. 1-4-1
4. भासयेच्च स्वकालेऽर्थात्पूर्वाभासितमामृशन्।
   स्वलक्षणं घटाभासमात्रेणाथाखिलात्मना।। ई. प्र. 1-4-2
5. ई. प्र. 1-4-3
6. 'एवं सममेव स्वात्मनि विमलमुकुर स्थानीये
   यत् युगलकं स्वस्मात् प्रकाशरूपात् अव्यतिरिक्तम्

स्मृति द्वारा आत्मा की सिद्धि : इस प्रकार बौद्ध दार्शनिकों की शंकाओं को निर्मूल करते हुए आचार्य उत्पल स्मृति शक्ति का स्वरूप प्रतिपादित करते हैं जिससे स्थायी व ज्ञानवान आत्मा के सिद्धान्त की पुष्टि होती है।

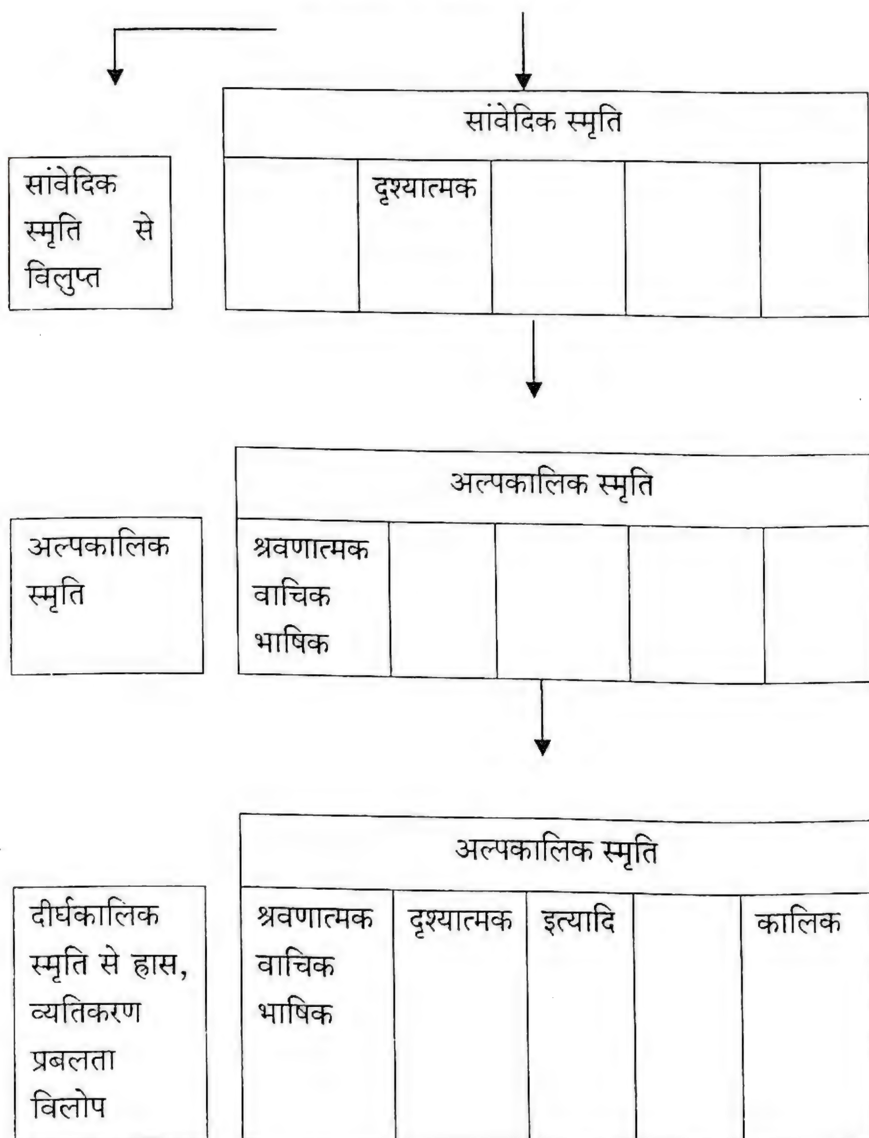
स्मृति का व्यवहारिक रूप : मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में स्मृति को इस प्रकार जाना जा सकता है- स्मरण वह योग्यता है जिसमें व्यक्ति सीखी हुई विषय-सामग्री को धारण करता है, इस धारण से सूचना को एकत्रित कर सूचना को उत्तेजनाओं के प्रत्युत्तर में पुनरोत्पादित कर अधिगम सामग्री को पहचानता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि स्मरण एक शारीरिक प्रक्रिया है तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि यह एक मानसिक प्रक्रिया है। वास्तव में स्मरण एक मनोशारीरिक प्रक्रिया है।

स्मृति और मस्तिष्क : स्मृति शक्ति से संबंधित प्रक्रियाओं में क्या शारीरिक परिवर्तन होते हैं तथा कौन-कौन से रासायनिक परिवर्तन होते हैं, इस दिशा में हुए अध्ययनों से ज्ञात हुआ कि स्मृति का सम्बन्ध एक या कुछ स्नायुओं से न होकर स्मृति का स्नायु पूंजों से होता है। गेस्टाट और उसके सहयोगियों ने बिल्ली पर किए गये एक प्रयोग के आधार पर निष्कर्ष निकाला कि किसी तथ्य के पुन:स्मरण में मस्तिष्क तरंगे मस्तिष्क के किसी एक क्षेत्र, विशेष से सम्बन्धित न होकर इस अवस्था में मस्तिष्क तरंगो का सम्बन्ध मस्तिष्क के विभिन्न भागों से होता है। जॉन ने अपने अध्ययनों के आधार पर यह स्थिर किया कि किसी तथ्य की स्मृति का सम्बन्ध किसी एक स्नायु विशेष से न होकर विभिन्न स्नायुओं की सामूहिक क्रिया से होता है। स्मृति के स्वरूप की व्याख्या ऐटकिन्स और शिफरिन ने स्मृति की अवस्थाएँ मॉडल के आधार पर की है। इस मॉडल को ऐटकिन्स -शिफरिन मॉडल के नाम से भी जाना जाता है।

अवभासयति परमेश्वर: तदेव एतत् भगवतोऽज्ञान
कर्तृत्वं, स्मरण कर्तृत्वं, ज्ञान शक्ति स्मृतिशक्ति रूपम् उच्चते।''

ई. प्र. वि. 1-4-8

स्मृति की अवस्थाएँ



यह मॉडल सूचना प्रक्रम उपागम पर आधारित है। इस मॉडल की मुख्य मान्यता यह है कि मनुष्य का केन्द्रीय स्नायुमण्डल कम्प्यूटर की तरह कार्य करता है। ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त सूचनाओं निवेश केन्द्रीय स्नायुमण्डल में होता है फिर यहाँ

सूचनाओं का प्रक्रमण होता है जिसके बाद अनेक प्रकार की स्मृतियों के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। चार्ट से स्पष्ट है कि वातावरण में स्थित उद्दीपकों से जो सूचनाएँ ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त होती हैं वे सर्वप्रथम सांवेदिक स्मृति में आती हैं। सांवेदिक स्मृति को इन विद्वानों ने सांवेदिक पंजिका या सांवेदिक स्मृति में भण्डारित स्मृति पर केन्द्रित होता है तब इसकी सूचना का पुनः कूट संकेतन होता है और यह सूचना इस रूप में अल्पकालिक स्मृति में जाती है। यहाँ यह कूट संकेत ध्वनिक, स्वनिक या स्वनप्रक्रियात्मक हो सकता है। कभी-कभी यह भी हो सकता है कि सांवेदिक स्मृति भण्डार से सूचना सीधे दीर्घकालिक स्मृति में चली जाये। इसे चार्ट में दिखाया गया है। नई-नई सूचनायें पुरानी सूचनाओं को अल्पकालिक स्मृति से न केवल विस्थापित कर देती हैं बल्कि ऐसी सूचनायें विलुप्त भी हो जाती हैं।

दीर्घकालिक स्मृति भण्डार में सूचनाओं का भण्डारण अपेक्षाकृत बहुत स्थायी होता है। इस स्मृति भण्डार में अल्पकालिक स्मृति भण्डार की सूचनायें व व्यापक अभ्यास या रटन विधि वाली सूचनायें भी स्थानान्तरित होती हैं।

स्मृति में मुख्यतः चार मानसिक प्रक्रियाएँ होती हैं - अधिगम, धारण, पुनः स्मरण, पहचान।[1]

सामान्य व्यवहार में हम स्मृति के विषय में यह समझते हैं कि स्मृति एक मानसिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति स्मृति में धारण की गई विषय सामग्री को पुनः स्मरण कर चेतना में लाकर पहचानने का प्रयास करता है। किसी भी विषय सामग्री के धारण के लिए आवश्यक है कि विषय सामग्री का सबसे पहले अधिगम किया जाये।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार अधिगम की गई विषय सामग्री के स्मरण में मस्तिष्क में कई प्रकार के परिवर्तन होते हैं और इन परिवर्तनों को अनेक कारक प्रभावित करते हैं।

हिलगार्ड और एटकिन्सन ने स्मृति की परिभाषा इस प्रकार दी है- ''पहले सीखी गई अनुक्रियाओं के चिन्हों को वर्तमान समय में व्यक्त या प्रदर्शित करने का अर्थ ही स्मरण है।'' एक अन्य मनोविज्ञानी आइनजनेक के अनुसार 'स्मृति व्यक्ति

---

1. आ. सा. मनोविज्ञान, पृ. 356, 357

की वह योग्यता है जिसके द्वारा वह पहले अधिगम की हुई प्रक्रियाओं से सूचना एकत्रित करता है, फिर इस सूचना को विशिष्ट उत्तेजनाओं के प्रत्युत्तर में पुनरोत्पादित करता है।[1]''

VI. योग दर्शन में स्मृति शक्ति

पातञ्जल योग सूत्र में स्मृति को चित्त की वृति कहा गया है। मुमुक्षु के लिए इसका निरोध आवश्यक है। पाँच प्रकार की क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियाँ बताई गई हैं, जिनमें से स्मृति एक है।[2]

महर्षि पतञ्जलि स्मृति के विषय में कहते हैं कि जो पहले किसी प्रमाण से ज्ञात हो चुका है, उसे न त्यागना अर्थात् संस्कार के द्वारा अनुभूत वस्तु का बुद्धि में उद्भव होना स्मृति है।

'अनुभूत विषयासम्प्रमोषः स्मृतिः'[3]

प्रमाण, विपर्यय और विकल्प, ये जाग्रदावस्था की वृत्तियाँ हैं और ये ही जब अनुभव के बल पर स्वप्नावस्था में प्रत्यक्ष की तरह लगती हैं तब स्वप्न होता है।

निद्रावस्था में किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता, अतः वृत्तिकार ने निद्रा में 'असंवेद्य विषया' विशेषण लगाया है। स्मृति में प्रमाण, विपर्यय और विकल्प कारण होते हैं।[4]

स्मृति के समय ज्ञाता को अनुव्यवसायात्मक ज्ञान होता है। इसका तात्पर्य यह है कि ''घटं अहं जानामि'' अर्थात् ''मैं घट को जानता हूँ'' इस प्रकार का व्यवसायात्मक ज्ञान नहीं होता, वरन् 'घट विषयक ज्ञानवानहम्' इस प्रकार का

---

1. ''सामान्य मनोविज्ञान' - डॉ. प्रीति वर्मा, डॉ. डी. एन. श्रीवास्तव, पृ. 354, 355
2. वृत्रयः पंचतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाः ।।,
   प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा स्मृतयः ।।

   पा. यो. सू. स. पा. 5, 6
3. पा.यो. सू. स. पा. - 11
4. वहीं भोजवृत्ति-प्रमाणेनानुभूतस्य विषयस्य योऽयमसम्प्रमोषः संस्कार द्वारेण बुद्धावुपारोहः, सा स्मृतिः, तत्र प्रभावा, विपर्यय, विकल्पा जाग्रदावस्थाः। त एवं यदानुभवबलात् प्रत्यक्षायमाणास्तदा स्वप्नाः। निद्रा तु असंवेद्यमान विषया। स्मृतिश्च प्रमाण विकल्पनिद्रा निमित्ता।

प्रत्ययात्मक ज्ञान होता है।[1]

चित्त घटादि ज्ञान एवं घटादि विषय दोनों को अपना विषय बनाता है, अर्थात् स्मरण करता है।[2]

योग दर्शन में स्मृति को अन्त में लिया गया है। स्मृति प्रमाण आदि के अनुभव से उत्पन्न होती है। योग दर्शनानुसार अन्य वृत्तियों के समान स्मृति का भी निरोध साधक के लिए आवश्यक है। इन वृत्तियों के निरोध के ही सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है जिसके सिद्ध होने पर साधक असम्प्रज्ञात समाधि व मोक्ष को प्राप्त करता है।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्मृति को जहाँ अन्यत्र केवल वृत्ति के रूप में देखा जाता है वहीं शैव दर्शन में इसे विशेष महत्त्व प्राप्त है। शैव दर्शन में स्मृति को परम शिव की शक्ति के रूप में सकारात्मक छवि प्रदान की गई है जो ज्ञान शक्ति की सहायिका है, निरोध की वस्तु नहीं है।

संक्षेप में स्मृति से हम समझते हैं– पूर्वानुभूत वस्तु को पुनः कल्पना में देखना या सोचना स्मृति है। किन्तु दर्शनशास्त्र में स्मृति के विषय में कई दृष्टियों से विचार हुआ है। इसका कारण यह है कि दर्शनशास्त्र का विषय केवल शारीरिक व्यवस्था या स्नायविक व्यवस्था को समझना नहीं है, बल्कि पारमार्थिक सत्य को अनुभूत करना है। शैव दर्शन में स्मृति को शिव की शक्ति माना गया है।

शैव दार्शनिकों के अनुसार जगत् के जितने भी स्फुरण हैं, उनमें वस्तुओं को उत्पन्न करने के पहले ही संस्कार रूप से रहने वाली एक सूक्ष्म स्पन्दनमयी स्फूर्ति है। यह स्मृति शक्ति है। यदि यह स्मृति शक्ति न होती तो यह व्यवहार ही उच्छिन्न हो जाता। स्मृति शक्ति को जगत् की उत्पादयित्री शक्ति कहा गया है।

---

1. किं प्रत्ययस्थ चित्तं स्मरति, आहोस्विद् विषयस्येति। ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययो ग्राह्यग्रहणोभयाकार निर्भासस्तथाजातीयकं संस्कारमारभते।
पा. यो. सू. ।। व्यासभाष्य
2. स संस्कारः स्वव्यञ्जकाञ्जनस्तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिं जनयति।
वहीं
3. सर्वाश्चैता वृत्तयः सुख, दुःख मोहात्मिकाः। सुख दुःख मोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः। ..... एता सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्याः। पूर्ववत्

स्मृति मन्त्र स्वरूपा शक्ति है : स्मृति शक्ति को मन्त्रस्वरुपा कहा गया है। सारे विश्व के व्यवहार का आत्मवत् परामर्श करने वाला प्रमाता मन्त्र प्रमाता कहा जाता है। स्मृति शक्ति प्रमाता को अर्थों से युक्त करती है।

इस प्रकार स्मृति शक्ति अनुभूतियों का प्राकट्य हैं–

स्मृतिश्च स्मरणं पूर्वं सर्वभावेषु वस्तुत:।
मन्त्र स्वरूपं तद्भाव्यं स्वरूपापत्तियोजकम्॥
स्मृति, स्वरूप जनिका सर्वभावेषु रञ्जिका
अनेकाकाररूपेण सर्वत्रावस्थिते न तु॥[1]

अनुभूति प्रकाशन के साथ ही यह अपने आपको भी अभिव्यक्त करती है।[2]

आचार्य नीलकंठ गुर्टु के अनुसार – "स्मरण शब्द से अनुसन्धान और उससे जन्य साक्षात्कार (विमर्शरूप में ही) का अभिप्राय लिया जाता है।[3]

स्मृति अनुभव ज्ञान पर आधारित होती है तथा इसकी आधार ज्ञान शक्ति है–

स्मर्ता स्मार्य च यया बहुधा भातीहसा प्रभो: शक्ति:।
स्मृतिरितिनाम्नाख्याता तिस्रो व्यवहारभित्तिभूता हि॥[4]

इस प्रकार स्मृति शक्ति द्वारा शाश्वत आत्मा की प्रतिष्ठापना शैव दार्शनिक करते हैं। स्मृति के विषय में दर्शन के क्षेत्र में अत्याधिक मत विभिन्नता है। शैव दार्शनिक जहाँ इसे शिव की शक्ति के रूप में प्रतिपादित करते हैं, अन्य दर्शनों में इतना उच्च स्थान स्मृति को प्राप्त नहीं है।

VII. अपोहन शक्ति

अपोहन : 'ऊह' का अर्थ है संशय अथवा तर्क है, उससे दूर होना ही अपोहन है। मूलत: अपोहन भी परावाक् रूप ही है। अपोहनशक्ति विकल्पों से

---

1. त. 5-137, 138
2. स्वस्वभावस्य संप्राप्ति: संवित्ति: परमार्थत:।
   व्यक्तिनिष्ठा ततो विद्धि सत्ता सा कीर्तिता परा॥
   त. 5/39
3. प. त्रिं. 13
4. स्वा. द. 3-32

रहित कही गई है।[1]

घट का ज्ञान होने पर घटभिन्न के आभास की सम्भावना भी उत्पन्न होती है। इसका निषेध अपोहन व्यापार कहलाता है। इससे घट में पटादि का निषेध होकर घट का ज्ञान स्थिर होता है।[2]

जब माया शक्ति के द्वारा देह, बुद्धि आदि कल्पित होते हैं, तब वे विकल्प रूप होते हैं। किन्तु शुद्ध अहं विकल्पात्मक नहीं होता।[3]

अशुद्ध अहं विकल्पात्मक होता है, किन्तु शुद्ध अहं निर्विकल्पक होता है। शुद्ध अहं अनुभवरूप 'अहं शिवोऽस्मि' इस प्रकार का होता है। परम शिव स्वयं ही इस स्वरूप से भिन्न होकर माया शक्ति के द्वारा विभिन्न रूपों में भासता है।[4]

ज्ञान व स्मृति, दोनों पर अनुग्रह करने वाली : ज्ञान तथा स्मृति शक्ति दोनों पर अनुग्रह करने वाली शक्ति अपोहन को कहा गया है। अपोहन शक्ति भी ज्ञान शक्ति के समान परम शिव से अभिन्न है। गीता में भगवान कृष्ण ने भी कहा है-

'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च'

अर्थात् मुझ से ही स्मृति, ज्ञान एवं अपोहन होते हैं।

सभी पदार्थ ज्ञान शक्ति के भीतर स्थित हैं। प्रकाशरूप शिव ही वास्तविक प्रमाता है, उन्हीं में सारे पदार्थों का ज्ञान निहित है। स्मृति, ज्ञान, अपोहन प्रधान ज्ञान में संवित् प्रकाश ही निहित होता है।[5]

---

1. अहं प्रत्यवमर्शो यः प्रकाशात्मापि वाग्वपुः।
नासौ विकल्पः स ह्युक्तो द्वयापेक्षी विनिश्चयः॥
ई. प्र. 1-6-1

2. ''घटे हि दृष्टे घटस्थान एवाघटोऽपि योग्य देशाभिमतं स्थानाक्रमण शीलो विज्ञानजनक स्वकारणोपनीतः संभाव्यते पटादि स्वभावः, अतो घटाघटयोर्द्वयोरवभासस्य संभावनात् समारोपः सावकाशीभवति, अघटस्य सत्यारोपे निषेध लक्षणोऽपोहनव्यापारः।
ई. प्र. - 1-6-2

3. वही, 1-6-4, 5

4. तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन्।
भान्तमेवान्तरर्थौधमिच्छया भारयेद्बहिः॥
ई. प्र. 1-6-7

5. एवं स्मृतौ विकल्पे वाप्यपोहनपरायणे।

अपोहन – सविकल्पात्मक ज्ञान का आधार : जहाँ तक विकल्प का प्रश्न है, विकल्प एक बौद्धिक प्रक्रिया है जिसका प्रयोग बोध व्यापार के सन्दर्भ में किया जाता है। निर्विकल्पकज्ञान सविकल्पक अपोहन व्यापार द्वारा ही होता है।

एक वस्तु की अन्य सभी वस्तुओं से भिन्नता निश्चित करना, जैसे वह्नि एवं अवह्नि के बीच अथवा घट और अघट के बीच अपोहन है। वही अपोहन शक्ति समस्त विकल्प ज्ञान के लिए अनिवार्य है।[1]

बौद्ध अपोहवाद

बौद्ध दर्शन का सिद्धान्त भी काश्मीर शैव दर्शन के अपोहन के सिद्धान्त से बहुत मिलता जुलता है। बौद्ध दार्शनिक विशेषरूप से दिंग्नाग ने अपोहन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

बौद्धों को अपोहन के सिद्धान्त की आवश्यकता अपने 'स्वलक्षण' एवं 'विज्ञप्ति' के सिद्धान्तों के कारण हुई। बौद्ध दार्शनिक मानते हैं कि तत्त्व (स्वलक्षण) का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष द्वारा हो सकता है किन्तु प्रत्यक्ष जन्य ज्ञान का निर्वचन सम्भव नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष व अनुमान एक दूसरे से अस्पृष्ट माने हैं।

अनुमान द्वारा ही किसी प्राप्त ज्ञान को व्यक्त करना संभव है। किन्तु अनुमान तत्त्व से असम्बद्ध है।

इस विसंगति को दूर करने के लिए दिङ्नाग ने 'अपोहवाद' का निरूपण किया।

अपोहन : दिङ्नाग के अनुसार शब्द संप्रत्यय और नाम किसी वस्तु के अस्तित्व का बोध नहीं कराते। हम मिथ्या धारणावश यह सोचते हैं कि उनसे किसी वस्तु का बोध होता है। वास्तव में वे प्रतिषेधमूलक है।[2] और किसी वस्तु के अस्तित्त्व का संकेत उस वस्तु से भिन्न वस्तुओं का निषेध करते हुए कहते हैं।

उदाहरण के लिए जब हम गाय शब्द का प्रयोग करते हैं तो उससे 'गाय' का

ज्ञाने वाप्यन्तराभासः स्थित एवेति निश्चितम्।।

ई. प्र. 1-6-8

1. प्रत्यभिज्ञादर्शन और माया, पृ. 121
2. प्रमाण समुच्चय - 5/1

बोध नहीं होता अपितु 'अगाय नहीं' (अनगाय) का बोध होता है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु एक दूसरे से भिन्न है। ऐसी कोई भी दो वस्तुएँ नहीं बनाई जा सकती जो पूर्णतया एकरूप हों। कुछ वस्तुएँ मिलती जुलती होती हैं, इसलिए सादृश्यता के कारण जाति और सामान्य की कल्पना कर ली जाती है।

निर्विकल्प विज्ञान से विकल्पों की सृष्टि बुद्धि अपोहन द्वारा ही करती है। इसी से अनुभव सिद्ध जगत् की सृष्टि होती है। मुख्य रूप से विज्ञान ही परम तत्त्व है जो कि सबका बीज है। इसी निर्विकल्पक विज्ञान से विकल्पमय संसार की उत्पत्ति होती है–

सर्वबीजं हि विज्ञानं परिणामस्तथा तथा।
या त्यन्योन्यवशाद् येन विकल्पः स स जायते।।[1]

विज्ञप्ति मात्रता

बौद्धमतानुसार बाह्य भौतिक जगत् की कोई सत्ता नहीं है और यह केवल मन के अनुभव के रूप में आभासित अथवा प्रतीत होता है। जो भी विकल्पित किया जाता है, वह विज्ञान का परिणाम मात्र है। बाह्य विषय वास्तव में कुछ नहीं, केवल विज्ञप्तिमात्र हैं।[2]

शैव आभासवाद से समानता

काश्मीर शैव दर्शन से बौद्धों का यह अपोहन का सिद्धान्त आभासवाद के सिद्धान्त के साथ मिलता है, जहाँ वे संवित् तत्त्व को ही परम् तत्त्व मानते हैं तथा 'विश्व उसी से उत्पन्न आभास मात्र है', ऐसा कहते हैं।

शैव दर्शन भी गुणमयी सृष्टि को मानसिक प्रक्रिया मानता है, शिव तत्त्व की प्राप्ति होने पर सब कुछ उसी में लीन हो जाता है। बुद्धि अपने भीतर प्रतिबिम्बित विषय को पुरुष के प्रति प्रकाशित करती है। बुद्धि ही उस प्रतिबिम्बित विषय के

---

1. वि. मा. सि. त्रि. 1.8
2. विज्ञान परिणामोऽयं विकल्पो यद्विकल्प्यते।
   तेन तन्नास्ति तेनेदं सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम्।।
   वि. मा. सि. त्रि. 17

नामरूप की कल्पना का साधन बनती है। इस प्रकार निश्चित नाम द्वारा निश्चित रूप में प्रमेय वस्तु का स्पष्ट ज्ञान पुरुष को करा देती है।[1]

पुरुष को अपने शून्यात्मक स्वरूप (अहं) का जो अनुभव होता है, वह भी कल्पनाजन्य होता है। शरीर आदि के विषय में 'अहं' की अनुभूति भी विकल्पमयी होती है।[2] विषयों को नाम देना ही विकल्प की प्रक्रिया है। विविध कल्पाओं के एकत्रित होने पर अन्य कल्पनाओं को हटा देना विकल्प है।[3] स्फुट विकल्पक्षण में यह सुनिश्चित हो जाता है कि यह पिण्ड एक गाय ही है, और कुछ भी नहीं है। यही अपोहन है।[4]

इस प्रकार शिव की अपोहन शक्ति ज्ञान शक्ति तथा स्मृति शक्ति की सहयोगी बनती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि परमेश्वर की ज्ञान शक्ति ही स्मृति शक्ति के रूप में प्रकाशित होकर सामान्य व्यवहार को सिद्ध करती है। स्मृति शक्ति द्वारा स्थायी प्रमाता 'आत्मा' की भी सिद्धि हो जाती है। अपोहन शक्ति द्वारा एक परमात्मा अनेक रूपों में विभक्त भासता है। यह शिव का विमोहिनी शक्ति है तथा विश्व के अनन्त आभासों की जननी है और ज्ञान शक्ति द्वारा यह विकल्प रूपता समाप्त होकर निर्विकल्पकभाव की प्राप्ति होती है। इस प्रकार शिव की शक्ति एक दूसरे की पूरक है। जगत् के समस्त व्यवहार स्मरण शक्ति, ज्ञान शक्ति तथा अपोहन शक्ति द्वारा ही चलते हैं।



---

1. प्र. दा. और माया – पृ. 125
2. चित्रत्वस्यवैश्वरस्य मायाशक्त्या भेदावभासिन शरीरे बुद्धावान्तरे स्पर्शे तदवतीर्णे वाकाशे इव शून्य एव कल्पितेऽहमिति प्रमातृभावेन विमर्श: तत्तदाभासमान शरीरादि प्रतियोग्यपोहन करणाद्घटोऽयमितिवद् विकल्प एव। ई. प्र. वि. 1-6-5
3. विविधाकल्पना, विविधत्वेन च शंकितस्यकल्पो अन्य व्यवच्छेदनं विकल्प:। ई. प्र. वि. 1-6-1
4. अघटस्य सत्यारोपे निषेधन लक्षणोऽपोहन व्यापार... वही, 1-6-2

चतुर्थ अध्याय

क्रिया-शक्ति निरूपण

परिचय

ज्ञान के समान ही क्रिया भी परम शिव की शक्ति है। इच्छा ज्ञान और क्रिया रूपी त्रिशूल का एक शूल क्रिया शक्ति है। प्रस्तुत अध्याय में क्रिया शक्ति का विस्तार से ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी के प्रकाश में विवेचन किया जायेगा। शिव की इच्छा शक्ति ही क्रमयुक्त होकर क्रियाशक्ति के रूप में भासती है। इच्छा तथा ज्ञान का मिश्रण क्रिया है। क्रिया शक्ति ही शिव में अक्रम तथा जीवों में क्रमवाली होकर आभासित होती है। शिव क्रियाशक्ति के द्वारा ही सृष्टि स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह करते हैं। क्रिया द्वारा शिव का संसार रूप में विस्तार कर स्वयं को ज्ञेय बनाना ही 'विमर्श' कहलाता है। वह क्रिया शक्ति ही है जिससे सारे विस्तार होते हैं और उनमें सम्बन्धरूपता होती है। वही क्रिया परावाक् रूप में शिव में रहती है और पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी आदि रूपों में विश्व में उतरती है। वाक् के सम्बन्ध में वैयाकरणों से शैव दार्शनिकों के मत में कुछ विभिन्नता है। सांख्य तथा वेदान्त मत के कार्य-कारण सिद्धान्त से शैव दार्शनिकों के कार्य-कारणवाद में भिन्नता है इसका निरूपण भी प्रस्तुत किया जायेगा।

शैव दार्शनिक परम शिव की मुख्य रूप से तीन शक्तियाँ मानते हैं- इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया।

ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकार के अनुसार क्रिया शक्ति ईश्वर की निर्माण शक्ति है जिससे ज्ञाता तथा ज्ञेय का भेद स्पष्ट हो जाता है।[1]

इस परम शिव की इच्छा शक्ति ही है, जो कि क्रम युक्त होकर क्रिया शक्ति कहलाती है।

---

1. किं तु निर्माणसिद्धिः साप्येवं विदुष ईशितुः।
   तथा विज्ञातृविज्ञेयभेदो यदवभासते।। ई. प्र. 2-1-8

जब तक यह इच्छा शक्ति के रूप में रहती है, तब तक यह परमेश्वर की अबाध्य गति, परम स्वातन्त्र्य रूप अविच्छिन्न स्वात्म विमर्श करने वाली, किसी अन्य की ओर 'उन्मुखता न रखने वाली होती है।

यही इच्छा शक्ति हेतुत्व तथा कर्तृत्व से युक्त हो जाती है तब क्रिया शक्ति कहलाती है।

क्रिया शक्ति को स्पष्ट करते हुए आचार्य अभिनव गुप्त कहते हैं – जैसे चैत्र या मैत्र आदि के मन में 'मैं पकाता हूँ' ऐसा जो भाव है वह इच्छा शक्ति है। वह बाहर जब क्रियात्मक रूप में भासती है, तब चूल्हे पर बटलोई का रखना और 'आग लगाना' आदि सभी जगह 'पकाना' रूप क्रिया ही बनी रहती है। इसी प्रकार ईश्वर का क्रम है।

'अहम्' विमर्श की अवस्था में क्रम नहीं होता किन्तु वह जब स्पन्दन रूपता को लेकर शरीर पर्यन्त परिणित होता हुआ क्रम रूप से युक्त भासता है, तब भगवान की इच्छा शक्ति प्रमाता व प्रमेय के भेद को स्पष्ट करने वाली क्रिया शक्ति बनकर भासती है।

जैसे दर्पण में वृहद् रूप से बहता हुआ नदी का प्रवाह क्रम दर्पण व नदी प्रवाह के साथ से क्रमवाला भासता है, परन्तु उसकी वैसा प्रकाशित होने की इच्छा नहीं होती। किन्तु परम शिव में ऐसा करने की इच्छा होती है।[1]

इच्छा व ज्ञान का मिश्रण क्रिया है : इच्छा और ज्ञान ही आपस में मिलकर स्वरूप संकर को अपनाने से अर्थात् विजातीय मिश्रण को अंगीकार करने से अनेक प्रकार की विचित्रताओं को उपजाने के फलस्वरूप पूर्णता और अपरता के क्रम में बंटे हुए रूप को अपनाने के कारण क्रिया कहलाते हैं।

इस क्रियात्मक रूप का मूल प्रेरणादायक तत्त्व संरम्भ अर्थात् वेगी हर्ष है। यह शिव के स्वातन्त्र्य का ही एक रूप है। इच्छा शक्ति से क्रिया शक्ति तक के प्रसार को परात्रिंशिकाकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है–

---

1. ''तदत्रापि न कश्चित् क्रम:, यदा तु इच्छारूपं 'पचामि' इति स्पन्दनात्मतां कायपर्यन्तां गतं क्रमारूषितम् आभाति तदा भगवदिच्छा प्रमातृप्रमेय भेदपर्यवसिता तत्क्रमोपश्लिष्टा भाति–दर्पण–तलमिव विततप्रवहन्नदी प्रवाह क्रम समाश्लिटम्, अत्र च केवलं दर्पणस्य तथा इच्छा नास्ति, परमेश्वरस्य तु सा अस्ति।'' ई. प्र. वि. 2–1–8

अनुत्तरीय स्वातन्त्र्य के तीन भाग

1.	'उल्लिलसिषा' अर्थात् बहिर्मुखीन प्रसार के प्रति सूक्ष्मातिसूक्ष्म उन्मुखता मात्र की अवस्था	स्वातन्त्र्य का प्रथम भाग	इच्छाशक्तिमय स्पन्द
2.	'उल्लसत्ता'	स्वातन्त्र्य का मध्य भाग	ज्ञानशक्तिमय स्पन्द
3.	'उल्लसितता' अर्थात् बहिर्मुखीन रूप में पूर्ण विकास पर पहुँचे हुए प्रसार की अवस्था	स्वातन्त्र्य का अन्तिम भाग	क्रियाशक्तिमय स्पन्द

इस प्रकार स्पष्ट है कि क्रिया शक्ति परम शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति का चरम तथा पूर्ण बहिर्मुखी विकास की अवस्था है।

इच्छा शक्ति की परिणति ज्ञान शक्ति में और ज्ञान शक्ति की परिणति क्रिया शक्ति में तथा तीनों की पूर्ण परिणति अभेद तत्त्व में होती है।[1] ज्ञान से अतिरिक्त क्रिया नहीं होती। ज्ञान ही रूढ़ि द्वारा योग की पराकाष्ठा में क्रिया हो जाता है।

क्रिया ही योग है : योग और क्रिया दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं है क्योंकि तत्त्व में आरूढ़ होने वाली मति ही अपने चित्त की वासना की शान्ति के कारण क्रिया कहलाने लगती है।[2]

चित्त की समस्त वासनाएँ कार्ममल और माया से प्रसूत हैं। इसके उपशम में लगी हुई बुद्धि संवित् स्वभावमयी होती है। वह देह को आकार प्रदान करने वाले बाह्य तत्त्वों में अधिष्ठित है, वही क्रिया है। वही योग कही गई है।

तत्त्वों के चित्त तत्त्व में लय की प्रक्रिया में वही निमित्त होती है।[3]

---

1. ''इच्छा ज्ञाने एव ...... परिसमाप्यते'' प. त्रि. पृ. 283
2. ''यतो नान्या क्रिया नाम ज्ञानमेव हितत्तथा। रूढेर्योगान्ततांप्राप्तमिति श्रीगम शासने''....
   योगो नान्यः क्रिया नान्या तत्त्वारूढ़ा हि या मतिः।
   स्वचित्तवासनाशान्तौसा क्रियेत्यभिधीयते।। त. 1-151
3. स्वचित्ते वासनाः कार्ममलमायया प्रसूतयः।

वास्तव में ज्ञान व क्रिया अभिन्न हैं। व्यवहार में भी यही देखा जाता है। ''मैं जाता हूँ'' यह आन्तरिक स्फुरण जैसे मन में होता है। वैसे ही वह संवित् है जो देश, और इन्द्रियों में आवेश उत्पन्न करती है। उसके स्पन्दन से गति की क्रिया प्रवर्तित होती है। जाने की ज्यों ही (संवितरूप) अन्तः स्फुरणा होती है- एक प्रकार का आवेश हो जाता है और व्यक्ति चल पड़ता है।

गमन, क्रिया का यही मूल रूप है। गमनकर्ता में 'मैं जाता हूँ' ऐसा स्फुरण होते ही शरीर में उत्पन्न आवेश से ही जाने की क्रिया होती है अतः ज्ञान और क्रिया मूलतः एक ही है-

लोकेऽपि किल गच्छामीत्येवमन्तः स्फुरैव या।
सा देहं देशमक्षांच्चाप्याविशन्ती गति क्रिया।।
तस्मात्क्रियापि या नाम ज्ञानमेव हि सा ततः।
ज्ञानमेव विमोक्षाय युक्तम् चैतदुदाहृतम्।।[1]

क्रिया का इच्छा व ज्ञान शक्ति से सम्बन्ध

यह वस्तु ऐसी थी, ऐसी हो जाए (इस प्रकार ज्ञान और इच्छा के बाद), वह वस्तु जब उस रूप में हो जाती है, यह करने वाली जो शक्ति है, यह क्रिया शक्ति है'-

एवम् भूतमिदम् वस्तुभवत्विति यदा पुनः।
ज्ञाता तदैव तत्तद्वत्कुर्वत्यत्र क्रियोच्यते।
एवम् सैषा द्विरूपापि पुनर्भेदैरनेकताम्।।[2]

ज्ञान आदि गुण पहले इच्छा में अंकुरित होकर पुनः क्रिया शक्ति में विकार को प्राप्त होते हैं। ईश्वर पद में ये प्रकाशित होते हैं।

तासां शान्ति निमित्तं या मतिः संवित्स्वभाविका:।।
सा देहारम्भिबाह्यस्थ तत्त्वव्राताधिशायिनी।
क्रिया सैव च योगः स्यात्तत्वानां चिल्लयी कृतौ।।
त. 1-151, 152

1. त. 1-154-155
2. मा. वि. त. 3-8

जो पहले व्यक्त, अव्यक्त थे वे ही महाक्रिया और ईश्वर भट्टारक के रूप में थे। वही क्रिया विश्वनिर्माण में एकमात्र कारण बनती है। वही क्रिया शक्ति अणिमा आदि को बनाती, उत्पन्न करती, विकृत, स्थापित और संहत करती है। यही परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति है।

ज्ञान शक्ति सूर्य एवं क्रिया शक्ति चन्द्र रूप है

इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्तियाँ अग्नि, सूर्य व सोम (चन्द्र) मानी जाती हैं। शरीर के अन्दर ये इच्छा आदि तथा बाहर सूर्य, चन्द्र आदि के रूप में प्रकाशित होती हैं।

ज्ञान एवं क्रिया परम शिव की स्वतन्त्रता के ही दो पहलू हैं। शिव में शुद्ध ज्ञान तथा क्रिया का होना ही विमर्श कहलाता है –

स एव विमृशत्वेन नियतेन महेश्वरः।
विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञान क्रिये यतः।।[1]

इसी विमर्श शक्ति द्वारा शिव अपनी शक्ति को फैलाता है।

क्रिया शक्ति का क्रमत्व और अक्रमत्व : परम शिव का स्वरूप अक्रम रूप है। उनकी शक्ति क्रिया भी क्या अक्रमरूप है? अथवा क्रमवाली है? इस प्रश्न पर ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। क्रिया शक्ति जब परम शिव में है, तब अक्रम रूप में है और यही जब जीवों में है, तब क्रम युक्त होकर भासती है। परम शिव तो काल आदि व्यवच्छेदों से परे हैं, अतः वहाँ क्रिया शक्ति क्रम युक्त नहीं हो सकती।

कालशक्ति : लोक में क्रिया कालशक्ति से युक्त होती है किन्तु वह शिव में अभेदरूप से रहती है। काल के विषय में आचार्य कृष्णानन्द सागर ने लिखा है–

"जगत के पदार्थों की उत्पत्ति आम्रमञ्जरी का होना तथा क्रमशः षड् ऋतुओं का आगमन तथा मयूर व कोयलों के मद विलास के होने से जो ज्ञान होता है, वही काल है।[2] सूर्य आदि ग्रहों की गति ही काल कही जाती है। सूर्य आदि की गति के

---

1. (क) ने. त. 1–30 हि. व्या.
   (ख) स्व. त. 10–502
2. भूमिका ई. प्र. वि. आ. कृष्णानन्द सागर

कारण ऋतु परिवर्तन होता है, वही 'क्रम' कहलाता है।[1] इस प्रकार यह 'काल शक्ति' एक प्रकार से शिव का स्वातन्त्र्य ही है जिससे लौकिक क्रियाकलापों में सक्रमत्व घटता है। शिव की क्रिया शक्ति काल से अनवछिन्न होती है क्योंकि वह शिव के ही समान शाश्वत होती है।[2] क्रम तथा काल के सम्बन्ध में एक तरफ जहाँ यह कहा गया है कि काल शक्ति से क्रम की उत्पत्ति है[3] वहीं यह भी कहा गया है कि काल ही क्रम है।[4] वहीं दूसरी ओर आचार्य कृष्णानन्द सागर अपनी व्याख्या में लिखते हैं कि 'क्रम' ही बाहर काल रूप से व्यक्त होता है। आचार्य नवजीवन रस्तोगी की ये पंक्तियाँ इस प्रश्न का हल सुझाती हैं- ''चूँकि काश्मीर शैव दर्शन में क्रम को 'काल' के रूप में परिभाषित किया गया है इसलिए यह शंका होती है कि क्रमिकता काल के होने पर ही होगी, किन्तु सदैव ऐसा नहीं होता। उदाहरणार्थ, तत्त्व सृष्टि में काल का स्थान यद्यपि काफी नीचे है किन्तु क्रमिकता तो उपर्युपरि विद्यमान तत्त्वों में भी दृष्टिगत होती है। इस कारण से जब हम क्रम को काल-जन्य कहते हैं तो इस काल से हमारा अभिप्राय 'काल शक्ति' या 'स्वातन्त्र्य शक्ति' से होता है।[5]

नैयायिकों का 'काल' पदार्थ यह है कि 'जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः[6]' अर्थात् सभी उत्पन्न पदार्थों का जनक काल है और जगत् के पदार्थों का आश्रय है। दुष्टों का काल मृत्यु है और ज्ञानियों का काल इन सबसे विलक्षण ही है- आभास पदार्थों को स्वरूप से बाहर की और फैलाने की शक्ति ही काल शक्ति है। परमेश्वर ही मूर्त वस्तुओं के रूप द्वारा देशक्रम को तथा क्रिया के वैचित्य द्वारा कालक्रम को प्रकाशित करते हैं।

---

1. कालः सूर्यादिसञ्चारस्तत्तत्पुष्पादिजन्म वा।
   शीतोष्णे वाथ तल्लक्ष्यः क्रम एव स तत्त्वतः ।।3 ।।
   ई. प्र. वि. 2-1-3
2. सक्रमत्वं च लौकिक्याः क्रियायाः कालशक्तितः।
   घटते न तु शाश्वत्याः प्रभव्याः स्यात्प्रभोरिव ।।2 ।।
   ई. प्र. वि. 2-1-2
3. ई. प्र. वि. 2-1-2
4. क्रम एवं स तत्त्वतः - ई. प्र. वि. 2-1-3
5. 'काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ - पृ. 154
6. न्या. सि. मु. प्र. ख. - 45

क्रम को अन्य की अपेक्षा नहीं है : देश व काल का क्रम किसी और से भासित नहीं होता, इसी से सभी अन्य वस्तुएँ भासित होती हैं। परिमित पदार्थों के द्वारा ही पदार्थों का भासन होता है।[1]

क्रम देश काल की परिपाटी को कहा गया है।[2]

क्रम दो प्रकार का कहा गया है जब 'इदम्-इदम्' ऐसा प्रत्याभास होता है तो वह बाह्य क्रम होता है तथा प्रमाण वर्ग का प्रत्याभास होता है।'अहम्' रूपी आन्तरिक विमर्श आन्तरिक क्रम होता है। वास्तव में ये सभी क्रम अनन्त अक्रम रूप चिदात्मा महेश्वर का ही प्रकाश है। महेश्वर देश काल की सीमाओं से परे हैं।[3]

क्रम प्रक्रिया को अनाख्या शक्ति से उत्पन्न बताया गया है वह स्वात्म में ही उत्पत्ति विलय का अवभास संवित तत्त्व के स्वातन्त्र्य से करती है, यही अन्तर्लोलीभाव या क्रम दर्शन है, सृष्टि व संहार का यह अन्तर्लोलीभाव अवतार कहलाने वाले क्रम की उत्पत्ति का कारण होता है।[4]

परम शिव के पञ्च कृत्य : परम शिव की क्रिया शक्ति ही पञ्च कृत्यों द्वारा सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह करती है –

नमः शिवाय सततं पञ्च कृत्य विधायिने।
चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थविभासिने ।।[5]

जहाँ पर शिव का प्रकाश मायीय आवरण से रहित होता है, वहाँ क्रियाशक्ति से पञ्चकृत्यों के रूप में भगवान शिव प्रकाशन करते हैं।

ये ही परमपुरुषार्थ और मोक्ष के कारण कहे गए हैं। इनके द्वारा ही परम् शिव स्वयं को बद्ध और मुक्त करता है।[6] पञ्च कृत्यों के द्वारा ही शिव स्वयं को अभिव्यक्त करता है।

---

1. ई. प्र. वि. – भूमिका
2. ई. प्र. वि. 2-7-2
3. या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रम रूषिता।
   अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः ।।1 ।। ई. प्र. वि.
4. 'प्रभवाप्ययोरन्तर्लोलीभावात् क्रमोऽवताराख्यः' त. 1-1,2 व्या. पृ. 9
5. प्र. हृ. – मंगलाचरण
6. (क) 'तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति' – प्र. हृ. – 10

वही प्राण शरीर आदि में कर्त्तृरूप से प्रवेश करके बाहरी पदार्थों की पराधीनता को 'जड़' या अचेतन जैसा सम्पादित करते हुए सर्गादि की सृष्टि करते हैं।[1]

जो कुछ भी बाहर आभासित है, वह शिव तत्त्व में निहित अर्थ समूह ही है।[2] पञ्च कृत्यों को इस प्रकार समझा जा सकता है।

1. **सृष्टि :** 'सृज', धातु से 'बाहर करना', 'छोड़ना', 'फेंकना', 'निकालना' के अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त होता है। इससे यह भाव स्पष्ट होता है कि शिव के भीतर ही सारे तत्त्व निहित हैं, जो सृष्टि कृत्य के द्वारा बाहर प्रकट हो जाते हैं।

शिव जगत् का उपादान व निमित्त कारण दोनों है। वह कुम्भकार के समान नहीं है, उसकी अपनी शक्ति ही जगत् के रूप में भासती है।[3]

2. **स्थिति :** सृष्टि के अनन्तर जगत् का ठहराव 'स्थिति' कहलाता है।[4]

3. **संहार :** संहार का अर्थ है, समेट लेना। संहार का अर्थ विनाश नहीं है। पदार्थ के ज्ञान या प्रमेय को भी संहार कहा गया है।

ज्ञान के समय पदार्थ बाह्यजगत् से संहृत होकर अर्थात् सिमटकर अपनी आन्तरिक चेतना की वस्तु बन जाता है।

पदार्थ का पदार्थत्व या विषयत्व समाप्त होकर वह आन्तरिक चेतना का ज्ञान बनकर रह जाता है।[5]

(ख) यत्र तु शुद्ध प्रथात्मकानुत्तरशक्तिशालिनिर्गलस्वात्मप्रकाश एव मायीय प्रथान्तर व्यवधान वन्ध्यो निबन्धनं, तत्र तस्यैव भगवतः कारणत्वम्। एष च अनुग्रहलक्षणोऽन्त्यः पञ्चमः पारमेश्वरः कृत्य विशेषः पर पुरुषार्थ प्रापकः तन्निबन्धनत्वात् परमार्थमोक्षस्य।

ई. प्र. वि., 1-1-1

1. ई. प्र. वि. -6-7 हि. व्या.
2. तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन्।
   भान्तमेवान्तर्यौंधमिच्छया भासयेद्वहिः ।। ई. प्र. का. 1-6-7
3. (क) 'तेन तेन प्रमात्रा सह ऐक्यं सृज्यते....' ई. प्र. वि. 1-6-7
   (ख) ''देह प्राणादिपदम् आविशन् चिद्रूपोमहेश्वरो बहिर्मुखी भावावसरे नीलादिकमर्थं नियतदेशकालादि तथा यदा आभासयति, तदा नियत देश कालाद्याभासांशे अस्यसृष्टतां.....'' प्र. हृ. 10
4. (क) 'घटादिमात्ररूपे स्थितिः क्रियते.... ई. प्र. वि. 1-6-7
   (ख) 'नीलाद्याभासांशे स्थापकता ......' पृ. ह. 10
5. प्र. हृ. टि. - 116

4. **तिरोधान :** पिधान का अर्थ है- स्वरूप का गोपन या आवरण करना। संस्कार रूप से स्थित वस्तु का जो विलीनीकरण है, वही तिरोधान है।[1]

तिरोधान द्वारा शिव अपने पारमार्थिक स्वरूप को छिपा लेता है।[2] स्वरूप को छिपा लेने को ही तिरोभाव कहा गया है।[3] इसे ही विलय तथा तिरोधान कहा गया है।[4]

5. **अनुग्रह :** परम शिव जीव को अपने वास्तविक स्वरूप और स्वभाव को पहचान लेने के मार्ग की ओर प्रेरित करते हैं।

शिव ही क्रम से या अक्रम से स्वयं की पहचान करा देते हैं। यह लीला उनकी अनुग्रह लीला कहलाती है।[5]

शिव के अनुग्रह से ही परम पुरुषार्थ की सिद्धि होती है तथा मोक्ष प्राप्त होता है।[6]

आचार्य उत्पल ने शिव स्तोत्रावली में इसी अनुग्रह का भावविभोर कर देने वाले शब्दों में वर्णन किया है-

कथं ते जायेवन्कथमपि च ते दर्शनपथं
वज्रेयुः केनापि प्रकृतिमहताङ्केन खचितः।
तथोत्थायोत्थाय स्थलजल तृणादेरखिलतः
पदार्थाद्यान्सृष्टि स्तवदमृतपूरैर्विकरसि।।[7]

शिव के अनुग्रह से बढ़कर कोई मोक्ष का अन्य उपाय नहीं है।[8]

---

1. ई. प्र. वि. हि. व्या. 1-1-1
2. 'पूर्ण स्वरूप निमीलनात् तिरोभाव आधीयते'- ई. प्र. वि. 1-6-7
3. 'भेदेन आभासांशे विलयकारिता....' प्र. ह. 10
4. 'भेदेन आभासांशे विलयकारिता' व्या. प्र. ह. - 1 तथा टि. पृ. - 95
5. का. शै. द., पृ. 69
6. 'एष च अनुग्रहोलक्षणोऽन्त्यः पञ्चमः पारमेश्वरः कृत्य विशेषः पर पुरुषार्थ प्रापकः। ई. प्र. वि. 1-1-1
7. शि. स्त्रो. 12-3
8. (क) प्रकाशक्येन प्रकाशने अनुग्रहीतता, प्र. ह. 10
(ख) समस्त यन्त्रणा तन्त्रत्रोटनाटकं धर्मिणः।
नानुग्रहात्परं किञ्चिच्छेषवृत्तौ प्रयोजनम्।।

परम शिव का पञ्चकृत्य निरन्तर चलता रहता है। अध्वा[1] में विस्तार क्रम से अपने स्वरूप का विकासरूप सृष्टि आदि करते हैं, वैसे ही संकुचित चित् शक्ति से संसार दशा में भी वे पञ्चकृत्य करते रहते हैं।[2]

संसार को हेय तथा घृणा का कारण समझने वाले अन्य मतावलम्बियों को शैव दार्शनिकों का यह उत्तर है कि शिव अपनी माया शक्ति द्वारा अपने ही रूप को प्रसारित करते हैं तो वह किस प्रकार घृणा करने योग्य हो सकता है।

यह समस्त संसार शिव का ही रूप है। यही मानने से ज्ञान प्राप्ति होती है।[3]

सर्वत्र शिव की ही सत्ता है, अतः उसके गर्हित या कुत्सित होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

विमर्श

विमर्श शक्ति द्वारा शिव स्वयं को ही ज्ञेय बनाता है। परम शिव ही अपने स्वातन्त्र्य से विभिन्न भेदों को स्वयं में उत्पन्न करता है और स्वयं ही उनको जानता है। इसी विमर्श को ही शिव की क्रिया शक्ति कहा गया है।[4]

'अ' से लेकर 'क्ष' तक के जो शब्द है वे ही बाहर विश्व रूप में भेद पूर्वक भासते हैं। 'अहं विमर्श' जब होता है तब प्रकाश तथा विमर्श की एकरूपता रहती है।

त. 2-38

1. लौकिक सृष्टि को अशुद्ध अध्वा कहा गया है।
2. (क) सृष्टि संहारकर्तारं विलय स्थिति कारकम्।
   अनुग्रह करं देवं प्रणतार्तिविनाशनम्।।

   स्व. त. 1-3

   (ख) ई. प्र. का. 1-6-7
3. रूप प्रसाररतो गर्हितत्वमयुक्तिमत्।
   पञ्चप्रकारकृत्योक्तिशिवत्वान्निजकर्मणे।।

   स्व. त. 1-4
4. (क) "सत्ताभवने कर्तृतैव शुद्ध विमर्शरूपा क्रिया शक्तिः"

   ई. प्र. वि. भा. 2, पृ. - 363

   (ख) "स च संरम्भो क्रियाशक्तिरूच्यते"

   ई. प्र. वि. 1-1-5

यह अवस्था महामन्त्र रूप अवस्था कहलाती है। 'अ' अनुत्तर तत्त्व तथा 'ह' अनाहत तत्त्व (शक्ति) दोनों का मेल 'अहन्ता' कहलाता है। सारी शब्दराशि उसके भीतर रहती है।[1]

आचार्य नवजीवन रस्तोगी लिखते हैं- "विमर्श के माध्यम से व्याख्यात व्यवस्थापन-कर्तृत्व तीन प्रारूपों में अभिव्यक्त होता है- संयोजन, वियोजन तथा अनुसंधान। 'संयोजन' के द्वारा जहाँ वह विविध सजातीय आभासों को परस्पर संबद्ध करके प्रस्तुत करता है, वहीं नियोजन के द्वारा अन्य विजातीय आभासों को व्यावृत्त करता है। 'अनुसन्धान' के द्वारा एक के ही विविध आभासों की एकरूपता का आसूत्रण करता है। ... यह विमर्श का प्रत्यय केवल परम प्रमाता के ही सन्दर्भ में नहीं प्रस्तुत है, वरन् सामान्य प्रमाता जिसे यहाँ 'माया' प्रमाता कहा गया है, का भी विमर्शन-सामर्थ्य अनिवार्य स्वभाव है।[2]

हृदय : काश्मीर शैव दर्शन में इसी विमर्श को हृदय कहा गया है।

समस्त भाव यहाँ से निकलकर अन्त में यहीं विश्रान्ति पाते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार जड़ का हृदय चेतन है, चेतन का हृदय प्रकाश है व प्रकाश भी हृदय विमर्श है।[3]

विमर्श को ही मन्त्र भी कहा जाता है।

'मन्त्रश्च विमर्शनात्मा'[4]

मन्त्र भी मूलतः शिव रूप ही है। जब मन्त्रों को स्पन्दरूप आत्मबल का साथ मिलता है तब उस तादात्म्य के कारण सभी ऐश्वर्य प्राप्त हो जाते हैं। इसी कारण से योगियों को अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।[5]

---

1. ई. प्र. वि. 1-5-14
2. का. शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ- आ. न. जी. रस्तोगी
3. हृदयं च नाम प्रतिष्ठास्थानमुच्यते, तच्च उक्तनीत्या जड़ानां चेतनम्। तस्यादि प्रकाशात्मकम्, तस्यादि विमर्शशक्तिः इति विश्वस्य परमे पदे तिष्ठतो विश्रान्तस्य इदमेव हृदयं विमर्शरूपं परमन्त्रात्मकं अत्र-तत्र अभिधीयते।

   ई. प्र. वि. 1-5-14
4. ई. प्र. वि. 1-5-14
5. स्प. का. व्या. पृ. 26

मन्त्रों द्वारा आत्मा को शिवभाव के साथ एकाकार बनाया जा सकता है, इसीलिए मन्त्रों को शिवरूप कहा गया है–

तत्रैव संप्रलीयन्ते शान्तरूपा निरञ्जनाः ।
सहाराधकचित्तेन तेन ते शिवधर्मिणः ।।[1]

विमर्श चाहे किसी भी भूमिका पर अवस्थित हो, शब्दना या अभिलाप ही इसका रूप है। शब्दना या अभिलाप से रहित विमर्श की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जब विमर्श उच्चतम भूमिका पर होता है, तब यही परावाणी कहा जाता है।

परावाणी बहिर्मुख प्रसार की प्रक्रिया में पश्यन्ती और मध्यमा अवस्थाओं में से प्रसृत होती हुई और उत्तरोतर स्थूल होती हुई, वैखरी वाणी का रूप धारण करके विकसित होती है।

दृष्टि से प्रत्येक ध्वनि मन्त्र है तथा प्रत्येक ध्वनि विमर्श है।[2]

शैव दर्शन में विमर्श शिव की परा शक्ति को कहा गया है। उदाहरण के लिए–

तस्य देवातिदेवस्थ पर बोधस्वरूपिणः ।
विमर्शः परमा शक्तिः सर्व ज्ञान शालिनी ।।[3]

संवित् स्पन्द को ही विमर्श कहा गया है। इसी प्रकार ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी में कहा गया है–

स्वभावामवभासस्य विमर्श विदुरन्यथा ।
प्रकाशोऽप्रकाशोऽथोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः ।।[4]

अर्थात् अवभास का स्वभाव ही विमर्श है। स्वरूप परामर्श करने वाले ही इसको जानते हैं और तत्त्ववेत्ता लोग विमर्श को अहम्, असांकेतिक, स्वातन्त्र्य

---

1. (क) स्प. का. 27
   (ख) तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः ।
   प्रवर्त्तन्तेधिकाराय करणानीव देहिनाम् ।।
   वहीं, 26
2. स्प. का. व्या. पृ. 26, 27
3. त. 5, पृ. 274
4. ई. प्र. वि. 1–5–11

रूप, आत्मविश्रान्तिरूप, ज्ञाता कहते हैं। अन्यथा अर्थ से उपरक्त रहने पर भी विमर्श से शून्य प्रकाश स्फटिकादि के तुल्य जड़ ही हो जायेगा।

संवेदना की भावातीत अवस्था की अत्यन्त उदात्त बिन्दु सत्ता ही पर -परामर्श दशा है। उससे निवृत्त सौभाग्यशाली साधना सिद्ध 'संहारबीज' में विश्राम का अधिकारी होता है। ऐसा योगी चिदैक्य चमत्कारमयी चन्द्रिका के चेतनामृत से अहन्ता और इदन्ता को आप्यायित कर देता है।[1]

विमर्श संवित् स्पन्द ही है। परप्रमाता शिवरूप अन्तर तत्त्व में सामान्यरूप से और माया से पृथ्वी पर्यन्त बाह्य विस्फार की भेदभूमि में विशेष रूप से शाश्वत उल्लसित है। इस क्रम में भेद स्वीकृति के कारण यह संकोचवान् है। जहाँ तक 'अहम् और इदम् की समानाधिकरण्य दशा की बात है, वहाँ यह तराजू के दो पलड़ों की आनुपातिक समानता में सामान्य और विशेष दोनों है। संकोच और विकास दोनों धर्मों को एक साथ धारण करता है। विमर्श समस्त तत्त्व के परामर्श के कारण इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों का स्वात्म रूप ही है इसलिए इसकी प्रधानता स्वाभाविक ही है।[2]

वास्तविक रूप में तो संवित् में संकोच और विकास नहीं होते किन्तु स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण ऐसा आभास होता है। विमर्श सिद्धान्ततः संकोच-विकासवान नहीं है। ज्ञान ही नील पीत, सुख, दुःख और देह, घट आदि में इदन्ता के परामर्श के कारण सर्वत्र प्रकाशित है। ज्ञान के अतिरिक्त कोई और सत्ता नहीं है। सम्पूर्ण जगत भी ज्ञान रूप ही माना जाता है। कोई भी व्यक्ति ज्ञान के बिना भाव का अनुभव नहीं कर सकता। इससे यह निश्चय होता है कि ज्ञान ही उस रूप में प्रकाशित हो जाता है। साधक को विमर्श के इस स्वरूप को जानना चाहिए। बाह्य प्रसार को देखते हुए भी एवं इसमें रहते हुए भी। आन्तरिक सत्य के प्रति सावधान रहते ही जीवन्मुक्ति रूप परम पद प्राप्त हो जाता है। कहा जाता है कि अविद्या ही विद्या का उपाय है इसी प्रकार यह संकुचित ब्रह्म भी विकस्वर दशा की प्राप्ति का कारण बन जाता है। अन्तविमर्श भी रहे और इदमात्मक विशेष पर भी आँख लगी रहे, यही व्यवहार श्रेयस्कर है।[3]

---

1. त. 5, पृ. 5-78
2. त. 5-79
3. त. 5-79

स्वातन्त्र्य शक्ति के बल से उठने वाले विचित्र-विचित्र अर्थों की विविध-विध क्रियाशीलता का उन्मेष भाव जगत में होता ही रहता है। यही इदमात्मक विमर्श है। यह विशेष नामक स्पन्द है। इसी को औन्मुख्य भी कहते हैं।

वस्तुत: यह विच्छिन्न विमर्श है। यह एक आधार का काम करता है। इदमात्मक विश्रान्ति की इस भूमिका पर उल्लासित अहमात्मक परामर्श में अन्तर्लक्ष्य योगी ही विश्राम करता है। वही उचित भी है। अहं परामर्श से संवलित मन्त्र ही महत्त्वपूर्ण होते हैं। अहं परामर्श ही मन्त्रों का बल है। उनमें तादात्म्यपूर्वक विश्रान्ति से शान्ति आदि अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है।

इदं विमर्श की यही उपयोगिता है कि उसमें 'सोहं' विमर्श का सातत्य बना रहे स्वात्म में विश्रान्ति हो सके। बाह्य औनमुख्य में भी योगी अहमात्मक विमर्श में ही विश्राम करता है। उस दशा में ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ भी दिव्य हो जाती हैं। बोध और स्वातन्त्र्य इनका पर्याय हो जाता है। निमीलित न रहकर व्यापृत होने पर भी ये भैरव मुद्रा में अनुप्रवेश कर जगत् को स्वात्ममय और संविन्मात्रात्मक रहस्य रूप में देखने में या प्रत्यक्ष करने में समर्थ हो जाती हैं।

तन्त्रसार में विमर्श को भ्रमर के समान कहा गया है कि विमर्श एक भ्रमर है और प्रकाश उसका लक्ष्य है। लक्ष्य रूप ऐकात्म्य, विश्रान्ति चमत्कार रसामृतस्वाद की वह धारणा करता है। इसलिए इतस्तत: स्फुरित होता है। भ्रमर गुञ्जार करता ही है। यह उसका स्वभाव है। विमर्श रूप भ्रमर का गुञ्जन बड़ा ही विचित्र है। वह गुनगुनाता है ... मैं .... परमशिव .... निखिल .. जन ....त ....त्व ....सु .... निर्भर........ ऐं।'' इस विशिष्ट शब्द ध्वनि का वह गुञ्जन करता है और स्फुरित होता रहता है। इस प्रकार प्रकाश विमर्श परम्परा की परानुभूति स्पष्ट होती है।[1]

इसी विमर्श को विमर्शिनीकार इस प्रकार कहते हैं कि परामर्श के स्वभाव को जानने वाले अवभास को जानते हैं। विमर्श का अर्थ है कि 'अहम्' ऐसा जो असांकेतिक, स्वातन्त्र्य रूप एवं आत्मविश्रान्ति स्वभाव वाला होता है। तत्त्वज्ञ लोग इसे मन्त्र शरीर, श्री मातृका, श्री मालिनी आदि रूपों में मानते हैं। प्रकाश का मुख्य रूप प्रत्यवमर्श होता है, उसके बिना अर्थ के द्वारा भेद किए गए आकार का

---

1. त. सा. पृ. 150-4

मात्र स्वच्छरूप ही रहता है किन्तु चेतनता नहीं रहती क्योंकि चमत्कार का उसमें अभाव है।[1]

अद्वय शिव अपनी स्वतन्त्रता से युक्त होकर अपनी ईशा आदि संकल्पों से निर्माण करके व्यवहार करता है तथा अपने आपको ही अलग करके ज्ञेय रूप बना देता है। नीलादि में स्वतन्त्र रूप से निर्माण का सामर्थ्य नहीं है अतः शिव ही विश्वमय होकर भासता है। यही विमर्श है।[2]

'इदम्' विमर्श परिच्छिन्न होता है। इसकी सफलता तभी होती है जब यह 'अहं' रूप में विश्राम लेता है। यह जब मायीय रूप में आता है तो इदन्ता के आगे पीछे की कोटि वाला विमूढ़ जनों का माया स्थल रूप संसार कहा जाता है। अतः विमर्श ही शिव का प्रधान रूप है।[3]

विमर्श के कारण ही आत्मा को द्रव्य, चैतन्य कहा गया है। आत्मा के साथ चैतन्य का समानाधिकरण्य रूप से कथन है। चित् चेतन प्रत्यवमर्श रूप है। 'अहम्-अस्मि' रूप में परावाणी के रूप में रहता है। यही शिव का स्वातन्त्र्य रूप ऐश्वर्य है।

यहाँ जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि 'प्रत्यवमर्श' क्या है। 'प्रत्यवमर्श' उसे कहा गया है जो भीतर ही भीतर स्वयं को जानना और उसमें किसी का संकेत भी नहीं रहता, मैं स्वयं नीलादिरूप का भोक्ता हूँ, यही चमत्कार रहता है। बिना बोले स्वीकार कर लेने के बराबर अ, आ, क, ख, ग, आदि सांकेतिक शब्दों का जीवन है। घट स्वयं को प्रकाशित नहीं करता बल्कि आत्मा स्वयं को अपने में ही प्रकाशित करता रहता है, इसीलिए 'घट जानता है,' ऐसा नहीं कहते बल्कि 'चैत्र जानता है' ऐसा कहते हैं। आत्मा में अहन्ता और इदन्ता का भेद नहीं होता है।[4]

विभु परमेश्वर की माया शक्ति से विमर्श शक्ति ही भिन्न संवेद्य को विषय करने वाली ज्ञान संकल्प अध्यवसाय आदि नामों से कही गई है। विमर्शिनीकार कहते हैं कि साक्षात्कार के समय में भी विमर्श रहता ही है, नहीं तो प्रतिसन्धान से रहित

---

1. ई. प्र. वि. 1-5-15, 16
2. वहीं
3. ई. प्र. वि. 13-17
4. वहीं, 13-17

धावन वाचन आदि क्रिया में कैसे परामर्श होता।[1]

आचार्य जयदेव सिंह के अनुसार विमर्श शब्दार्थ-अनुभव रूपी ज्ञान है। विमर्श परम शिव की ज्ञान-क्रियात्मक आत्म संवित्ति रूपी वह शक्ति है जो सृष्टि का कारण बनती है।[2]

तन्त्रालोक के अनुसार अहं बोध स्वरूप नित्य उदित परामर्श ही विमर्श है। इसे ही हृदय, स्पन्द आदि संज्ञाओं से अभिहित किया गया है। स्वात्म विमर्श में सम्पूर्ण बाह्य जगत् का भी ज्ञान हो जाता है। सृष्टि से संहार तक यह अहमात्मक परामर्श निरन्तर बना रहता है। विमर्श ही उच्छलन के कारण स्पन्द कहा गया है-

हृदये स्वविमर्शोऽसौ द्रावितो शेषविश्वक: ।।
भावग्रहादिपर्यन्तभावी सामान्यसंज्ञक: ।
स्पन्द: स कथ्यते शास्त्रे स्वात्मन्युच्छलनात्मक: ।।[3]

ऐसा भी नहीं है कि उच्छलन के कारण बोध में किसी प्रकार का विकार आता है या उसके नित्यत्व में विषय में किसी प्रकार की शंका उठाई जा सकती है। यह उच्छलन बोध का स्वाभाविक स्फुरण है। यह किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। बोध के कारण ही संविद् को संविद् कहा जाता है तथा परामर्श बोध का विकार नहीं बल्कि स्वभाव है। जिस प्रकार समुद्र को समुद्र कहा ही तरङ्गों के कारण है, इसी प्रकार बोध एवं स्पन्द के कारण ही संविद् को संविद् कहा जाता है। इसे ही तन्त्रालोक में इस प्रकार कहा गया है-

किंचिच्चवलनमेताबदनन्य स्फुरणं हि यत्।
उर्मिरेषा विबोधाब्धेर्न संविदनया विना ।।
नि स्तरङ्गतरङ्गादिवृत्तिरेव हि सिन्धुता।
सारमेतत्समस्तस्थ यच्चित्सारं जड़ जगत् ।।[4]

चेतना में आभास उसी प्रकार प्रकट होते हैं जिस प्रकार सागर में तरंगे उठती है तरंगों के उठने और गिरने से समुद्र को कोई लाभ-हानि नहीं है, न ही उसमें कोई

---

1. ई. प्र. वि. 1-5-19
2. प्र. ह. पृ. 152
3. त. 4 - 182, 183
4. त. 4 - 184, 185

विकार आता है इसी प्रकार परासंवित् में आभासों का उन्मीलन, निमीलन चलता रहता है किन्तु परम चेतना में कोई विकार नहीं आता। आभास प्रकट और लीन होते रहते हैं, किन्तु उनकी अधिष्ठान रूपी चेतना वैसी ही बनी रहती है।[1]

चेतना रूपी प्रकाश को क्षेमराज एक भित्ति के समान मानते हैं जिस पर विश्व के समस्त भाव जात प्रकाशित होते रहते हैं।[2] दर्पण में प्रकाशित पदार्थ का आश्रय वही दर्पण है उसी प्रकार परम शिव का प्रकाश भी समस्त आभासों का अधिष्ठान है। उसमें प्रकाशित विश्व तदाकार होते हुए भी स्वात्मफलक पर चित्त रूप में एक रहते हुए भी दर्पण में प्रतिबिम्ब की तरह अलग प्रतिभासित होता है। प्रकाश से अतिरिक्त विश्व का भाव नहीं हो सकता है–

निर्मले मुकुरे यद्वद्भान्ति भूमिजलादयः।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंच्चिन्नाथे विश्व वृत्तयः।।
सदृशं भाँति नयन दर्पणाम्बरवारिषु।
तथा हि निर्मले रूपे रूपमेवावभासते।।[3]

विमर्श भी शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार का माना जा सकता है। जब विमर्श हृदयप्रकाश स्वरूप आत्मा में ही स्थित रहता है तो शुद्ध विमर्श कहलाता है। जब यही 'मैं हूँ' इस प्रकार 'इदमिति' रूप क्षोभ का अनुभव करने लगता है तो विश्व-विस्तार की अपेक्षा से उसे दूसरी कोटि में रखा जाता है।[4]

इसे ही अन्तः स्पन्द और बाह्य स्पन्द कहा जाता है। प्रकाश में विभागों की संभावना नहीं हो सकती किन्तु विमर्श निरवयव होते हुए भी अवयवों में विभक्त हो सकता है। यही प्रकाश-विमर्श की भिन्नता है। प्रकाश और विमर्श एक दूसरे के पूरक हैं। प्रकाश वस्तु का धर्म है और उसका होना ही विमर्श है। विमर्श न केवल प्रकाश के साथ अपना ऐक्य स्थापित करता है, अपितु वह सृष्टि के उद्देश्य की भी

---

1. चिदात्मैव हि देवान्तः स्थितमिच्छावशाद्बहिः।
   योगीव निरूपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्।। ई. प्र. वि. 1-5-7
2. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। प्र. हृ. 2
3. त. 3-4, 5
4. यदा स्वस्मिन् हृदय प्रकाशरूप एवात्मनि तिष्ठति, तदा विमर्शः शुद्धो विमर्शइत्येव व्यवह्रियते। यदा तु विकल्पोपश्लेषलक्षणं क्षोभमनुभवति, तदा विश्व-विस्तारः प्रपञ्च स्फुरणवैचित्र्यात्मा विमर्श इति तत्राधिको विशेषणांशः कश्चिदुत्पद्यते। म. म. प. - 11

व्याख्या करता है। विमर्श सृष्टि, स्थिति आदि सभी क्रियाशील स्थितियों में व्यक्त होता है। अन्त:स्थित वस्तुओं का प्रस्फुरण विमर्श की प्रकृति है। 'अस्ति' प्रकाश का द्योतक है एवं 'भाति' विमर्श का।[1]

इसपूरे विवरण से विमर्श क्या है यह स्पष्ट हो जाता है। विमर्श परमशिव का स्पन्द है। स्पन्द अर्थात् स्फुरण। विमर्श संकोच और विकास आदि को धारण करने वाला है। संवित् ही विमर्श के रूप में उल्लसित है। जब विमर्श शिव रूप में होता है तब यह सामान्य रूप में होता है। विमर्श माया से पृथ्वी तत्त्व तक विशेष रूप में उल्लसित है। यह समस्त शक्तियों का स्वात्मरूप है। सिद्धान्ततः यह संकोच विकासवान् नहीं है बल्कि ज्ञान ही इदन्ता परामर्श के कारण सर्वत्र प्रकाशित है।

इदमात्मक विमर्श : स्वातन्त्र्य शक्ति के बल से उठने वाले विचित्र विचित्र अर्थों की विविध विध क्रियाशीलता का उन्मेष भाव जगत् में होता है। यही इदमात्मक विमर्श है। यह विशेष स्पन्द कहलाता है। यही औन्मुख्य अर्थात् उन्मुखता कहलाता है। यह विमर्श विच्छिन्न विमर्श है जो कि आधार का काम करता है। इस भूमि पर अध्यात्मक विमर्श उल्लसित होता है। जैसा कि अजड़ प्रमातृ सिद्धि में कहा गया है- "इदं विमर्श की यही उपयोगिता है कि उसमें 'सोहं' विमर्श का सातत्य निरंन्तरता बना रहे, स्वात्म में विश्रान्ति हो सके।"

स्पष्ट है कि इदमात्मक विमर्श का लक्ष्य अहमात्मक विमर्श है। विमर्श का लक्ष्य प्रकाश है। स्वयम् शिव ही विमर्श शक्ति के कारण विश्वमय होकर भासता है। यही प्रकाश का मुख्य रूप है। विमर्श रहित होना जड़ ही है। विमर्श इदम् परामर्श और अहम् परामर्श दोनों ही रूपों में चेतन है। विमर्श का मायीय रूप संसार कहा जाता है विमर्श भगवान का प्रधान रूप है।

विमर्श को भी मन्त्र कहा गया है। वह निर्मल विकल्पहीन संवेदन है।[2] विमर्श चाहे किसी भी भूमिका पर अवस्थित हो शब्दना या अभिलाप ही इसका रूप है। शब्दना या अभिलाप से रहित विमर्श की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जब यह उच्चतम भूमिका पर स्थित होता है तब परावाणी कहलाता है। परावाणी बहिर्मुख

---

1. मधूसूदन कौल – 'शंकर और शंकर की उपासना' – कल्याण शिवांक पृ. 234
2. मन्त्रदेवता विमर्श परत्वेन प्राप्त तत्सामरस्यम् आराधकचित्तमेवव मन्त्रः, न तु विचित्रवर्ण संघट्टनामात्रम् .... शि. सू. वि. – 2 – 1

प्रसार की प्रक्रिया में पश्यन्ती और मध्यमा अवस्थाओं में से प्रसृत होती हुई और उत्तरोत्तर स्थूल होती हुई, वैखरी वाणी का रूप धारण करके विकसित होती है। इस सृष्टि से प्रत्येक ध्वनि मन्त्र है तथा प्रत्येक ध्वनि विमर्श है।[1]

शिव तथा विश्व का भेदाभेद सम्बन्ध

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार मूल तत्त्व एक परम शिव है, शेष संसार उसी मूलतत्त्व का स्फार है।

परम शिव देश काल की सीमाओं से परे है। देशकाल का बन्धन ही क्रम है। परम शिव अपरिच्छिन्न स्वरूप वाला तथा देशकाल के स्वरूप से शून्य है।

वह अक्रम होकर भी बाहर क्रम रूप से भासता है।[2]

परम शिव ही मूर्ति वैचित्र्य से देश क्रम को तथा क्रिया की विचित्रता के आभास से काल क्रम को आभासित करते हैं।[3]

शिव देशकाल को आभासित करते हुए भी उससे परे है। जो भेद दिखाई देता है, वह काल क्रम का कारण है। परमार्थतः क्रिया शक्ति में कोई भेद नहीं है। परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति द्वारा विमर्श के बल से ही भेद और अभेद की व्यवस्था होती है।[4]

काश्मीर शैव दर्शन में भेद तथा अभेद के विचार को समझने के लिए अभेद रूप परम शिव तथा भेदरूप संसार के आपसी सम्बन्ध को समझना आवश्यक है।

---

1. स्प. का. व्याख्या 26, 27
2. या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता।
   अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः।।

   ई. प्र. 1-7-1
3. मूर्ति वैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ।
   क्रिया वैचित्र्य निर्भासात्कालक्रममपीश्वरः।।

   ई. प्र. 2-1-5
4. (क) देश क्रमोऽपि भावेषुभातिमातुर्मितात्मनः।
   स्वात्मेन स्वात्मना पूर्णाभावाभान्त्यमितस्य तु।।

   ई. प्र. 2-1-7

   (ख) 'एवम् विमर्शबलादेव भेदाभेदव्यवस्था'

   वहीं, वि. 2-3-10

परम शिव एक मात्र तत्त्व है, वही विश्व के अनेकानेक पदार्थों में आखिर कैसे विभक्त होकर भासता है, इसको समझने के लिए इनके मध्य स्थित सम्बन्ध-सूत्र को जानना चाहिए इसी से भेदाभेद की व्याख्या सम्भव है। विमर्शिनीकार कहते हैं कि सभी भेदों में आन्तरिक तत्त्व तो एक (संवित्) ही है, वही तत्त्व इन्द्रियों द्वारा वेद्य-होकर देशकाल आदि के भेद द्वारा अनेक रूपों में विभक्त हो जाता है। एक का इस प्रकार अनेक होकर भासना सम्बन्ध है।[1]

जिन दो पदार्थों मे सम्बन्ध होता है, उनमें यह कभी अभिन्न रूप से रहता है, तो कभी भिन्न रूप से। इस आधार पर यह आन्तरिक तथा बाह्य रूप से दो प्रकार का कहा गया है।[2] काश्मीर शैव दर्शन में सम्बन्ध शिव तथा शक्ति को ज्ञान तथा क्रिया को, प्रकाश एवं विमर्श को जोड़ता है। उत्पल के अनुसार सम्बन्ध निरन्तरता नहीं है[3] तथा न ही सम्बन्ध द्विष्ठता रूप है और न ही यह अपेक्षा या परतन्त्रता है।[4]

प्रत्येक ज्ञान अनेक आभासों का मेल है अत: प्रत्येक ज्ञान में सम्बन्ध का होना आवश्यक है।[5]

अनेक भेदों से युक्त विश्व अभेद संवित् रूपी दर्पण में भासता है तथा उसकी अभेदता नष्ट नहीं होती, केवल आभासों का ही भेद होता है।[6] इन भेदों के मध्य

---

1. ''तेषु क्रियादिषु यत् आन्तर तत्त्वं तदेव इन्द्रिय वेदनीयतां प्राप्य देशादिभेदात् अनेकतां याति इति सम्बन्ध:'' ई. प्र. वि. 2-2-2

 तथा

 ''सम्बन्धाधीनैव इयं चित्रा लोकयात्रा'' वही 2-2-3
2. काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूलअवधारणाएँ - पृ. 131
3. नैरन्तर्यं चेत् दूरस्थो पितापुत्रयो: स न स्यात् अय: शलाकयो: संनिकृष्टयोर्विभुद्रव्ययोरपि च स्यात्।

 सं. सि. वृ.पृ.-1
4. द्विष्ठस्यानेकरूपत्वात् सिद्धस्यान्यपेक्षणात्। पारतन्त्र्याद्योगाच्च तेन कर्तापि कल्पित:।।

 ई. प्र. वि. 1-2-11
5. आभासानां च मेलनं स्वलक्षणान्तराणां चेतिबहुशाखोऽयं सम्बन्ध एव निर्भासते।

 ई. प्र. वि. वि. 2/35
6. चित्स्वभावस्य दर्पणस्येव एकतानपबाधनेन आभासभेदसम्भवे क इव विरोध इति, तस्मात् प्रत्यभिज्ञा ज्ञानबलात् एकोऽपि असौ पदार्थात्मा स्वभावभेदान् विरूद्धान् यावत्

जो समन्वय है, वह एक ही प्रमाता में भिन्न-भिन्न रूपों का आभासन परम शिव की क्रिया शक्ति के कारण होता है।[1]

ये भेद एक ही प्रमाता में भासने के कारण ही अन्वयरूप से एकत्व को प्राप्त होकर सम्बन्ध रूप का वाच्य बन जाते हैं। उदाहरण देते हुए विमर्शिनीकार कहते हैं, जैसे किसी राजपुरुष को देखकर प्रमाता की बुद्धि में एक ही व्यक्ति का आभास होता है जब कि राजा व पुरुष दोनों भिन्न-भिन्न हैं। यही एकरूप श्लेष है जो कि सम्बन्ध का अभिप्राय है। इस स्थिति में भी दोनों प्रत्यय एकाकार नहीं होते एक होने से तो भेद नष्ट हो जायेगा बल्कि भिन्न होकर भी एकाकार प्रतीति कराते हैं।[2]

क्रिया शक्ति से ही दिशा, काल सम्बन्धी सारे विस्तार होते हैं और क्रिया शक्ति से ही उनमें सम्बन्धरूपता होती है।[3] इसे ही आचार्य नवजीवन रस्तोगी स्पष्ट करते हुए कहते हैं - इस प्रकार के सम्बन्ध को प्रतिपादित करने से यहाँ न तो दोनों सम्बन्धियों की इतनी अभिन्नता अभिप्रेत है जितनी कि वेदान्त में फलत: उन्हें विवर्त की कल्पना करनी पड़ी, न ही वह पराश्रितत्व ही अभिप्रेत है जिसकी कि कल्पना न्यायवैशेशिक को अपने समवाय के प्रत्यय में करनी पड़ती है और न ही सांख्यवत् अचेतनगत परापेक्षा ही अभिमत है जिसकी कि कल्पना वह सत्कार्यवाद की सिद्धि में करता है। अपितु यहाँ पर 'आभासवाद' की विशिष्ट धारणा का ही पोषण हुआ है यही सम्बन्ध का प्रत्यय सम्बन्धियों को एक समग्र का अंग बना देता है।[4] आचार्य रस्तोगी के अनुसार काश्मीर शिवाद्वयवाद में सम्बन्ध की स्थिति के तीन स्तर है-

1. **पूर्ण अभेदात्मक स्तर :** परम सत्
2. **भेदाभेदात्मक स्तर :** यह परम सत् से स्थूल जगत् तक पहुँचने की

अङ्गीकुरुतेतावत् ते विरोधादेव क्रमरूपतया निर्भासमाना: तमेकं क्रियाश्रयं संपादयन्तिततश्च सम्बन्धादीनामपि उपपत्ति....। ई. प्र. वि. 2-1-1

1. ''लोकयात्राकृतिर्यस्य स्वेच्छया...'ई. प्र. वि. 2-2-4
2. स च एष रूप श्लेष.... इति सम्बन्धस्य रूपम् - 2-2-4
3. यत्र पदार्थाभासस्य आत्मविश्रात्या संतोषमपुष्यत: आभासान्तर परामर्श विश्रान्ति साकाङ्क्षतया स्वरूपनिष्ठा तत्र सम्बन्ध रूपतैव क्रियाशक्ति - विजृम्भामयी'' - ई. प्र. वि. 2-2-6
4. 'काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ पृ. 139

प्रक्रिया के मध्य का स्तर है जिसमें सम्बन्ध की स्थिति विविध रूपों में विद्यमान रहती है।

3. **भेदात्मक स्तर :** यह सम्बन्ध का स्फूट कार्य क्षेत्र है।[1]

भेदाभेद सम्बन्ध व प्रत्यभिज्ञा

वास्तव में मूल सम्बन्ध है प्रत्यभिज्ञा, क्योंकि पूरा विस्तार शिव का अपने आपका प्रत्यभिज्ञान करने के लिए ही है सारे सम्बन्ध शिव के स्वातन्त्र्य के प्रसार ही हैं। प्रमाता प्रभेद का एकीकरण प्रत्यभिज्ञान ही है। यह प्रत्यभिज्ञा ही वह मूल सम्बन्ध है जो दार्शनिक शब्दावली में भूत व वर्तमान अथवा स्मरणांश व प्रत्यक्षांश को सम्बद्ध करता है। जहाँ परमेश्वर अपने परम ऐश्वर्य का भोग इसी के माध्यम से करता है वहाँ जागतिक प्रमाता अपने वास्तविक स्वरूप को इसी के माध्यम से पहचानता है।[2]

क्रियाशक्ति तथा वाक् के विभिन्न स्तर

परम सत् का प्रकाश रूप ज्ञान कहलाता है एवं विमर्श रूप क्रिया। परम सत् में शक्ति की व्याख्या विमर्श अंश के रूप में की जाती है। प्रकाश अंश जो कि ज्ञान का स्वरूप है वह शिव तथा विमर्श अंश जो कि क्रिया रूप है वह शक्ति कहा गया। शिव का स्वभाव ही शक्ति है और प्रकाश का स्वभाव ही विमर्श है[3] परावाक् रूप में वही क्रिया परम शिव में रहती है।[4] उस परावाणी का कभी भी अस्त और

---

1. परस्पर सम्बन्धों द्विश एव बहुशाखो भवन् मेलितानुमेलनन्यायेन एवं सहमेलनाख्य सम्बन्धमुत्थापयति इति सदाशिवेश्वरभूरहमिदमिति महासम्बन्धभूमिः।
   ई. प्र. वि. भा. 2, पृ. 358
2. काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ – पृ. 132
3. स्वभावमवभासस्य विमर्श विदुरन्यथा।
   प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः।
   ई. प्र. वि. 2-5-11
4. अतएव सा स्वरसेन चिद्रूपतया स्वात्मविश्रान्ति वपु या उदिता सततम् अनस्तमिता नित्या अहमित्येव, एतदेव परमात्मनो मुख्यं स्वातन्त्र्यम् ऐश्वर्यम् ईशितृत्वम् अनन्यापेक्षित्वम् उच्यते।
   ई. प्र. वि. 1-5-13

उदय नहीं होता। उसमें सदा क्रियाशीलता तथा स्पन्दरूपता रहती है। वह देश काल से परे होती है। सभी क्रिया कलाप तथा जगत का पूरा विस्तार इसी विमर्श शक्ति से है।[1] यह क्रिया शक्ति ही अनेक रूपों में भासती है किन्तु संवित् से एकरूपता को छोड़ती नहीं है।[2] प्रारम्भ में वाक् समस्त दोषों से मुक्त होती है। इसका प्रथम रूप अनादि अकृत्रिम और अनन्त है–

अनादि निधना नित्यावागुत्सृष्टास्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्यायतः सर्वाःप्रवृत्तयः ।।[3]

वाक्

शिव शक्ति के मिलन की स्थिति 'संघट्ट' या 'यामल' कहलाती है। इससे आनन्द शक्ति का उदय होता है। इससे विश्व का विसर्ग होता है।[4] यह विसर्ग शक्ति विश्व का कारण कही गई है।[5] स्थूल शब्दराशि भी विसर्ग शक्ति का ही परिणाम है। सामान्यजन उसे मातृका कहते हैं। इसमें क्षोभकत्व आने पर यह मालिनी कहलाती है। इसका नाम 'विश्वं मलते आत्मनि स्वरूपं धत्ते' इस व्युत्पत्ति

---

1. यत् अतुच्छं रूपम् तत् इयमेव इति, श्रीसारशास्त्रेऽपि निरूपितम् – "यत्सारमस्य जगतः सा शक्तिर्मालिनी परा।" इति सैषा शक्ति प्रत्यभिज्ञानं दर्शितम्। हृदयं च नाम प्रतिष्ठास्थानमुच्यते, तत्त्व उक्तनीत्या जड़ानां चेतनं, तस्यापि प्रकाशात्मत्वम्, तस्यापि विमर्शशक्तिः इति विश्वस्य परमे पदे तिष्ठतो विश्रान्तस्य इदमेव हृदयं विमर्श रूपम् परमन्त्रात्मकं तत्र तत्र अभिधीयते। ई. प्र. वि. 1-5-14
2. तत्तदेशकालाकार भिन्नः तत्र चेत्र देहोऽनेकस्वभावोऽपि 'स एवायम्' इति एकरूपताम् अपरित्यजन्नेव निर्भासते, सैव च एकानेकरूपा क्रिया।

   ई. प्र. वि. 2-2-1
3. महाभारत शा. प. 231/56
4. तयोर्यद्यामलं रूपं स संघट्ट इति स्मृतः।
   आनन्द शक्तिः सैवोक्ता यतो विश्वं विसृज्यते ।।
   परापरात्परं तत्त्वं सैषा देवी निगद्यते।
   तत्सारं तच्च हृदयं स विसर्गः परः प्रभुः ।।

   त. 1-3-69
5. विसर्ग शक्तिर्विश्वस्य कारणं च निरूपिता।

   त. 3-226

के अनुसार 'मालिनी' हो जाता है।[1]

मालिनी की स्थिति विसर्गोदय कहलाती है। यही परावाक् तीन प्रकार की हो जाती है। वैखरी स्थूल, मध्यमा अन्यनिरपेक्ष तथा पश्यन्ती सूक्ष्म होती है।[2]

मालिनी का क्रम

'न, ॠ, ऋ, लृ, लॄ, थ, च, ध, ई, ण, उ, ऊ, ब, क, ख, ग, घ, ङ, इ, अ, व, भ, य, ङ, ढ़, ठ, झ, ञ, ज, र, ट, प, छ, ल, आ, स, अ:, ह, ष, क्ष, म, श, अं, त, ए, ऐ, ओ, औ, द, फ' इसमें पचास अक्षर हैं, 'न' से आरम्भ तथा 'फ' से अन्त होने के कारण इसे 'नादिफन्ता' कहा जाता है।

वाक् या शब्द राशि से उद्भूत शक्तिवर्ग के वश में हो जाने से ही पति शिव प्रमाता पशु जीव प्रमाता बनकर सीमित हो जाता है।[3] अत: शब्द केवल जड़ ध्वनि मात्र नहीं है, बल्कि स्पन्दमयी चेतना शक्ति है। प्रत्येक जीव जब तक अपने स्वरूप को नहीं पहचान लेता, तब तक इसका दास बनकर रहता है।

परावाक् :

'मन्त्रश्च विमर्शनात्मा'[4]

उच्चतम भूमिका पर स्थित विमर्शात्मक शब्दना को ही शास्त्रीय शब्दों में परा

---

1. शब्दराशि स एवोक्तो मातृका सा च कीर्तिता।
   क्षोभ्य क्षोभकतावेशान्मालिनी तां प्रचक्षते।।
   बीजयोनिसमापत्तिविसर्गोदयसुन्दरा।
   मालिनी हि परा शक्तिर्निर्णीता विश्वरुपिणी।।

   त. 1-3-233
2. संस्कृत वर्णमाला का 'अ' से 'क्ष' तक का जो प्रचलित क्रम है, वह 'पूर्वमालिनी' या 'मातृका' कहलाता है। स्वच्छन्द तन्त्र में इसी क्रम को स्वीकारा गया है। इसके विपरीत मालिनी-विजयोत्तर तन्त्र में वर्णमाला को 'न' से 'फ' तक के दूसरे क्रम में भी रखा गया है।
3. शब्दराशिसमुत्थस्थ शक्तिवर्गस्य भोग्यताम्।
   कलाविलुप्त भियो गत: सन् स पशु: स्मृत:।।

   स्प. का. 45
4. ई. प्र. विय. 1-5-14

वाक् कहा गया है। यह परावाणी या आन्तर शब्द ऐसी स्पन्दनामय शब्द रूप है जिसमें अनन्त एवं अतर्क्य स्थूल वाचक और वाच्य रूप शब्द राशि, मोर के अण्डरस न्याय से, केवल स्फुरण के रूप में अवस्थित है। इस अवस्था में कोई स्थूल वात्य वाचकरूप विभाग नहीं होता अत: यह बीजरूप अर्थात् अहं रूप ही है। सारे मन्त्र मूलत: परावाणी रूप ही है। यही वह सामान्य स्पन्दन है जिसका स्वरूप अगतिमय गति है और जो अचल आत्मा में चलत्ता का आभास करा देती है। यही शिव की ज्ञानक्रियात्मक विमर्श शक्ति है।[1]

पश्यन्ती : वाक् का भी स्थूल, सूक्ष्म और परत्वत:, इस प्रकार तीन प्रकार का रूप होता है।[2]

जब स्वर में माधुर्य का आनन्ददायी आह्लाद उल्लसित होता है इसलिए वह नादरूपिणी अवस्था होती है। यह स्थूल अवस्था पश्यन्ती होती है। यहाँ वर्ण विभाग नहीं होता तथा स्वरों की सुकुमारता का बोध होता है।[3] अविभाग अवस्था का ऐकात्म्य ही माधुर्य शक्ति है। स्थान और वायु आदि के प्रयत्नादि घर्षों से यह स्फुट हो जाती है। यह परुष दशा होती है। इस दशा में नादरुपिणी परावाक् शक्ति में संविद् विषयावृत्ति के सान्निध्य से एक प्रकार का साजात्य उत्पन्न हो जाता है फलस्वरूप तादात्म्यानुभूति से संविन्मयता उत्पन्न होती है।[4]

मध्यमा वाक्

चमड़े से मढ़े मृदङ्ग आदि में कराघात आदि से जब ध्वनि उत्पन्न होती है, वहाँ वर्णोदय नहीं होता फिर भी वर्णों के समान ध्वनियाँ उत्पन्न कर दी जाती हैं। यह

---

1. एषैव च किञ्चिद्रूपता यत् अचलमपिचलमाभासते- वही
2. तासामपि त्रिधा एवं स्थूलसूक्ष्मपरत्वत:।

त. 1-3-237

3. तत्र या स्वरसन्दर्भसुभगा नादरूपिणी।
सा स्थूला खलु पश्यन्ती वर्णाद्यप्रविभागत:। त. 1-3-239
4. अविभागेकरूपत्वं माधुर्य शक्तिरूच्यते।
स्थानवाय्वादिधर्षोत्था स्फुटतैव च पारूषी।
तदस्यां नादरूपायां संवित्सविधवृत्तित:।।
साजात्यान्तर्म (त्तन्म) यो भूतिर्झगित्येवोपलभ्यते।

त. 1-3-239

स्फुटता और अस्फुटता दोनों के सामञ्जस्य की स्थिति है। यह अवस्था भी अविभागमयी होती है। इसमें भी रञ्जकता और आसक्ति के गुण विद्यमान रहते हैं। अविभाग का सद्भाव परम आनन्द की अनुभूति के लिए आवश्यक बताया गया है।[1]

वैखरी : जो वाक् तत्त्व स्फुट रूप से पृथक् पृथक् वर्णों की उत्पत्ति में कारण है तथा जो कानों से सुनी जा सकती है। वह वैखरी वाक् है। यह स्थूल होती है। इससे वर्ण, पद और वाक्यों के माध्यम से विश्व का पूरा साहित्य लिखा और पढ़ा जाता है।[2]

इन पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी भेदों में स्वात्माभिलाष, इच्छा का अनुसन्धान तथा विमर्श स्वभावतः होता है। यह इन तीनों का अनुसन्धानात्मक भेद हैं।[3] षड्ज आदि रूप में जिज्ञासा, मधुर वाचन व बोलने का अभिलाष ये सूक्ष्म भेद हैं इसमें भी परम शिव की इच्छाशक्ति ही कारण है।

---

1. यत्तुचर्माऽवनद्धादि किंचित्तत्रैष यो ध्वनिः ।।
   स स्फुटास्फुट रूपत्वान्मध्यमा स्थूलरूपिणी।
   मध्यायाश्चाविगांशसद्भाव इति रक्तता ।।
   अविभागस्वरमयी यत्र स्यात्तत्सुरञ्जकम्।
   अविभागो हि निर्वृत्यै दृश्यतां तालपाठतः ।।
   किलाव्यक्तध्वनौ तस्मिन्वादने परितुष्यति।
   त. 1-3-241-43, 44
2. या तु स्फुटानां वर्णानामुत्पत्तौ कारणं भवेत् ।।
   सा स्थूला वैखरी यस्याः कार्य वाक्यादि भूयसा।
3. (क) अस्मिन्नस्थूलत्रये यत्रदनुसन्धानमादिवत्।
   पृथक्पृथक्तत्रितयं सूक्ष्ममित्यभिशब्द्यते।
   षडजं करोमि मधुरं वादयामि ब्रुवे वचः।
   पृथगेवानुसन्धानत्रयं संवेद्यते किल।
   एतस्यादि त्रय स्याद्यं यद्रूपमनुपाधिमत् ।।
   तत्परं त्रितयं तत्र शिवः परचिदात्मकः ।।
   त. 1-3-245-47

   (ख) स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम्।
   अस्त्येव न विना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते ।।
   ई. प्र. 1-5-10

वाक्यपदीय में वाक् शक्ति निरूपण तथा काश्मीर शैव दर्शन से भिन्नता

वाक्यपदीयकार भ्रतहरि ने शब्द को ही ब्रह्म माना है। उनके अनुसार परम तत्त्व शब्द है। सभी सांसारिक पदार्थों का मूल स्त्रोत उन्होंने 'शब्द' को ही बताया है। यह शब्द तत्त्व अनादि-अनन्त है तथा समस्त विकारों से रहित है। संसार के समस्त क्रियाकलाप इसी से सञ्चालित होते हैं-

अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रियाजगतो यतः ।।[1]

संसार के सभी नामवत् पदार्थ शब्दतत्त्व का विवर्त हैं। विवर्त अतात्विकभाव अथवा अन्यथा भाव है। किसी वस्तु में वास्तव में परिवर्तन न हो किन्तु फिर भी परिवर्तन दिखाई दे, वह विवर्त है। वाक्यपदीय में शब्द का वही स्थान है जो वेदान्त में ब्रह्म का है। शब्द ब्रह्म की विशेषता यह है कि वह अपने विवर्तों से वैखरी रूप में सीधा जुड़ा हुआ है। शब्द से ही प्रत्येक अर्थ की प्रतीति होती है, अतः प्रत्येक अर्थ शब्द से ही बना है। शब्द ब्रह्म का प्रकटतम रूप वैखरी सब पदार्थों में अनुस्यूत है। सभी पदार्थ उससे अनुविद्ध है। यह वाक्यपदीय के दर्शन तथा वेदान्त दर्शन में अन्तर है।

वहाँ ब्रह्म निरपेक्ष होता है, पदार्थों में व्याप्त नहीं है, पदार्थ मिथ्या या भ्रम कहे गए हैं-

'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या'।

भृतहरि ने शक्ति का अर्थ योग्यता कहा है। शब्द का अर्थ को प्रकट कराने का जो सामर्थ्य है वही उसकी शक्ति है।[2] उस शब्द ब्रह्म को जानने का सर्वोत्तम उपाय व्याकरण है। वेद के छहों अंगों में व्याकरण सर्वप्रथम है।[3] इसे ही मोक्ष का द्वार

---

1. तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः
   सहस्रशः प्रभवन्ते प्रभवन्ते सरूपाः।
   तथाक्षराद्विविद्याः सौम्यभावाः
   प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ।।
   मुण्डकोपनिषद्-2-1-1
2. वा. प.-1 (हिन्दी व्याख्या)
3. आसन्नं ब्रह्मणस्तरस्य तपसामुत्तमं तपः।
   प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः ।।

कहा गया है।[1] इस व्याकरण शास्त्र को वाणीत्रयी की प्राप्ति का स्थान माना गया है।

वाक् के तीन स्तर

जहाँ शैव दार्शनिक वाक् के चार स्तर मानते हैं- परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी, वहीं वैयाकरण केवल पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी को ही वाक् के तीन स्तर मानते हैं तथा वाक्त्रयी के नाम से कहते हैं-

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेक तीर्थभेदायास्त्रय्या: वाच: परं पदम्।।[2]

इनका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है- (1) पश्यन्ती - यह सब प्रकार के विकार से रहित तथा क्रम रहित है। यह वाणी अत्यन्त सूक्ष्म है और स्वरूपत: प्रकाशमान है। वह अन्त: सन्निवेशिनी कही जाती है।[3]

पश्यन्ती वाणी का यही रूप शैव शास्त्रों में वर्णित है। वहाँ भी इसे वाच्यवाचकभाव से रहित और सूक्ष्मा कहा गया है।

मध्यमा वाक्

प्राणवायु-प्रयोग से पहले की स्थिति में केवल बुद्धि को, अपने स्वरूप के लिए उपादान तत्त्व के रूप में लेकर रहने वाली वाणी मध्यमा वाणी कही गई है। इसमें वर्णक्रम और ज्ञेय-ज्ञाप्य वस्तुओं का क्रम रहता है। यह पश्यन्ती और वैखरी वाणी के मध्य की स्थिति है इसीलिए इसे मध्यमा वाक् के नाम से कहा गया है,

---

प्राप्तरुपविभागाया यो वाच: परमो रस:।
यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जस: ।।
वाक्यपदीय बृ. का. 11, 12

1. तद्द्वारमपवर्गस्य, वही-14
2. वा.- बृ. का. 142
3. या च अविभागा, वाच्यवाचक विभागरहिता, सर्वत: संहतक्रमा, ज्ञाने ज्ञेये, ज्ञाप्ये ज्ञापके च पौर्वापर्यरहिता, या च स्वरूपज्योतिरेव स्वरूपतयैव ज्योति: प्रकाश:, प्रकाशात्मैव, या चान्त: सूक्ष्मा, अन्तर्वर्तिनी सूक्ष्मा या चानपायिनी विकृतिरहिता, अपायोपजनविकार रहिता नित्या सा वाक् 'पश्यन्ती' भवति-इति।

संस्कृत व्याख्या. - वा. प. ब्र. का.- 142

इस वाक् के स्तर में पश्यन्ती से कुछ स्थूलता बढ़ती है किन्तु वैखरी की तुलना में यह सूक्ष्म है।[1]

वैखरी वाक्

कण्ठ, तालु, आदि स्थानों में भीतर से उठे हुए वायु के विवर्तित होने पर क ख आदि वर्णों का स्वरूप धारण करने वाली वाणी वैखरी वाणी है। यह प्रयोगकर्ता के प्राणवायु में रहती है। बोलने वाले व्यक्ति का प्राणवायु इसकी स्वरूप-निष्पत्ति का कारण बनता है। इसमें मन तथा प्राण का समन्वय कहा गया है।

समस्त विश्व की ध्वनियाँ तथा समस्त साहित्य इसी वैखरी वाणी के अन्तर्गत आता है।[2] इसी वाक्त्रय को महाभारत में भी इसी रूप में कहा गया है। वहाँ भी पश्यन्ती को सूक्ष्म, मध्यमा को क्रमयुक्त तथा वैखरी को प्राणवृत्तिनिबन्धित कहा गया है।[3]

इस प्रकार वाक्यपदीय में वाक् के स्वरूप को पश्यन्ती, मध्यभाव वैखरी तीन प्रकार का ही कहा गया है, जबकि काश्मीर शैव दर्शन परावाक् को भी मानता है। वाक्यपदीयकार वाक् का आरम्भ नाभि प्रदेश से पश्यन्तीवाक् से मानते हैं जबकि शैव दार्शनिक परावाक् को मूलाधार चक्र में मानते हैं। उसके बाद पश्यन्ती

---

1. या तु केवल बुद्ध्युपादाना, बुद्धिरूपादानं यस्याः न तु प्राणाः, न मनः, सा तथाभूताः, या च क्रमरूपानुपातिनी, क्रमं सपद्युक्त प्राणवृत्तिं श्वासोच्छ्वासावतिक्रम्य प्रवर्तते सा तथा भूताः वाक् 'मध्यमा' भवति।

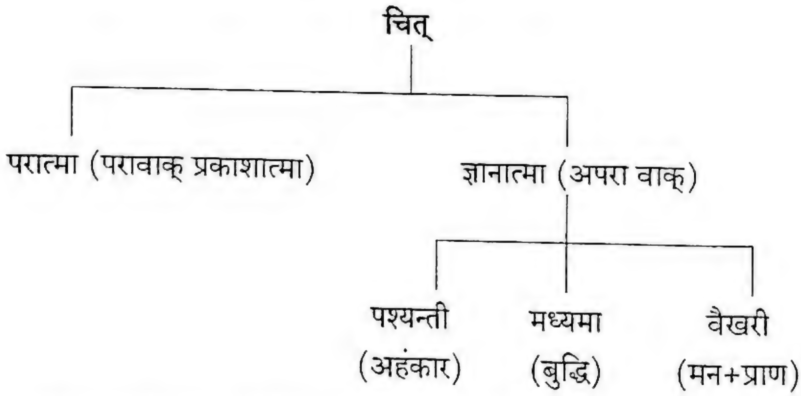
   वा. प. सं. व्या.बृ. का. – 142
2. उच्चारयितृणां प्राणवृत्तिनिबन्धना, प्राणानां वृत्तिः श्वासोच्छवासौ जीवनशक्तिश्च, सा प्राणवृत्तिनिर्बन्धनं कारणं यस्याः सा तथा भूता अथवा प्राणवृत्तौ निबन्धनं निबद्ध स्थितिर्यस्य सा तथाभूता वाक् 'वैखरी' भवति।

   वहीं
3. स्थानेषु विवृत्ते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा।
   वैखरी वाक् प्रयोक्तृणां प्राणवृत्तिनिबन्धना।।
   केवलं बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी।
   प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमावाक् प्रवर्तते।।
   अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहरतक्रमा।
   स्वरूप ज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी।

   उद्धृत-वही वा. प. ब्र. का. – 142

नाभिप्रदेश में, मध्यमा हृदय में तथा वैखरी कण्ठ में स्थित है, ऐसा मानते हैं।

आचार्य वामदेव का मानना है कि वाक्यपदीयकार ने भी वाक् के चार ही प्रकार माने हैं। वामदेवाचार्य का मानना है कि त्रयी वाक् व्याकरण-प्रक्रिया के अनुसार कही गई है। दर्शन की जहाँ बात आती है, वहाँ भृतहरि परा वाक् को मानते हैं। वाक्यपदीयकार ने 'त्रय्या वाचं परं पदम्' व्याकरण को कहा है। वाक् के चौथे पद को अस्वीकार करने के लिए नहीं। वाक्यपदीयकार ज्ञान शक्ति रूप जो वाक् है, वह परा वाक् है, ऐसा मानते हैं।[1] वामदेवाचार्य के शब्दों में – ''हमारी दृष्टि में व्याकरणागम सम्मत वाक्'' के चार पद हैं और वे इस प्रकार हैं–

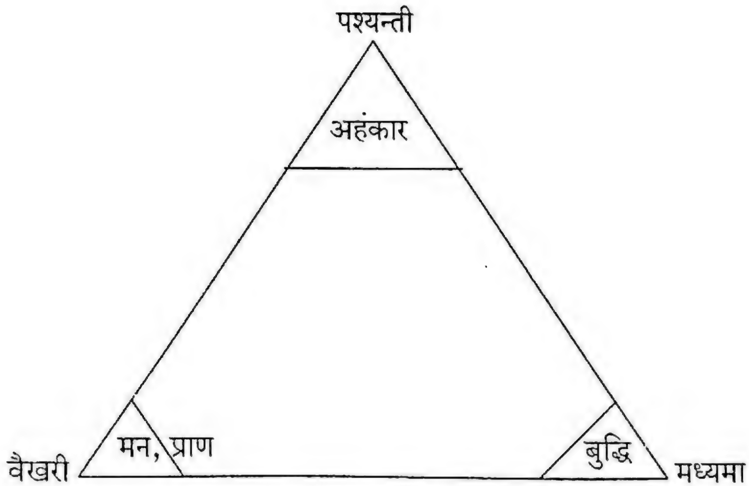


इस प्रकार मध्यमा का मध्यमात्व सुरक्षित रहता है।''[2]

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वाक्यपदीयकार तथा शैव दार्शनिकों में वाक् के स्वरूप को लेकर वास्तविक भेद नहीं है बल्कि दार्शनिक सिद्धान्तों के अलग-अलग होने से ही यह परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। वाक् के चार रूप सदैव भारतीय दर्शन को मान्य रहे हैं, यह दर्शन या सिद्धान्त का ही विषय नहीं है, वरन् यह तो अनुभव करने का विषय है। योग द्वारा जिसे साक्षात् जाना जा

1. भेदोद्ग्राहविवर्तेन लब्धाकार परिग्रहा।
आम्नाता सर्वविद्यासु वागेव प्रकृतिः परा।
एकत्वमनतिक्रान्ता वाङ्नेत्रा वाङ्निबन्धनाः
पृथक्प्रत्ययवभासन्ते वाग्विभागागवादयः।।
इति हरिवृषभवृत्तौ उद्धृत वा. प. बृ. का. सं. व्या. – 126
2. वा. प. भू. पृ.–18

सकता है, शरीर में अनुभूत किया जा सकता है, इतने स्पष्ट सिद्धान्त में विरोध को सफलता नहीं मिलती है। इस चित्र द्वारा इस विषय को समझा जा सकता है-



यह ज्ञानात्मा रूप वाक् के तीन वैयाकरणिक रूप हैं तथा अन्तःकरण से ऊपर परात्मा प्रकाशरूप है।[1]

वैयाकरण मत में शब्द का महत्त्व

व्याकरणगम (व्याकरण दर्शन) के प्रमेय तत्त्वों में प्रमुख शब्द तत्त्व ही है। व्याकरणदर्शनानुसार यह शब्द ही ब्रह्म है। ब्रह्म का जो स्वरूप श्रुति कहती है जिसे वेदान्तियों ने उपनिषद् श्रुति के आधार पर बताया है ठीक वैसा ही स्वरूप शब्दतत्त्व का भी है। शब्दतत्त्व ही पारमार्थिकरूप से ब्रह्म पदार्थ है। वेदान्तियों के ब्रह्म के साथ अनेक समस्याएँ भी हैं किन्तु वैयाकरणों के शब्द ब्रह्म में कोई समस्या नहीं है। वेदान्तियों का ब्रह्म निर्गुण निराकार सगुणसाकार उभयविध माना गया है। यहाँ पर यह समस्या है जो निर्गुण है निराकार है वह सगुण साकार कैसे? सगुण साकार के हैं। तो ब्रह्म का निर्गुण निराकारत्व खण्डित होता है, निर्गुणनिराकार कहें तो सगुण साकारत्व खण्डित होता है। किन्तु शब्द ब्रह्म के लिये निर्गुण निराकार सगुण

1. वा. प. बृ. का., पृ. -16

साकार उभयविध वक्तव्य निर्दुष्ट रहता है। शब्द ब्रह्म के विषय में, द्वैत अद्वैत विशिष्टाद्वैत आदि वादों के समान कोई वाद जुड़ने का कोई महत्त्व नहीं है।

वस्तुतः शब्द तत्त्व ही, ब्रह्म के समस्त लक्षणों वाला है और यह सर्वप्रकृति है। जिसे भी देखना समझना चाहते हैं उसे शब्द से ही समझते हैं समझाना चाहें तो शब्द से, अतः सब का मूल यह शब्द ही है। समस्त संसार की अभिव्यक्ति (सृष्टि) संस्थिति और लय शब्द से ही है।[1] इसी बात बात को लेकर वाक्यपदीयकार श्रीभृतृहरि ग्रन्थारम्भ में मङ्गलस्मरण करते हुए लिखते हैं कि–

अनादिनिधनं ब्रह्म, शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।[2]

उत्पत्ति विनाश रहित शाश्वत अक्षरात्मक शब्द तत्त्व है वही ब्रह्म है और इसी से संसार की सारी प्रक्रिया प्रवृत्त होती है शब्द ही अर्थ रूप से प्रकट होता है।

समस्त वेदोपनिषद् इस तथ्य को बहुधा कहते हैं। वेदों का वेदत्व भी शब्द तत्त्वात्मक ही तो है। इस शब्द ब्रह्म की दो शक्तियाँ हैं जिन्हें 'चिद्चिद्' कहा गया। चित् शक्ति और अचिच्छक्ति दोनों ही द्विविध है। चित् परात्मा और ज्ञानात्मा भेद से द्विविधा कही गई है। इसी प्रकार अचित् शक्ति भी मूर्तामूर्त रूप से द्विविध है। ज्ञानात्मा को पुनः सवाक् अवाक् भेद से द्विविध कहा है।

आशय यह है कि – सर्वप्रकृतिक शब्द तत्त्व (शब्द ब्रह्म) ही विवर्तवश अर्थमान को प्राप्त होकर समझना चाहिए। विवर्त वस्तुनोऽतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्तः। अर्थात्– वस्तु का मूलरूप वैसा का वैसा रहे और उसमें विकृति भी देखी जावे तो वहाँ यह क्रिया विवर्त कही जाती है। उदाहरणार्थ– जल–जल तरङ्ग, स्वर्ण–स्वर्णाभूषण। मूलवस्तु जल है उस जल में वायु के आघात से उत्पन्न तरङ्ग विकृति तो है पर जल (मूल द्रव्य) वस्तुतः परिवर्तित नहीं हुआ है। उसी प्रकार जैसे स्वर्णमूलद्रव्य उसका आभूषण बनाते हैं तो स्वर्ण स्वर्ण ही रहता है कुछ अन्य रजतादि के रूप में नहीं बदलता। आशय यह हुआ कि मूलभूत द्रव्य मौलिक रूप से बिना बदले अन्य रूप में दिखाई देता है। तब उस मूल द्रव्य को एक तरङ्ग या

---

1. ब्रह्मेन्द्रं शब्दनिर्माणं शब्दशक्ति निबन्धनम्।
विवृतं शब्द मात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते।। वृ. वृ. वा. प. ब्र. कां. 1
2. वा. प. ब्र. कां. 1

आभूषण आदि कहते हैं। ये अतत्त्व (मिथ्या) हैं।

इसी प्रकार उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि शब्दतत्त्व चिदचिद् भिन्न है और उससे चिद् अचिद् उद्भूत हैं। चिदचिद् शब्द तत्त्व (शब्द ब्रह्म) से भिन्न होकर भी भिन्न नहीं है। विवर्त के कारण भिन्न भासित होती हैं। शब्द की उक्त चिद्चिद् शक्तियाँ शब्द ब्रह्म में श्रुति (शब्द) शक्ति और अर्थशक्ति के रूप में हैं। इस शब्द ब्रह्म की चिद्-शक्ति-अचित् शक्ति दोनों मिलकर सृष्टि करती हैं।

हिन्दी कवि महात्मा तुलसीदास भी रामचरित मानस में लिखते हैं-''गिरा (शब्द) अर्थ (पदार्थ) जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न''। अस्तु-

शब्द ब्रह्म की चित् शक्ति स्पन्दन संवेदन बैखरीवाक (वचन) रूपा है। इनमें परस्पर कार्य-कारणता को स्फुरित देखा जाता है।

इस चिच्छक्ति के जो दो रूप सिद्ध हैं उसमें से ज्ञानात्मा में संवेदन-स्पन्दन और वाणी रूप तीनों तत्त्व प्रत्यक्ष दृग्गोचर हैं। शब्द ब्रह्म की चिच्छक्ति तीन रूपों में भासित होती है। कहीं तीनों एकत्र प्रकाश मान कहीं समानरूप में प्रकाशित कहीं न्यून प्रकाश हैं।

संवेदन-स्पन्दन और वाक् चिच्छक्ति के आत्मस्वरूप में अनुस्यूत हैं और स्वत: अभिव्यक्त होती हैं। इनकी अभिव्यक्ति में कारण भी यही हैं कार्य भी यही हैं। परस्पर एक दूसरे का कारण बनती रहती हैं और कार्य बनती हैं।

चित् का अपर स्वरूप जिसे परात्मा कहा गया है उसमें यह तीनों (संवेदन, स्पन्दन और वाणी) साम्यावस्था में रहती हैं। यह साम्यावस्था समाधि का रूप हैं। योगियों का नाद ब्रह्म है। तुर्यावस्था है। एतदनन्तर कोई अवस्था विभाग न होने से यह चरमावस्था है। महात्मा कबीर ने ''रस गनन गुफा में अक्षर झरै'' इन शब्दों में कहते हैं। कबीर के इन शब्दों का आशय है कि - गगन गुफा-कर्णकुहुरों में अजर-क्षर रहित नित्य रस = रसना विषयी भूल (शब्द) अपनी अभिव्यक्ति अवस्था में) झरै प्रस्फुटित स्पन्दित हो रहा है। यहाँ वाणी ही रसना ग्राह्य गुण रस है वही अजर आत्म स्वरूप है वही भारती है भोग्य रूप है।

वाक्शक्ति के कारण ज्ञानात्मा (जीव) द्विधा विभक्त है, वागिन्द्रिय सहित और वागिन्द्रिय रहित। वागिन्द्रिय ज्ञानात्मा विकसित वागिन्द्रिय अविकसित वागिन्द्रिव भेद से पुन: दो प्रकार का हो जाता है विकसित वागिन्द्रिय मनुष्य तथा अविकसित वागिन्द्रिय पशु पक्षी वागिन्द्रिय रहित स्थावर वृक्ष लतादिक है।

चिदाश्रय भूत अचिच्छक्ति है। अचित् के सहारे चित्प्रकाशित होता है। अचित् न हो तो चित् प्रकाशित न हो सके। चिद् अचिद् दोनों ही आत्म (स्वसत्ता) सत्ता प्रकाशनार्थ सापेक्ष है। चित् अचित् से अचित् चित् से प्रकाशित होता है। अचित् पद में प्रतिबोधार्थक पर्युदास नञ् है। अत: दोनों सापेक्ष होकर भी स्वतन्त्र है, निरपेक्ष है।

जगत् का कारण शब्द

हम जिस जगत् का साक्षात् कर रहे हैं उसी प्रत्यक्ष जगत् की उत्पत्ति के कारण को जानने की जिज्ञासा अनादि काल से मानव के चिन्तन को प्रेरित करती आ रही है। प्राचीन ऋषि भी इस विषय में जिज्ञासु थे और आज का ऋषि भी इस विषय का जिज्ञासु है। समय समय पर हमारे पूर्वज ऋषियों ने अपने-अपने अनुभव हमें पूर्णता के साथ प्रदान किये हैं।

ऋग्वेद में इस जिज्ञासा को अनेक मन्त्रों द्वारा समाहित करने का प्रयास हुआ। वैदिक काल का ऋषि ऋग्वेद के दशम् मण्डल में 67 वें सूक्त में ज्ञान से समस्त सृष्टि कहता है। शब्द तत्त्व को ही जगत् का कारण मानता है। यथा-

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधाना:।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहावि: ।।

हे बृहस्पति, वाणी का प्रथम प्रारम्भ तब हुआ जब नामकरण करते हुए प्रवृत्त (कार्य जगत् की प्रवृत्ति) हुए जो उनका श्रेष्ठतम था अन्त: (गुहा) निविष्ट था प्रेमवशात् स्वयं ही प्रकट हो गया।

सक्तूमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखाय: सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि ।।2।।

जिस तरह सत्तू को सूप से साफ करते हैं वैसे ही (अपने विचार) चिन्तन द्वारा (मनसा) धीरों (विद्वानों) ने वाणी को निर्मित किया। और तब ही (इस वाणी के कारण ही) मित्र मित्रता को पहचानते हैं। यह वाणी मंगलमयी लक्ष्मी जिह्वा पर अधिष्ठित हुई। इन दोनों ही मन्त्रों में जगत्कारणं के रूप में शब्द तत्त्व को ही स्वीकार किया गया है।

इसीलिये वेदाङ्गभूत व्याकरण शास्त्राचार्यों ने भी शब्द तत्त्व को ही जगत् का

कारण माना है। यह उचित भी है शब्द को जगत्कारण कहने में किसी दर्शन को (आस्तिक दर्शन) या दार्शनिक को किसी प्रकार की कोई आपत्ति भी नहीं होगी। शब्द तत्त्व को व्याकरण दर्शन जगत्कारण निम्नलिखित कारणों से बताता है।

1. समस्त जड़ चेतनात्मक जगत् का ज्ञान शब्द प्रयोज्य है। इस मान्यता का हेतु है कि शब्द जगदुपादान कारण होने से ही जगत् की शब्द द्वारा प्रतीति होती है।
2. "अनुबिद्धमिवज्ञानं सर्वं शब्देन भासते" समस्त ज्ञान शब्दानुविद्ध होकर ही बुद्धि से प्रकाशित होता है।

ज्ञातव्य पदार्थों की बौद्धिक परिणति रूप ज्ञान शब्दमय ही होता है। किसी भी विषय (पदार्थ) को शब्द के अभाव में न तो समझा जा सकता है और नहीं उसको अभिव्यक्त किया जा सकता है। अर्थात् किसी ज्ञेय पदार्थ को शब्द के बिना बताया समझाया भी नहीं जा सकता है।

3. समस्त ज्ञेय पदार्थों का अभिधान किया जाता है। आशय यह है कि अभिधान (नाम या संज्ञा) के अभाव में पदार्थ की वस्तुत सत्ता का सत्यापन कर पाना असम्भव होता है। अत: कह सकते हैं कि नामकरण ही वस्तुसत्ता का कारण है। जिस पदार्थ के प्रति कोई वाग्व्यवहार न हो तो वह पदार्थ भी नहीं है। यहाँ पर हम देखते हैं कि-

यो योऽभिधानवान् स:सोऽभिधेय:। यस्याभिधानं न तस्याभिधेयत्वमपि न। यथा- पदार्था अभिदावन्तोऽतस्तेऽभिधेया, तदितर न किमप्यभिधावदतो नाऽभिधेय:।

4. पदार्थ का पदार्थान्तर से भेद शब्द परिच्छेद्य है। यथा- घट पर का परस्पर भेद, पट पत्र का भेद, जन्य जनक का भेद, इत्यादि सब ही शब्दकृत है। अत: भेद निरूपण (द्रव्यों के विषय में) शब्द के प्रभाव में कथमपि सम्भव नही है।
5. त्रिविध वस्तु सत्ता (सत्सत्ता, असत्सत्ता, सदसत्सत्ता) भी शब्द के कारण सम्भव हुई। यथा - शश सत् पदार्थ है अत: शश शब्द ज्ञेय है । शशशृङ्ग असत् है तथाऽपि शब्द के कारण प्रतीति विषय बनता हैं। सदसद् पदार्थ है, वह भी शब्द के कारण है।

6. शब्द का सर्वव्यापकत्व अनुभूत होता है। यथा – पदार्थद्वय संयोग (टकराने) में शब्द, वियोग में शब्द, शून्य में शब्द सम्यक्तया ओतप्रोत है।

अत: इन उक्त हेतुओं से स्पष्ट होता है कि शब्द ही इस जगत् का उपादान कारण है।[1] अत एव शाब्दिकों का मानना है कि –

"द्वौ शब्दात्मानौ। नित्य: कार्यश्च। कार्य: श्रुतिरूप: स चान्तरवस्थितस्य शब्दात्मन: प्रतिबिम्बोपग्राही।"

नित्यस्तु – सर्वव्यवहारयोनि: संहृत्क्रम: सर्वेषामन्त: सन्निवेशी, प्रभवो विकाराणाम् आश्रय: कर्मणाम्, अधिष्ठानं सुखदु:खयो:, सर्वत्राऽप्रतिहत कार्यशक्ति: घटादिनिरूद्ध इवप्रकाश:, परिग्रहीतभोगीक्षेत्रावधि:, सर्वमूर्तिनाम परिमाणा प्रकृति:, सर्वप्रबोधरूपतया सर्वप्रभेदरूपतया च नित्यप्रवृत्त प्रत्यवभास स्वप्नप्रवोधानुकारी, प्रवृत्तिनिवृत्तिपदाभ्यां पर्जन्यवद् दावाग्निवच्च प्रसवोच्छेदशक्तियुक्त:, सर्वेश्वर: सर्वशक्ति: महान् शब्दवृषभ:। तस्मिन् खलुवाग्योगविदो विच्छिदयाऽहङ्कारग्रन्थीन् अत्यन्तनिर्विभागेन संसृज्यन्ते।"[2]

उद्धृत वृत्ति का तात्पर्य है कि – आत्मा दो प्रकार का नित्य और कार्य रूप से है। वह कार्य शब्द श्रुतिरूप है अर्थात् उच्चरित और श्रुत होता है। श्रुति रूपशब्द अनित्य नाशवात् होते हुए भी अन्त:स्थित नित्यशब्दात्मा का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने वाली है। शब्दात्मा के बिम्ब को प्रति बिम्बित करती है। शब्दात्मा के गुणधर्म श्रुति शब्दों में प्रकट होते हैं। और नित्य शब्दात्मा श्रोता वक्ता के अन्त:करण में सदैव विद्यमान रहता है इस अन्तरवस्थित शब्दात्मा का उल्लेख ऋक् संहिता में हुआ है जिसे भाष्यकार ने उद्धृत किया है- चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा. 4/58/3 इसी नित्य शब्द को सर्वव्यवहार योनि सर्वेश्वर सर्वशक्ति महान् शब्द वृषभ कहा है।

इस शब्द की समस्त अर्थमयी ग्रन्थियों को नष्ट करके वाग् योगी नित्य शब्द के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

इस शब्द तत्त्व को लेकर श्रीहरि ने कहा है–

---

1. वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड (भूमिका पृ. 7)
2. हरिवृषभ वृत्ति (वा. प. 1/130)

सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते ।
तन्मात्रामनतिक्रान्तां चैतन्यं सर्वजातिषु ।।[1]

वही यह वाणी (शब्द) सांसारिक प्राणियों एवं पदार्थमात्र की संज्ञा (चेतना) और यही प्राणियों (पदार्थों) के बाहर और भीतर में विद्यमान है। समस्त जातियों में प्राणिमात्र में जो चैतन्य (चेतना) है संज्ञा है वह तन्मात्रा की वाग्रूपता मात्रा को छोड़कर नहीं है अर्थात् वह वाग्रूपता ही है।

यह वाग्रूपता (शब्द) ही संसार में वर्तमान पदार्थ मात्र में नाम = संज्ञा (पृथ्व्यादिसंज्ञा) रूप से अन्त:बहि: स्थित है। जीवाजीवरूप संसार में, चेतना चैतन्य संवित् रूप से जीव में नामादि। के रूप में अजीवों को विद्यमान है। इस प्रकार समस्त जड़ चेतन में विद्यमान संज्ञा वाग्रूपा (शब्द) ही है। सजीवों को यह बाहर तो वैखरी रूप से है और अन्दर परा/पश्यन्ती (विशुद्धज्ञान) रूप से है अथवा बाहर तो यह स्पर्श स्पन्दनादिरूप से व्याप्त है और अन्तर में संवित् ज्ञान रूप से चैतन्य का आश्रय रूप होकर रहती है। और अचेतन पदार्थों में बाहर उसके नाम के रूप में और अन्दर में शब्द तत्त्व का आश्रय होकर (अर्थरूप बनकर) यह वाग्रूपता संज्ञा विद्यमान है।

इस प्रकार शब्दतत्त्व की सर्वव्यापता है। यही सर्वज्ञ सर्वव्यापक सर्वाश्रय (ब्रह्म) है। आगे श्री हरि शब्द को महान् वृषभ (ऋषभ) शब्द प्रमाण देते हुए बताते हैं। अस्तु वैयाकरणों के दर्शनानुसार शब्द का ही ब्रह्मत्व है और उस शब्द ब्रह्म के साथ जीव का तादात्म्य है ऐसा वैयाकरण मानते हैं। "येन सायुज्यमिष्यते"[2] इस वाक्य का यही आशय है कि जीवात्मा ब्रह्म (शब्द) के साथ व्याप्यव्यापक भाव वाला है, उससे युक्त हो कर सायुज्य = (सयुज्+ष्यञ्) समरूपता, तल्लीनता, समानता, सादृश्य प्राप्त करता है। यही व्याकरण दर्शन में मुक्ति का स्वरूप है।

आचार्य सोमानन्द ने शिव दृष्टि में वैयाकरणों के मत में जो वाक् का ब्रह्म स्वरूप है उसका विरोध किया है।

उनका कहना है कि हम जिसे ज्ञान शक्ति व सदाशिव के रूप में स्वीकार करते

---

1. वा. ब्र. का. 126।
2. वा. प. 130।

हैं, वही वैयाकरणों के मत में पश्यन्ति या परावाक् है।[1] वैयाकरण जिसे अनादि अक्षर ब्रह्म रूप कहते हैं, वह पश्यन्ती नामक परा वाक् है।[2]

वैयाकरणों का यह मानना है कि आदि अन्त रहित ब्रह्म समस्त संसार के पदार्थों के रूप में अतात्त्विक भाव से परिणत होता रहता है। और इसी से संसार का सृष्टिक्रम चलता है। संसार के व्यवहार में कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं है जो वाचक शब्द के बिना भी निष्पन्न होता है। फलत: वाग्रूपता के बिना ब्रह्मतत्त्व का भी प्रकाश सम्भव नहीं है इसलिए शब्द ब्रह्म में निष्णात् व्यक्ति परमब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है। 'पश्यन्ती वाणी विभाग रहित तथा देशकाल के क्रम से रहित है।' इन वाक्यों से उन्होंने शब्द ब्रह्मद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है।[3]

इसके खण्डन में आचार्य सोमानन्द निम्न तर्क देते हैं–

1. वाणी कर्मेन्द्रिय है, वह अति स्थूल है। कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति उसे आत्मा या ब्रह्म नहीं कह सकता।
2. जो इन्द्रियत्त्व वाणी में है, वही हाथ, पैर आदि में भी है। फिर के हाथ आदि भी ब्रह्म क्यों नहीं होंगे?
3. यदि यह कहा जाये कि वैखरी के अतिरिक्त पश्यन्ती अत्यन्त सूक्ष्म है इस कारण वह ब्रह्म है? तो सूक्ष्म रूप में पारमार्थिक सत्यता पाणि पाद घट पट सबमें है, वे सभी ब्रह्म हो सकते हैं।[4]
4. यदि यह कहा जाये कि वाणी तो केवल व्यवहारार्थ एक नाम मात्र है। हृदय, भ्रू, मध्य, तालु आदि स्थानों में सूक्ष्म रूप से आक्रमण करने के कारण वह ब्रह्म है क्योंकि पाणी आदि में यह उत्कर्ष नही है?

---

1. अथास्माकं ज्ञानशक्तिर्या सदाशिवरूपता।
वैयाकरण साधूनां पश्यन्तीसा परा स्थिति: ।। शि. दृ. 2–1
2. इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादि तथाऽक्षयम्।
तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्तिपरा हिवाक् ।। वहीं–2
3. शि. दृ.–2, 8, 9, 10, 11
4. तस्यात्मता ब्रह्मता व वक्तुं शक्यान साधुभि: ।
इन्द्रियत्वेऽपि सामान्ये पाण्यादेब्रह्मता न किम् ।।
तत्रचेत् सूक्ष्म कलना सर्वत्र कलनाऽग्रत: ।
अन्त: क्रमोहृदादेश्चेत् प्राणादे: किं न सत्यता ।। वही, 13, 14

यह तर्क भी उचित नहीं है क्योंकि प्राण आदि वायु भी तो हृदय आदि में सूक्ष्म रूप से आक्रमण करते रहते हैं। फिर उन्हें ब्रह्म क्यों नहीं कहा जाता।[1]

वैयाकरणों के खण्डन के लिए अन्य तर्क देते हैं :-

5. अन्य शास्त्रों में भी इन्द्रियों को ब्रह्म नहीं माना जाता है अत: अपनी बुद्धि से ही वागिन्द्रिय को ब्रह्म मानना उचित नहीं है।[2]
6. पश्यन्ती का स्वरूप क्या है? 'दृश' धातु सकर्मक है। पश्यन्ती धातु का कर्म क्या है? यदि घट पर आदि कर्म हैं तो वे पदार्थ सत् हैं या असत्? यदि सत्य हैं तो वैयाकरणों का विवर्तसिद्धान्त खण्डित होता है, असत्य हैं तो उनका दर्शन कराने वाली पश्यन्ती वाक् भी असत्य है।[3]
7. यदि कहा जाये कि सत्य पश्यन्ती वाणी अविद्या द्वारा असत्य पदार्थों का बोध कराती है तो वह भी असम्भव है क्योंकि सत्य का असत्य से कोई संबंध नहीं होता।[4]
8. यह भी प्रश्न उठता है कि पश्यन्ती ज्ञात पदार्थों की सृष्टि करती हैं या अज्ञात की। वैयाकरण यह मानते नहीं कि सृष्ट केवल स्वातन्त्र्यपूर्वक क्रीडा करता है। यदि ज्ञात की सृष्टि करती है तो निष्प्रयोजन है और अज्ञात की सृष्टि करती है तो यह सम्भव नहीं है।[5]
9. जिस अविद्या से वह सृजन करती है वह उसका धर्म है या दूसरे का यदि अपना धर्म है तो वह मलिन हो जायेगी और दूसरे का है तो दूसरा पदार्थ तो आप मानते ही नहीं।[6]
10. यदि वह अलक्षित तथा वाच्य है तो उसका रूप कैसे जाना गया? यदि वह अलक्षित है तो उसे अविद्या के रूप में कैसे जाना गया?[7]

---

1. सर्वस्यान्त: परामर्शपूर्णताऽस्ति प्रवर्त्तते।
   अत्रोपासनया सिद्धिदेर्वतायोगितेति चेत्।। वही, 15
2. शि. दृ. 16-17
3. वही, -20, 21
4. वही, -22, 23
5. वही, -25, 26
6. वही, -28, 29
7. शि. दृ, -132, 33

11. यदि वैयाकरण कहते हैं कि अविद्या के बिना भेद ज्ञान सम्भव नहीं है इसलिए भेद ज्ञानान्यथानुपपत्या अविद्या की सिद्धि होती है, इस प्रकार भी अविद्या का स्वरूप बता देने से वह वाच्य कहाँ रही?[1]
12. यदि मध्यमा को परम तत्त्व मान लिया जाये तो इसका कारण कौन है? यह बताइये क्योंकि मध्यमा को वैयाकरण कार्य बताते हैं। यदि पश्यन्ती उसका कारण है तो यह सम्भव नहीं क्योंकि पश्यन्ती शुद्ध स्वभाव वाली है और मध्यमा भेदग्रहिणी है।
13. यदि वैयाकरण कहते हैं कि 'पश्यन्ती का प्रत्यक्षकारों ऐसा कहने से जो देखने वाला है। वही परमतत्त्व कहलायेगा क्योंकि वही कर्ता है।[2]

इस प्रकार मत का खण्डन कर शैव मत की प्रतिष्ठापना की गई-

न वाच इष्यते तद्वत् तस्मात् सर्वं शिवात्मकम्।[3]

क्रिया शक्ति के प्रसंग में सांख्य व वेदान्त मत भी विवेचनीय है-

सांख्य कार्य कारण भाव के सिद्धान्त के मध्यम् से मूल प्रकृति का अस्तित्व सिद्ध करने का प्रयास करता है। सांख्य दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है कि कार्य अपने कारण में पूर्णत: विद्यमान रहता है। कारण की परिभाषा करते हुए सांख्य कहता है- कारण वह सत्ता है जिसमें कार्य गुप्त रूप से विद्यमान रहता है। इसके समर्थन में वह पाँच युक्तियाँ प्रस्तुत करता है-

1. यदि कार्य अपने कारण में पहले से विद्यमान न हो तो उसे किसी भी प्रकार उत्पन्न नहीं किया जा सकता। शशश्रंग अथवा आकाश-कुसुम का अस्तित्व किसी भी तरह सम्भव नहीं है। नीले को हजारों शिल्पकार पीला नहीं बना सकते- "नहि नीलं शिल्पिसहस्त्रेणापि पीतं कर्त्तुं शक्यते।"[4]
2. कार्य अपने उपादान कारण का आभास मात्र है वह उससे भिन्न नहीं है।

---

1. शि. दृ., -39, 40
2. वही, -63
3. वही, -91
4. सांख्यतत्त्वकौमुदी, पृ. 9 तथा असदकरणादुपादान ग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।। (सां. का. 9)

3. अस्तित्त्व में आने से पूर्व कार्य कारण में विद्यमान रहता है। यदि ऐसा न होता तो कोई भी वस्तु किसी भी वस्तु से उत्पन्न हो जाती।
4. कार्य कारण भाव का आधार करण पदार्थ की क्षमता है। कोई भी पदार्थ उसी वस्तु को उत्पन्न कर सकता है जिसके लिए वह समर्थ होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कार्य कारण में उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान रहता है। उसका प्रकट होना तो कारणभूत पदार्थ की क्षमता की अभिव्यक्ति मात्र है। यदि ऐसा न हो तो जल से दही और रेत से तेल उत्पन्न हो जाता।
5. कार्य का स्वरूप वही होता है जो कारण का होता है। तात्त्विक दृष्टि से वस्त्र धागों से भिन्न नहीं है। तात्त्विक रूप से भिन्न पदार्थों में कार्य-कारण भाव नहीं हो सकता।[1]

सांख्य की दृष्टि में जगत् के विकास की व्याख्या तथा क्रिया शक्ति

वस्तुओं के विकास में अपने को व्यक्त करने वाला एक क्रियात्मक तत्त्व अवश्य है। विकास एक ऐसे तत्त्व का परिचायक है जो अपनी किसी भी स्थिति के समान नहीं हो सकता तथा जो भीतर रहता हुआ भी उनसे वृहत्तर है। विकास को जन्म देने वाली क्रिया का मूल कारण में विद्यमान रहना आवश्यक है और वह कारण प्रकृति है।[2] शैवदर्शन का क्रिया सिद्धान्त इससे भिन्न नहीं है।

कार्य व कारण का अन्योन्याश्रयभाव विश्व का एक चिरन्तन सत्य है। इसी के विश्लेषण एवं विवेचन को लेकर अनेक चिन्तन प्रणालियों का उदय हुआ है। माया, प्रकृति तथा अन्य सद्रश अवधारणाओं की कल्पना इस सम्बन्ध के अन्वेषण को सुगम तथा युक्तियुक्त बनाने के उद्देश्य से की गई है। प्रत्ययवादियों ने नानात्वमयी सृष्टि की सार्थकता को परिपुष्ट करने के लिए 'माया' की कल्पना की और उसे दृश्यमान जगत् के मूलकारण से रूप में प्रस्थापित किया किन्तु इन्होंने इसे ज्ञातृत्व शक्ति तक ही सीमित रखा। वस्तु प्रत्ययवादी प्रत्यभिज्ञा प्रस्थान ने इसकी स्पष्ट व्याख्या की तथा ज्ञातृत्व व कर्तृत्व शक्ति के समन्वित रूप में प्रस्तुत किया

---

1. सां. का. - 9
2. प्रत्यभिज्ञादर्शन और माया, पृ. 56

अर्थात् इसे केवल ज्ञान का साधन ही नहीं अपितु सृष्टि का उपकरण भी स्वीकार किया।[1]

शैव मत का सांख्य मत से वैशिष्ट्र्य

प्रत्यभिज्ञादर्शन सांख्य के सत्कार्यवाद का सिद्धान्त तो स्वीकार कर लेता है किन्तु सांख्य के जड़ सत्कार्यवाद से यह स्वतन्त्र सत्कार्यवाद पूर्णरूप से भिन्न है। सांख्य के अनुसार मूल प्रकृति का स्वरूप परिवर्तन हो जाने से उसमें अन्यत्र रूप से विद्यमान नाना पदार्थों के स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु प्रत्यभिज्ञा दर्शन की दृष्टि में संसार के स्वरूप की अभिव्यक्ति महेश्वर की इच्छा के स्पन्दन से होती है। सांख्यों द्वारा प्रतिपादित आविर्भाव तथा तिरोभाव की प्रक्रिया का प्रतिभिज्ञता तत्त्वमीमांसा में समावेश तो कर लिया गया है किन्तु यहाँ इसका अभिप्राय स्वरूप परिवर्तन मात्र नहीं। यहाँ तो अविर्भाव से अभिप्राय है उन्मीलन तथा तिरोभाव से अभिप्राय है निमीलन, अर्थात् यहाँ विश्व का तात्पर्य है स्वरूप प्रथन न कि स्वरूप परिवर्तन और उसमें भी महेश्वर की इच्छा ही प्रधान रहती है। यहाँ तक कि अशुद्ध विश्व का आविर्भाव (प्रथन) भी माया अनन्त की प्रेरणा से करती है तथा उन्हीं की प्रेरणा से इसका अपने में विलयन (तिरोभाव) भी करती है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार सृष्टि का विकास स्वरूप प्रकाशन है जब कि सांख्य द्वारा वह है– स्वरूपान्तरण अर्थात् सांख्य के अनुसार कार्य व्याकरण में विद्यमान अवश्य रहता है किन्तु व्यक्त होते ही उसका स्वरूप बदल जाता है जबकि काश्मीर शैव दर्शन में कार्य कारण में विद्यमान ही नहीं रहता अपितु उससे अभिन्न है।[2]

वेदान्त का कार्य–कारण सिद्धान्त

यह कहना कि अनन्त ब्रह्म सान्त जगत् का कारण है तथा इसका निर्माण करता है, एक प्रकार से यह स्वीकार करना है कि अनन्तकाल सम्बन्धी प्रतिबन्धों के अधीन है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म कारण है और जगत् कार्य है। इसका तात्पर्य होगा कि हम जगत् और ब्रह्म में भेद करते हैं। इसके अतिरिक्त जगत् सीमित और सोपाधिक है तो फिर एक अनन्त तथा निरूपाधिक ब्रह्म इसका कारण

---

1. प्रत्यभिज्ञादर्शन और माया, पृ. 59
2. प्रत्यभिज्ञादर्शन और माया, पृ. 76

कैसे हो सकता है? शंकर गौड़ पाद के अजाति अथवा 'अविकास' के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। यह जगत् न तो विकसित हुआ है और न ही इसकी उत्पत्ति हुई है। इसकी केवल प्रतीति होती है क्योंकि हमारी अन्तर्द्रष्टि परिमित है। यह जगत् ब्रह्म से अव्यतिरिक्त तथा अभिन्न है। कार्य अभिव्यक्त जगत् है जो आकाश से प्रारम्भ होता है, कारण परम तत्त्व ब्रह्म है। इस कारण से परमार्थत: कार्य का तादात्म्य है। इससे परे कोई सत्ता नहीं। जगत् की अन्तस्तम् आत्मा ब्रह्म है। यदि यह ब्रह्म से स्वतन्त्र प्रतीत होता है तो हमें कहना होगा कि यह जैसा प्रतीत है वैसा नहीं है। इसी प्रकार हम अनन्त के अन्दर कोई क्रिया भी निर्दिष्ट नहीं कर सकते, क्योंकि प्रत्येक क्रिया के पीछे कोई न कोई उद्देश्य अथवा किसी न किसी वस्तु की प्राप्ति अभिप्रेत होती है। यदि यह कहा जाये कि निरपेक्ष ब्रह्म अपने को सीमित रूप में अभिव्यक्त करता है तो शंकर की दृष्टि में यह एक मिथ्या विचार है। सीमित जगत् हो न हो निरपेक्ष ब्रह्म सदैव अपनी अभिव्यक्ति करता रहता है, जैसे सूर्य सदैव भासित होता रहता है। यदि किसी समय हम उसे देख नहीं पाते तो यह उसका दोष नहीं है।

शंकर का विचार है कि जगत् ब्रह्म के ऊपर आश्रित तो है किन्तु वह ब्रह्म को किसी भी तरह प्रभावित नहीं कर सकता तथा विवर्तोपादान रूप कारण को 'परिणामोपादान' से भिन्न बनाता है अर्थात् उस कारण को जो अपने में बिना किसी प्रकार का परिवर्तन लाये कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। ऐसे कारण से भिन्न बना देता है जो स्वयं कार्य के रूप में परिणत हो जाता है।[1]

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में विश्व-प्रक्रिया को उन्मेष अथवा उन्मीलन कहते हैं। उन्मेष अथवा उन्मीलन का अभिप्राय है अन्त:स्थित भावजात का बाह्यरूपेण प्रकाशन-'उन्मीलनं च अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम्'। महेश्वर के सर्जन की दृष्टि से यह आभासवाद कहलाता है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति या आविर्भाव की दृष्टि से यह आभासवाद कहलाता है। जिस प्रकार मयूर का सुन्दर एवं विचित्र पिच्छक्लाप उसके अंडे के रस में अभिन्न रूप से निहित रहता है वैसे ही यह समस्त विश्व महेश्वर में अभिन्न रूप से विद्यमान रहता है। यही मयूरांडरस सादृश्य उन्मेष प्रक्रिया का सार है।

---

1. प्रत्यभिज्ञादर्शन व माया, पृ. 87-88

अपने अनुभूतिजन्य विश्व की व्याख्या में अभिनवगुप्त का भारतीय दर्शन के वस्तुवादी तथा प्रत्ययवादी दोनों प्रस्थानों से मतभेद है। न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों से तो उनका विस्तार तथा मूलसिद्धान्तों में पूर्णतया मतभेद है। सांख्य बौद्ध तथा अद्वैत वेदान्त के साथ उनका मतभेद मूल सिद्धान्तों तक ही सीमित है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन सांख्य के चौबीस तत्त्वों तथा पुरुष की कल्पना को स्वल्प अन्तर के साथ स्वीकार कर लेता है। इसी प्रकार बौद्धों के क्षणिकवाद तथा शांकर वेदान्त के मायावाद को भी अपनी प्रक्रिया में स्थान दे देता है। अभिनव के अनुसोर अनुभूतिजन्य विश्व ऐसे ईश्वर की रचना नहीं है जिसका कर्तृत्व अणु आदि उपादान कारण की सहायता पर निर्भर करता है, न ही वह सांख्य की भाँति प्रकृति का परिणमन मात्र है, न ही विज्ञानवादी की भाँति विशुद्ध विषयगत अनुभूति और न ही शांकराद्वैत की भाँति उसकी सत्ता भ्रांतिमूलक अथवा मात्र प्रतीत्यात्मक है।

अभिनव की दृष्टि में तो यह विश्व यथार्थ है क्योंकि वह चिदात्मस्वरूप महेश्वर का स्वरूप प्रकाशन है, ठीक उसी प्रकार जैसे योगी संकल्प द्वारा कोई वस्तु बाहर आभासित कर देता है। साथ ही वह प्रत्ययात्मक भी है क्योंकि यह विदात्मा की अनुभूति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं तथा इसकी सत्ता भी चिदात्मा में ही है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि परमशिव अपनी क्रिया शक्ति के द्वारा स्वयं को विभिन्न रूपों में प्रकट करते हैं तथा स्वयं को ज्ञेय बनाते हैं। स्वस्वरूप में कोई भी परिवर्तन किए बिना परम शिव अपनी क्रिया शक्ति द्वारा इस चित्र-विचित्र सृष्टि की रचना करते हैं महेश्वर की इच्छा शक्ति का स्पन्दन ही क्रिया है जिससे संसार की अभिव्यक्ति होती है।

सृष्टि शिव का स्वरूप परिवर्तन नहीं है, बल्कि शिव का प्रतिबिम्ब रूप में आभास है। यही औन्मुख्य या उन्मुखता कहलाता है। स्वयं शिव ही विश्वमय होकर भासता है। शिव की क्रिया शक्ति ही परा वाणी है जो बहिर्मुखी प्रसार करती हुई पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी तक विकसित होती है।



पञ्चम अध्याय

प्रमातृ तत्त्व निरूपण

जब परमशिव को रचना करनी होती है तब यह चिति अपनी स्वतन्त्रता से अपना प्रसरण करके, अपने आप में ही भेद को अंगीकार करक अनन्त-पदार्थरूप होके व्यक्त हो जाती है। यह चिति प्रवृत्ति रूप से बाह्य जगत में संपूर्ण विश्वाकार होकर स्वयं ही प्रकाशित होती हैं इसको चिति का विश्वात्मक रूप कहते हैं। विश्वाकार होने पर भी यह चिति विश्वोत्तीर्ण होकर यानी विश्वातीत होकर स्वयं प्रकाशमय,परमशुद्ध, निर्मल रहती है ओर इसी प्रकार मानव के अन्दर भी यह चिदात्मा या चिति बाह्य प्रवृति रूप से स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण शरीर, पंचकोष, चार अवस्थाएँ, अतः करण-चतुष्टय से लेकर छत्तीस तत्वमय शरीर में बहत्तर हजार नाड़ी समुदाय को लेकर, सप्तधातुरूप होकर, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ एवं उनके विषय, पंच प्राण एवं उनके कार्य, मस्तक से अंगुष्ठ तक न जाने कितने रूपों को धारण करती है। सुख, दुःख, भय, व्याधि, विकार, शैशव, यौवन, स्वर्ग, नरक ऐसे अनेक भाव और रूपों को अपनाकर आप ही उनमें प्रवेश करती हुई बाह्य विश्वाकार बनाती है। फिर भी उसकी शुद्धता और निर्मलता ज्यों की त्यों है। जैसी की तैसी रहकर वह चिति इस बहिरंग जगत में विलास करती है।[1]

प्रमातृ तत्त्व सात माने गये हैं- शिव, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर, विद्येश्वर, विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल।[2] शिव से विद्येश्वर तक प्रमाता शुद्ध प्रमाता कहे जाते हैं। ये मल से रहित होते हैं। मलाच्छादित होने के कारण विज्ञानाकल व प्रलयाकल और सकल प्रमाता अशुद्ध प्रमाता कहे जाते हैं। कहीं-कहीं शक्ति को अलग तत्त्व मानकर शक्तिज प्रमाता माना जाता है किन्तु कारिकाकार शक्ति को शिव से अभिन्न मानते हैं तथा जैसे अग्नि में दाहकशक्ति अभिन्न है, वैसे ही शिव में

---

1. नीलेश्वरी अप्रेल, 1993
2. एवं मलत्रयस्यैकैकभेदैस्त्रिभिर्द्विभेदस्त्रिभिस्त्रिभेदेनैकेन, इति सप्त प्रमातार उत्तिष्ठन्ति, ई. प्र. वि. 3-2-10

शक्ति अभिन्न होकर रहती है, ऐसा मानते हैं। शिव तत्त्व के प्रमाता को शाम्भव प्रमाता, शक्ति तत्त्व के प्रमाता को शक्तिज कहा जाता है। सदाशिव अवस्था में स्थित प्रमाता मन्त्र महेश्वर और ईश्वर अवस्था में स्थित प्रमाता मन्त्रेश्वर कहलाते हैं। सद्विद्या तत्त्व में स्थित प्रमाताओं को विद्येश्वर या मन्त्र प्रमाता कहा जाता है। इसके नीचे विज्ञानाकल प्रमाताओं का स्थान है। इनमें केवल एक आणवमल होता है। आणवमल व कार्ममल दोनों के होने पर प्रलयाकल प्रमाता कहा जाता है। आणव कार्म और मायीय तीनों मलों से युक्त प्राणी सकल कहा जाता है। सृष्टि के सभी चराचर प्राणी सकल प्रमाता कहे जाते हैं।

I. तत्त्व

सर्वनाम शब्द तत् में 'तस्य भाव स्वतलौ' सूत्र से तत्+त्व होकर तत्त्व शब्द बनता है। शैव दर्शन में तत् शब्द परमशिव का सर्वनाम है। उसका भाव ही प्रकाशात्मक रूप है। यही तत्त्व है। यह शिवतत्त्व ही पृथ्वी पर्यन्त चौंतीस तत्त्वों में व्याप्त है। यह केवल शिव की चित् शक्ति का चमत्कार है। परमतत्त्व एकमात्र शिव ही है। प्रारम्भ में शिव केवल प्रमातृ रूप में रहते हैं तब रूद्र कहलाते हैं बाद का विस्तार ब्रह्मा और विष्णु कहा जाता है।[1]

इस दृष्टि से एक विग्रह यह भी हो सकता है 'तनोति सर्वम्' इति तत्। हम तत्त्व की यह परिभाषा दे सकते हैं कि 'महाप्रलय पर्यन्त स्थायी रहने वाले, सारे प्राणियों के उपयोग के व्यापार में व्यापृत और अपने कार्यों के विस्तार की क्षमता वाले पदार्थ तत्त्व कहे जा सकते हैं।[2] सभी पदार्थों या तत्त्वों का अवभासन शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति से हुआ है।[3] समस्त तत्त्वों को शुद्ध अध्वा एवं अशुद्ध अध्वा में बाँटा जाता है। यह विभाजन माया शक्ति के आधार पर किया जाता है।

---

1. तत्रैतन्मातृतामात्रस्थितौ रूद्रोऽधिदेवतम्।
   भिन्न प्रमेय प्रसरे ब्रह्मविष्णु व्यवस्थितौ।। ई. प्र. 3-2-1
2. 'आ महाप्रलयस्थायि सर्वप्राण्युपभोग कृत।
   तत्त्वमित्युच्चते तज्ज्ञैर्न शरीरघटाद्यत:।।

   9.6 विवेक तन्त्रालोक
3. वस्तुत: सर्वभावानां कत्तेशान: पर: शिव:।
   अस्वतन्त्रस्य कर्तत्त्वं नहि जातूपपद्याते।।5।।

   (त. 9-8)

II. शुद्ध अध्वा एवं अशुद्ध अध्वा

शिव, शक्ति, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर और मन्त्र, ये तत्त्वों के पाँच गण हैं। ये विशुद्ध गण माने जाते हैं। अपने-अपने गणों में जो समन्वित रूप में भासित होते हैं, वे भी तत्त्व कहलाते हैं। शिवतत्त्व में शाम्भव गण, शक्ति तत्त्व में शक्तिज, सदाशिव तत्त्व में मन्त्रमहेश्वर, ईश्वर तत्त्व में मन्त्रेश्वर गण और सद्विद्या तत्त्व में मन्त्र गण ये सभी विशुद्ध गण है।[1] 'विशुद्ध' से यहाँ तात्पर्य है कि ये गण माया के प्रभाव से रहित है तथा इनमें मल रूपी अशुद्धि नहीं है।[2]

अशुद्ध अध्वा

माया से पृथ्वी तक के 31 तत्त्व अशुद्ध अध्वा कहे जाते हैं। शुद्ध अध्वा के कर्त्ता शिव हैं तथा अशुद्ध अध्वा के कर्ता अघोरेश अनन्त या अनन्तेश कहे जाते हैं। शुद्ध अध्वा सितसृष्टि और अशुद्ध अध्वा असितसृष्टि कहलाता है। तन्त्रालोक के अनुसार-

ईश्वरेच्छावशक्षुब्धभोग लोलिकाचिद्गणान्।
संविभक्तुमघोरेशः सृजतीह सितेतरम्।।2।।[3]

अर्थात् ईश्वरेच्छा के वशीभूत क्षुब्ध भोगलोलिका से प्रभावित अतः संकुचित आत्मवर्ग को विविध प्रकार के भोगवाद में नियोजित करने के लिए मन्त्र महेश्वरों में प्रथम अधोरेश अशुद्ध अध्वा रूप सितेतर सृष्टि का प्रवर्त्तन करते हैं। शिव की सृष्टि को अण्ड चतुष्टय के नाम से जाना जाता है।[4]

---

1. तदेवं पञ्चक मिदं शुद्धोध्वा परिभाष्यते।
   तत्र साक्षाच्छिवेच्छैव कर्त्र्याभासितभेदिका।।60 त. - 9
2. (क) शांभवाः शक्तिजा मन्त्रमहेशा मन्त्रनायकाः।।53
   मन्त्रा इति विशुद्धः। स्युरमी पञ्च गणाः क्रमात्।
   स्वस्मिन्स्वस्मिन् गणे भाति यद्यद्रूपं समन्वयि।।54।।
   तदेषु तत्त्वमित्युक्त कालाग्नादेर्धरादिवत्। त. 9-54
   (ख) शिव शक्ति सदा शिवतामीश्वर - विद्यामयीं च तत्त्वदशाम्
   शक्तिनां पञ्चानां विभक्तभावेन भासयति।। प. सं. - 14
3. त. 9
4. निजशक्ति वैभवभराद् अण्डचतुष्टयमिदं विभागेन।
   शक्तिर्माया प्रकृतिः पृथ्वी चेति प्रभावितं प्रभुणा।

अण्ड – चतुष्टयम्

सम्पूर्ण विश्व चार अण्डों में विद्यमान है– शक्ति, माया, प्रकृति एवं पृथिवी। इनमें पशुभाव को ग्रहण करके शिव ही देही के रूप में भोक्ता है –

निजशक्तिवैभवभराद् अण्डचतुष्टयमिदं विभागेन।
शक्तिर्माया प्रकृतिः पृथ्वी चेति प्रभावितं प्रभुणा।।[1]

यहाँ अण्ड संज्ञा आच्छादक तथा कोश होने के कारण दी गई है। स्वस्वरूप का अपोहन करने वाली आत्मतत्त्व की अख्यातिमयी निषेध व्यापाररूपा पारमेश्वरी शक्ति जब प्रमातृ प्रमेयरूप इस विश्व की आच्छादिका बनती है तो वह शक्त्यण्ड कहलाता है। सदाशिव, ईश्वर, सद्‌विद्या तक के तत्त्व इस शक्त्यण्ड के अन्तर्गत आते हैं इस शक्त्यण्ड के अधिपति स्वयं सदाशिव तथा ईश्वर हैं।

दूसरा है माया नामक अण्ड। आणव, कार्म तथा मायीय मलों से लक्षित यह अण्ड मोह प्रधान है, एवं भेद प्रधान होने के कारण सभी प्रमाताओं के लिए बन्धन रूप है। पुरुष पर्यन्त तत्त्व इसी अण्ड के अन्तर्गत हैं। शेष दो अण्ड इसमें गर्भित हैं। इस अण्ड का अधिपति रूद्र है जिसको 'गहन' भी कहा गया है।

जब सत्त्वरजस्तमोमयी प्रकृति कार्य तथा कारण (अन्तःकरण तथा इन्द्रियादि) के रूप में परिणत होकर पशु प्रमाताओं के लिए भोग्यरूपा तथा सुख-दुःख और मोह के रूप में बन्धयित्री होती है। यही प्रकृत्यण्ड कहलाता है। इस अण्ड के अधिपति भगवान विष्णु है।

पृथिवी अण्ड में मनुष्य से लेकर स्थावर तक के प्रमाताओं के लिए पृथ्वी प्रत्येक प्रकार का रूप धारण कर स्थूल कंचुक के रूप में बन्धन बनती है। इस पृथ्वी अण्ड में भूत सर्ग चौदह प्रकार का है।[2] इसके अधिपति ब्रह्मा हैं। इसी अण्ड चतुष्टय में भोक्ता व भोग्य का विश्व अन्तनिर्हित होता है–

तत्रान्तर्विश्वमिदं विचित्रतनुकरण-भुवन संतानम्।
भोक्ता च तत्र देही शिव एव ग्रहीत पशु भावः।।

प. सा. 4, 5

1. प. सा. 4
2. अष्ट विकल्पो दैवस्तैर्यग्योनिश्च पञ्चद्या भवति।
   मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः।। सा. का. प्र. 3

तत्रान्तर्विश्वमिदं विचित्रतनु-करण-भुवन संतानम्।
भोक्ता च तत्र देहि शिव एव गृहीत पशुभावः ।।[1]

भोग्य विश्व का प्रमाता पशुप्रमाता कहलाता है, जो सुख-दु:ख आदि का अनुभविता है, सुख-दु:ख आदि स्वभाव का है, शरीरी है तथा उसका तीन मलों से आविद्ध शरीर भोग का आयतन है। यह भोक्ता भी शिव से अलग नहीं है, बल्कि उसी शिव का रूप है। एक ही महाप्रकाश परमेश्वर प्रमाता अपनी शक्तियों से युक्त होकर सर्वात्मतया प्रकाशित होता है। उससे भिन्न अप्रकाशरूप कुछ भी नहीं है।[2]

वस्तुतः अण्ड 'वस्तु पिण्ड' को कहते हैं। व्यक्ति के समक्ष स्थित रहना उसकी पहली शर्त है। शक्तिरूप से यह प्रच्युत अंश होता है। वस्तु अपना शरीर भी होता है। शरीर के अंग प्रत्यङ्ग, अष्ट धातुओं के परमाणु, जल और इन्द्रियाँ यह सभी मिलकर एक शरीर रूपी वस्तु पिण्ड का निर्माण करती हैं। इस अवस्था में भी शिव शक्ति का अपना रूप स्वातन्त्र्य के कारण सुरक्षित व अविकृत रहता है। उसमें अण्डत्व की परिभाषा का प्रवेश नहीं होता। शक्ति का बाह्य उल्लास यद्यपि असंख्य है, पर हम जब इसे अण्ड के रूप में देखते हैं तो यह भेद प्रभेद का बाहुल्य अस्त हो जाता है और एक अनिर्भक्त विमर्श का विषय बनता है। जिस प्रकार असंख्य घरों के समुदाय को पृथक्-पृथक् न ध्यान देकर नगर का ऐक्य तथा चित्र के अनन्त रंग रूपों के पार्थक्य में भावित न होकर एक चित्र का अनुदर्शन करते हैं उसी तरह यह जगत भी इस भूमि पर अनिर्भक्त वस्तु पिण्ड रह जाता है, इसीलिए इसे 'अण्ड' कहते हैं-

अण्डस्वरूप गुरुभिश्चोक्तं श्री रौरवादिषु।
व्यक्तेरभिमुखीभूतः प्रच्युतः शक्तिरूपतः ।।
आवापवानिर्भक्तो वस्तुपिण्डोऽण्ड उच्यते।
तमोलेशानुविद्धस्य कपालं सत्त्वमुत्तरम्।
रजोऽनुविद्धं निर्मृष्टं सत्त्वमस्याधरं तमः ।।[3]

---

1. प. सा. वि. टी. 5
2. वहीं
3. त. 8 - 168-170

शरीर को वस्तुपिण्ड कहा गया है, अण्ड नहीं क्योंकि शरीर पराश्रित है। पृथ्वी आदि तत्त्व अनादि हैं इसलिए अण्ड कहे गये हैं। पृथ्वी तत्त्व में अन्य तत्त्व भी मिले हुए हैं। इसलिए इस एक में भी अनेकता विद्यमान है यह मानना पड़ता है।[1] पृथ्वी तत्त्व से अहंकार तत्त्व तक दशदशगुणित मान है। बुद्धि तत्त्व अहंकार से शत गुणित है। प्रधान हजार गुना, पुरुष दश हजार गुना, नियति लाख गुना, दशलाख गुना कला, कला से करोड़ गुना माया, माया से दश करोड़ गुना सद्विद्या, सद्विद्या से सौ करोड़ गुना ईश्वर उनसे एक हजार करोड़ गुना सदाशिव व सदाशिव से एक वृन्द बड़ी शक्ति है। शक्ति के बाद अप्रमेय शिव का विस्तार है।[2]

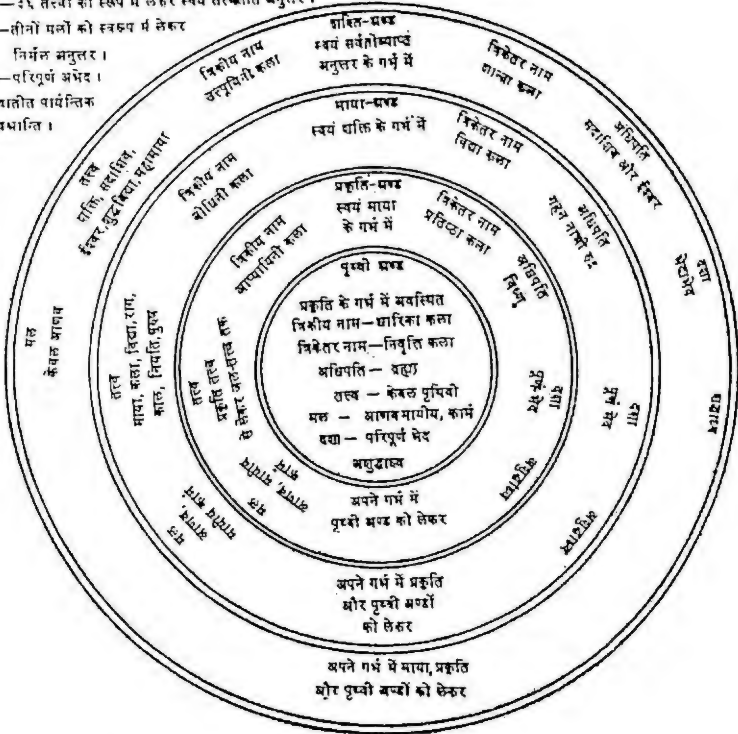
इसे ही स्वच्छन्द तन्त्र में और स्पष्ट किया गया है–

"जल तत्त्व में ऊपर शिव तत्त्व तक के ये तत्त्व उत्तरोत्तर इसी तरह योग से दश प्रकार के गुणन से विस्तृत हैं। यह क्रम अहंकार तक चलता है और इसी विस्तार में संस्थित है। अहं तत्त्व से बुद्धि तत्त्व शत गुणित परिवेश में संस्थित है। प्रधान तत्त्व बुद्धि से हजार गुणा बड़ा है। पुरुष प्रधान से दस हजार गुना बड़ा है। पुरुष परिवेश से नियति का परिवेश एक लाख अधिक है। इससे ऊपर कला की व्याप्ति है। यह नियति से दस लाख गुनी अधिक है। कला से माया एक करोड़ गुना परिवेश व्यापिनी तत्त्व है। यह तो सारे चराचर को ही व्याप्त कर मानो अवस्थित है।

माया से भी दस करोड़ गुनी विद्या बड़ी है। यह माया को व्याप्त करके अवस्थित है। विद्या से भी सौ करोड़ गुना ईश्वर तत्त्व, ईश्वर से एक हजार करोड़ गुना सदाशिव तत्त्व है। बिन्दु और नाद का क्षेत्र इनके ऊपर आता है। इनके ऊपर शक्ति तत्त्व है। यह सदाशिव से एक वृन्द अधिक विस्तार वाली है। जहाँ तक व्यापिनी का प्रश्न है, यह समस्त अध्व मण्डल को व्याप्त कर अवस्थित है। इससे ऊपर शिव तत्त्व है। शिव कहते हैं कि हे सुमुखि शिवे! शिव तत्त्व की प्रभा नहीं की जा सकती। यह अप्रमेय तत्त्व है।[3]

---

1. वही – 175 – 176
2. वही – 186 – 188
3. अथोपरिष्टात्तत्त्वानि उदकादिशिवान्तकम्।
   उत्तरोत्तरयोगेन दशधा संस्थितानि तु।।
   अहङ्कारस्तदूर्ध्वं तु बुद्धिस्तु शतधा स्थिता।
   ऊर्ध्वं सहस्त्रधा ज्ञेयं प्रधानं वरवर्णिनि।।



तन्त्रालोक में सदाशिव के बाद शक्ति और व्यापिनी का वर्णन है और व्यापिनी के बाद सीधे शिव तत्त्व का उल्लेख है। साधना के क्रम में सदाशिव के बाद

पौरुषं दशसाहस्त्रं नियतिर्लक्षधा स्मृता।
तदूर्ध्वं दश लक्षणादि कला यावत्तु सुव्रते।
माया तु कोटिद्या व्याप्त स्थिता सर्वं चराचरम्।
दश कोटिगुणा विद्या मायां व्याप्य व्यवस्थिता।।
शतकोटि गुणेनैव व्याप्तासावीश्वरेण तु।
सादाख्यं कोटिसाहस्त्रं बिन्दुनांद तदूर्ध्वत: ।।
योजनानां तु वृन्दंवे शक्तिर्व्याप्य व्यवस्थिता।
व्यापिनो सर्वमध्वानं व्याप्य देवी व्यवस्थित।।
अप्रमेय ततो ज्ञेयं शिवतत्त्वं वरानने।। स्व. त. 10-688-691

अनाश्रित शिव, अर्धचन्द्र, बिन्दु, रोधिनी, नाद नादान्त के बाद शक्ति और व्यापिनी के स्तर आते हैं। व्यापिनी के ऊपर समना और उन्मना का क्षेत्र आता है। वहीं से शिवापरमशिव का अखण्ड महायोग सिद्ध होता है।[1] यह दोनों ग्रन्थों में केवल वर्णन का अनन्तर है। वस्तुत: यह साधक के अनुभव का विषय है।[2]

III. मल

मल संसार का कारण है

मल को संसार का कारण बताया गया है–

देवादीनां च सर्वेषां भाविनां त्रिविधं मलम्।
तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसारकारणम्।।[3]

तीनों मल सर्वत्र कारण हैं किन्तु कार्म मल मुख्य रूप से कारण बताया गया है। इसे ही भोगलोलिका भी कहा गया है। मल कोई भिन्न तत्त्व नहीं है यह केवल योग्यता मात्र है।[4]

मल भी शिव की इच्छा का चमत्कार ही है :

वह अपने स्वरूप प्रच्छादन की इच्छा से वस्तुभूत हो जाता है। जैसा कि कहा भी गया है–

"मलमज्ञानमिच्छन्तिसंसाराकुराकारणम्"[5]

---

1. व्या. त. 8–189
2. चित्र प. त्रि पृ. 192
3. त. 9–61 पृ. 375 (उद्धृत)
4. योग्यता मात्रमेवैतद्द्रव्यवच्छेदसंग्रहे।
   मलस्तेनास्य न पृथक्तत्त्वभावोऽस्ति रागवत्।।63।।
   त. 9
5. स्वतन्त्रस्य शिवस्येच्छा घटरूपो यथा घट: ।।65
   स्वात्मप्रच्छादनेच्छैव वस्तुभूतस्तथा मल: ।
   यथैवाव्यतिरिक्तस्य धरादेर्भावितात्मता ।।
   तथैवास्येति शास्त्रेषु व्यक्तिरिक्त: स्थितो मल: ।।
   दृष्टव्य – वहीं पर उद्धृत
   (i) 'अथानादिनिर्मल: पुंसां पशुत्वं परिकीर्तितम्।'

संसार में शिव से भिन्न कुछ है ही नहीं तो मल कैसे उससे भिन्न हो सकता है, वह भी शिव की ही इच्छा मात्र है। यह मल कोई अलग से वस्तु नहीं है।[1] मल की विभिन्न शक्तियाँ होती हैं जिनसे यह प्रत्येक आत्मा का अनावरण करता है।[2] सभी मलों की एक विशिष्ट शक्ति है। जो रोध्री कहलाती है।[3]

मल की रोध्री शक्ति

यह अणु की आवरिका शक्ति है जो अपने सानिध्य से आवरण प्रदान करती है। जो मुक्त साधक होते हैं, उन पर इसका प्रभाव नहीं पड़ता। यह किसी जड़ वस्तु द्वारा संचालित नहीं होती। यह विश्व के सभी पदार्थों पर आवरण डालती है।[4] इसको ईश्वर ही संयोजित करते हैं। इसे स्वयं प्रवृत्त नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा मानने पर इसमें शक्ति की ऐश्वर्यमयी प्रभा भी माननी पड़ेगी जो कि नितान्त असम्भव है।

मल से शिव तत्त्व का आवरण वैसे ही है जैसे घट को वस्त्र से ढक लेने पर घट का स्वरूप परिवर्तन नहीं होता। जादूगर मुठ्ठी में हीरा बन्द कर लेता है किन्तु उसे तो पता होता ही है कि मुठ्ठी में हीरा है।[5] शिव की ज्ञान व क्रिया शक्तियों का

(ii) 'प्रोक्तो येन मलं ज्ञानं मलस्तद्भिन्नलक्षण:।'
(iii) ..... तत: पुसां मल: स्मृत:।

1. व्यक्तिरिक्त: स्वतन्त्रस्तु न कोऽपि शकटादिवत्। – त. 9-67
2. मलशक्तयो विभिन्ना: प्रत्यात्मानं च तद्गुणावरिका:।
3. मलस्य रोध्री काप्यस्ति शक्ति: सा चाप्यमुक्तगा।।
4. 'तावज्जाड्यादेव न प्रवर्तते। त. 9-68
.... येन सर्व एवावृत्ता भवेदु:'
रोध्री शक्तिर्जडस्यासौ स्वयं नैव प्रवर्तते।।
स्वयं प्रवृत्तौ विश्वं स्यात्तथा चेशनिका प्रमा।
मलस्य रोध्री तां शक्तिमीशश्चेत्संयुनक्ति तत्।। – वही
5. मलश्चावरणम् तच्च नावार्यस्य विशेषकम्।।
उपलम्भं विहन्त्येतद्घटस्येव पटावृत्ति:।
मलेनावृतरूपाणामणूनां यत्सतत्त्वकम्।।
शिव एव च तत्पश्येत्तस्येवासौ मलो भवेत्। त. 9-71, 72

आवरण तथा 'स्व' स्वरूप का मल से विध्वंस होता है।[1] मल को अन्य कई नाम दिये गए हैं–

मलोऽभिलाषश्चाज्ञानमविद्या लोलिकाप्रथा।
भवदोषोऽनुप्लवश्चग्लानिः शोषो विमूढता।।
अहंममात्मतातङ्को मायाशक्तिरथावृत्तिः।।
दोषबीजं पशुत्वं च संसाराकुंरकारणम्।
इत्याद्यन्वर्थसंज्ञाभिस्तत्र तत्रैष भण्यते।।[2]

प्रश्न यह उठता है कि क्या मल शिव के स्वरूप का अपहस्तन कर सकता है? तन्त्रालोककार कहते हैं कि ज्ञान को न मूर्त आवरण से और न ही अमूर्त्त आवरण से आवृत्त किया जा सकता है। ज्ञान सूर्य की किरणों के समान अमूर्त्त नहीं है। जैसे सूर्य को बादल ढक लेते हैं तथा आँख को पलकें ढक लेती हैं, वैसा आवरण ज्ञान पर नहीं हो सकता क्योंकि वह चेतन है। चेतन आत्मा को अस्वतन्त्र मल कैसे आवृत्त कर सकता है। ऐसा भी नहीं है कि ईश्वर प्रेरित मल पुरुष को आवृत्त करता हो। निर्मल पुरुष को ईश्वर द्वारा आवृत्त करने की प्रेरणा का विचार ही अनुचित है।[3] स्वरूप स्वातन्त्र्य का चमत्कार ही मल का विजृम्भण है।[4]

---

1. विभोर्ज्ञान क्रियामात्रसारस्याणुगणस्य च।।72।।
   तद्भावो भलो रूपध्वंसायैव प्रकल्प ते।।

   त. 9–72
2. वही 54–66
3. नामूर्तेन न मूर्तेन प्रावरीतुं न शक्यते।।75।।
   ज्ञानं चाक्षुषरश्मीनां तथाभावे सरत्यपि।
   ....., न च चेतनमात्मानमस्वतन्त्रो मलः क्षमः।।78।।
   आवरीतुं ...... न वाच्य च मद्यावृत्तिनिदर्शम्।
   ..... न चेशप्रेरितः पुंसो मल आवृणुयाद्यतः।।81।।
   निर्मले पुंसि नेशस्य प्रेरकत्वं तथोचितम्।
4. तेन स्वरूपस्वातन्त्र्यमात्रं मलविजृम्भितम्।।83।।
   निर्णीतं विततं चैतन्मयान्यत्रेत्यलं पुनः।।

   त. –9

कार्म, आणव तथा मायीयमल

मलों के विषय में तन्त्रालोककार कहते हैं- ''संसार मायीय मल है। इस मायीय मल का अंकुर अर्थात् कारण कार्म मल है। इस कार्म मल का कारण भी आणव मल है[1] जब कर्त्ता को ज्ञान नहीं रहता।

कार्ममल

जब देहादि की भिन्नता का फैलाव होता है तो धर्म अधर्म रूपी कार्ममल रहता है। कर्मफल कार्म मल के ही कारण रहते हैं। इसे ही पातञ्जल योग दर्शन में 'जात्यायुर्भोगफलं कर्म' इस प्रकार से कहा गया है।[2]

कार्म मल के ही कारण कर्मफल के बन्धन होते हैं तथा जीव संसार चक्र में फंसता है यदि कर्म बन्धन न हो तो जीते हुए भी योगी पुन: बन्धन में नहीं पड़ता किन्तु पहले के कर्मों के कारण उसे संसार में आयु पर्यन्त जीवित रहना पड़ता है।

आणव मल

जब आत्मा माया के वशीभूत होकर पञ्च कञ्चुकों से युक्त होता है, वह संसारी आत्मा 'पशु' कहलाता है। यह पशुरूप जीव विविध मलों से युक्त कहा गया है। मल स्वस्वरूप (शिवरूप) को छिपा देने वाला तथा स्वातन्त्र्य की हानि करने वाला कहा गया है। मल के प्रभाव से ही जीव जन्म मरण के चक्र में बंधता है तथा अपने मूल स्वरूप को भूल जाता है-

स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपहानित: ।।
भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम्।
कर्तर्यबोधे कार्म तु मायाशक्त्यैव तत्त्रयम्।।[3]

वह आणव मल ही है जो आत्मा के ज्ञान स्वरूप को छिपा देता है।[4] स्वरूप

---

1. त. 9-88 (व्याख्या)
2. ई. प्र. वि. 3-2-6
3. ई. प्र. वि. 3-2-4,5
4. (क) ''इह ज्ञातृकर्तृरूपं तावच्चित्तत्वस्य स्वरूपं, तस्यापहारो नामाणवं'' स्वरूपान्तरस्य - ई. प्र. वि. 3-2-4, 5 वि.

की हानि तो होती ही है, भेद भी भासित होते हैं, इस प्रकार आणव मल स्वस्वरूप को छिपाता है।

मायीय मल

यह जन्म और भोग को देने वाला है आणव मल दो प्रकार का कहा गया है– स्वरूप को छिपाने वाला तथा भेदरूप से आभासन कराने वाला। इस अवस्था में जो भिन्नता का आभासन होता है, वह 'मायीय मल' है।[1] वैसे तो तीनों मल माया के कारण हैं, इसलिए मायीय ही कहे जाते हैं।

कार्म मल के विनष्ट हो जाने पर कर्तृत्व प्राप्त करने वाले ज्ञानियों में भी जो भिन्न रूप से विषयों को जानते हैं, उन्हीं में मायीय मल रहता है और वे विद्येश्वर कहे जाते हैं।[2]

तीनों ही मल सभी देवताओं और सांसारिक जीवों में रहते हैं। इन तीनों में मुख्य कार्म मल है।[3] संसार का मुख्य कारण भी इसे ही माना गया है।

(IV) परम शिव तत्त्व तथा शाम्भव प्रमाता

शिव तत्त्व ही परम तत्त्व है

सम्पूर्ण तत्त्व समूह जिसमें भासमान होता है। वह परम आगमरूप महेश्वर परम शिव ही है। परम शिव में ही सदाशिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त तत्त्वों का समुदाय प्रतिबिम्बित होता है।[4]

(ख) निमीलनं विपर्ययो वा – इत्युभयथाप्याणवंमलं – वही

1. 'सत्याणवे मले द्विप्रकारे स्वरूपसंकोचे वृत्ते भिन्नस्य यत्प्रथनं तस्य 'मायीयम्' इति। संज्ञामात्रम्।'' ई. प्र.वि. 3-2-6
2. बोधानामपि कर्त्तत्वजुषांकार्ममलक्षतौ।
भिन्नवेद्यजुषां मायामलो विद्येश्वराश्च ते।। ई. प्र. वि. 3-2-9
3. देवादीना च सर्वेषां भाविनां त्रिविधं मलम्।
तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसारकारणम्।
ई. प्र. वि. 3-2-10
4. (क) यं प्राप्य सर्वागम सिन्धुसङ्घः पूर्णत्वमभ्येतिकृतार्थताम् च।
तं नौम्यहं शांभव तत्त्वचिन्तारत्नौधसारं परमागमाब्धिम्।।
श्रीमत्सदाशिवोदारप्रारम्भं वसुधान्तकम्।

सम्पूर्ण जगत् अनेक प्रकार की विविधताओं से युक्त है। सभी प्राणियों के अनेक प्रकार के रूप हैं। उन सारे भेदयुक्त पदार्थों में एक तत्त्व का ही प्रकाश है। वह सर्वोत्तम परम प्रकाश ही शिव है। अपने स्वातन्त्र्य के कारण अनेक रूपों में वही भासता है अथवा यह संसार उसी शिव की स्वतन्त्रतापूर्ण क्रीड़ा है।[1]

शिव में ज्ञान व क्रिया शक्ति परस्पर अवियुक्त, अभिन्न होकर रहते हैं।[2] शिवत्त्व को प्राप्त शाम्भव प्रमाताओं की 'शिवोऽहम्' इस प्रकार की अनुभूति सदैव होती है।

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी में शिव तत्त्व ज्ञान क्रिया से रिक्त नहीं है। वही क्रिया द्वारा समग्र विश्व को धारण करता है।[3] वास्तव में कर्ता, कारण, कार्य स्वयं शिव ही है, शिव से अलग कुछ नहीं है।

सृष्टि से पहले व सृष्टि में शिव की स्थिति

सृष्टि के पहले परमशिवतत्त्व किसी भी आकांक्षा से रहित होकर भासता है, तब अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति को विभक्त करने के लिए ही अपने में ही अव्यक्त रूप में

यदन्तर्भाति तत्त्वानां चक्रं तं संस्तुमः शिवम्।।
मंगलाचरण, ई. प्र. वि. 3-2-2

(ख) अखण्डितस्वभावोऽपि विचित्रां मातृकल्पनाम्।
स्वहरन्मण्डलचक्रे यः स्तुमः शिवम्।। ई. प्र. वि. म. 3-2

1. यान्युक्तानि पुराण्यमूनि विविधैर्भेदैर्यदेष्वन्वितं
रूपं भाति परप्रकाश निविडं देवः स एकः शिवः।
तत्स्वातन्त्र्यवशात्पुनः शिवपदाद्भेदे विभाते परं
यद्रूपं बहुधानुगामि तदिदं तत्त्वं विभोः शासने।।

उद्धृत् - ई. प्र. वि. 3-2-2-

2. एवमन्तबहिर्वृत्तिः क्रिया कालक्रमानुगा।
मातुरेव तदन्योन्यावियुक्ते ज्ञानकर्मणी।।

ई. प्र. वि. 3-1-1

3. 'तदेतदवियुक्तज्ञान क्रियारूपं क्रियाद्वारेण सकलतत्त्वराशिगतसृष्टि संहारशत प्रतिबिम्बसहिष्णुयत्तदुपदेशभावनादिषु तथाभासमानमनाभासमपि वस्तुतः शिवतत्त्वमित्युक्तम् भवति'', पृ. 296

ई. प्र. वि. भा. भाग-2

स्थित दो शाखाओं - अहम् व इदम् (सदाशिव, ईश्वर) को व्यक्त करते हैं।[1] अर्थात् शिव ही स्वयं को अलग आभासित करके पुनः शिवरूप में पहचान लेते हैं।

शिव-संवित्

शीशे में जैसे जल का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही शिव भी विश्वमय भी है और विश्वोत्तीर्ण भी है। दर्पण अलग वस्तु है व घड़ा अलग वस्तु है, दर्पण में भी घड़ा प्रतिबिम्बित है। दर्पण में भासित घड़ा दर्पण के अलावा कुछ भी नहीं है। दर्पण और घड़े का अलग भान नहीं होता, अन्तर मानने पर पृथक् भान होना चाहिए, जो नहीं होता।

इसी प्रकार प्रकाशात्मक शिव भी स्थावर जङ्गमात्मक इस विश्व को स्वेच्छा से अपने रूप के अतिरिक्त लगने वाले की तरह भासित करते हैं पर वस्तुतः शिव के स्वरूप के अतिरिक्त वह नहीं है।[2]

भाव की अपेक्षा से एक ही परमेश्वर है उसे ही विभु भी कहा गया है। यहाँ धर्म और धर्मी भाव है। परमेश्वर की विभुता उसका आद्य धर्म है। यह धर्म धर्मी से पृथक नहीं है। अतः परमेश्वर की विभुता उसके रूप के अतिरिक्त कुछ नहीं है। शिव में अतिशयता उत्पन्न करने वाला कोई अलग गुण नही है बल्कि यह उसका स्वरूप ही है। विभु का अर्थ सर्वव्यापक होता है। जैसे व्याप्य-व्यापक भाव तिल और तैल में है। तिल व्याप्य है। तैल व्यापक है। यहाँ तैल के अलावा तिल व्याप्य है। नित्यता भी परमेश्वर का धर्म नहीं है। परमेश्वर प्रकाश रूप से शाश्वत अनुगमन कर रहा है और अकाल कलित है अर्थात् काल से अकलित है। इस प्रकार विभुता, नित्यता, सर्वाकाररूपता आदि शब्दों से कथित अर्थ के पर प्रकाश की अपेक्षा किसी प्रकार के भेद की कल्पना भी नहीं की जा सकती-

न चास्य विभुताद्योऽयं धर्मोऽन्योन्यं विभिद्यते।
एक एवास्य धर्मोऽसौ सर्वापेक्षेण वर्तते॥[3]

---

1. निराशंसात्पूर्णादहमितिपुरा भासयति यद् ..... मंगलाचरण, ई. प्र. वि., 1-1-1
2. उक्तंच कामिके देवः सर्वाकृति निराकृतिः।
   जलदर्पणवत्तेनसर्वं व्याप्तंचराचरम्॥त.1-66
3. त. 1-67

शिव का धर्म ही अहं प्रत्यवमर्श है। यह सभी अनन्त धर्मों का आक्षेप कर लेता है। इससे यह स्पष्ट है कि वह स्वातन्त्र्य शक्ति से युक्त है। यही इसकी तात्त्विक विधि या आञ्जस विधि है। स्वातन्त्र्य शक्ति से युक्त होना ही उसकी अनन्त शक्तिमत्ता का द्योतक है-

तेन स्वातन्त्र्यशक्त्यैव युक्त इत्याञ्जसो विधिः।
बहुशक्तित्वमप्यस्य तच्छक्त्यैवावियुक्तता।।[1]

संवित् ही अनन्त भेदों में भासती है

परमशिव की शाश्वत शक्ति इच्छा शक्ति ही है। वह यद्यपि एक है फिर भी अनन्त रूप कैसे ग्रहण करती है इसके समाधान में कहते हैं कि यह इच्छा शक्ति दो रूपों वाली होकर भी अनन्त भेदों से भिन्न-भिन्न भी भासती है। यह चिन्तामणि के समान अर्थों की उपाधि के कारण इन रूपों में परिवर्तित होती रहती है। जैसे आग में दाहक धर्म भी है और पाचक धर्म भी है, वैसे ही शिव में अनन्त शक्तियाँ हैं।

शिव अपनी संकुचित संवित् बुद्धि में स्वयं को प्रमाता स्वीकार करता है और सृष्ट के समान भासित होता है। शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति से उसकी संवित् शक्ति संकुचित हो जाती है। संवित् रूपी बुद्धि में एक आग्रह उत्पन्न होता है, 'मैं एक प्रमाता हूँ।' यह संकुचित चमत्कार उसमें नई भावनाओं को जन्म देता है। चूंकि शिवतत्त्व स्वच्छ होता है। उसमें प्रतिबिम्ब ग्रहण की शक्ति भी होती है। इसलिए उसकी प्रमातृता ही दर्पण बन जाती है। वह भावनाओं में बहने लगता है। स्वतन्त्रता शक्ति के कारण अपने को कल्पित भेदभिन्न निर्मित प्रमाता मानने लगता है। उसे आभास होने लगता है कि मैं सृष्ट हूँ - सृष्टि रचना का एक अङ्ग हूँ। किन्तु वास्तव में उसके रूप में परिवर्तन नहीं होता। शिव शिव ही रहता है-

स्वातन्त्र्याद्दद्वयात्मानं स्वातन्त्र्याद्भावनादिषु।
प्रभुरीशादिसंकल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत्।।[2]

आत्मा स्वप्रकाश है। दूसरे से भासित नहीं होता। अतः स्वच्छ है। अन्य सापेक्ष न होने के कारण स्वतन्त्र है। प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ होने के कारण

---

1. त. 1-68
2. ई. प्र. 1- प्र. 16

वह रत्नवत् भासमान है। प्रमाता- प्रमेयमय भावसमूह रूप विश्व में स्वात्मातिरिक्त स्फुट भेदमय विकल्प का आभासन यही करता है। इस अवस्था में यह नैश अथवा मायीय कहलाता है। यह विकल्प की पहली अवस्था है। इसमें इदम्-इदम् और अहम् अहम् की अनुभूति रहती है।

दूसरी अवस्था में इस विकल्प का स्तर 'इदम् अहम् एव' अर्थात् यह समस्त द्रश्यमान मैं ही हूँ- रहता है। अतः इसमें समस्त जागतिक भेदभाव से परिपूर्ण स्वात्मभाव ही उल्लसित होता है। यह पर्याप्त विकसित अवस्था है। इसे शुद्ध विद्यात्मक अवस्था कहते हैं-

भावौघे भेदसंघातृस्वात्मनो नैशमुच्य ते।
तदेव तु समस्तार्थनिर्भरात्मैक गोचरम्।।
शुद्ध विद्यात्मकं सर्वमेवेदमहमित्यलम्।
इदं विकल्पनं शुद्ध विद्या रूपं स्फुटात्मकम्।।[1]

सब कुछ शिवात्मक होते हुए भी भेदप्रदा बुद्धि ही अशुद्धि बन जाती है। इस प्रकार की बुद्धि का परिष्कार ही शुद्धि है। सारा वस्तु जगत उसी परातत्त्व में उल्लसित है। अशुद्ध अनात्म में आत्मभाव को समाप्त कर एकमात्र स्वात्मबोध का ही आश्रय और अद्वय अस्तित्व का प्रतीक बन जाने वाला सिद्ध साधक स्वात्म संविद् स्वात्नत्र्य को उल्लसित कर लेता है, उसी स्वात्नत्र्यभाव में विचरण करता है और प्रभुता सम्पन्न हो जाता है-

एवं स्वदेहं बोधैकपात्रं गलितभेदकम्।।
पश्यन्संवित्तिमात्रत्वे स्वतन्त्रे तिष्ठति प्रभुः।।[2]

संवित् स्वप्रकाश तत्त्व है

शिव की प्रकाशरूपता ही संवित् है। संवित् तत्त्व स्वप्रकाशतत्त्व है। इसमें युक्तियों और ऊहापोह को कोई स्थान नहीं है। संवित् को स्वप्रकाश मानने की सर्वातिशायिनी युक्ति यही है कि ऐसा न मानने पर जगत् जड़ व अन्धे के समान हो जायेगा -

---

1. त. 4, 112, 113
2. तं. 4 - 119, 120

संवितत्त्वं स्वप्रकाशमित्यस्मिन्किं न युक्तिभिः ।
तदभावे भवेद्विश्वं जड़त्वादप्रकाशकम् ।।[1]

समस्त विश्व की संवित् की अपेक्षा है सभी उपाय संवित् पर ही आश्रित है। जैसे प्रकाश को जानने के लिए किसी और प्रकाश की आवश्यकता नहीं पड़ती वैसे ही संवित् को जानने के लिए और कोई उपाय नहीं है-

यावानुपायो बाह्यः स्यादान्तरो वापि कञ्चन ।
स सर्वस्तन्मुखप्रेक्षी तत्रोपायत्वभाक्कथम् ।।[2]

'चिद्' किसी से आच्छादित नहीं होता। इसीलिए जड़ में भी जो अजड़ भाग है, वह शाश्वत अनावृत्त है। जिसे हम पुद्गल कहते हैं, पशु या अणु कहते हैं। उसमें भी शुद्ध संविद् रूप अनावरण भागांश 'चित् नित्य प्रकाशमान है।' यद्यपि ध्रुव संविद् के रूप में वास्तविक भेद नहीं होता फिर भी आवृत्ति (आणवमल) के नष्ट होने के क्रम के कारण भेद परिलक्षित होता है। संविद् शाश्वत व अखण्ड तत्त्व है। इसमें भेद की लेशमात्र भी अवस्थिति नहीं होती। फिर भी भेद लक्षित होता है। यह वास्तविक नहीं होता। अवास्तविक भेद के लक्षित होने का कारण है। साधना के प्रभाव से आणव मल का क्षय होने लगता है। कभी-कभी धीरे-धीरे क्षीणता होती है, कभी तीव्रता होती है, इस प्रकार तारतम्य के कारण भेद 'परिलक्षित होता है,' साक्षात् वास्तविक भेद नहीं होता-

संविद्रूपे न भेदोऽस्ति वास्तवो यद्यपि ध्रुवे ।
तथाप्यावृतिनिर्ह्रासतारतम्यात्स लक्ष्यते ।।[3]

संवित् भावानुरूप फल प्रदान करती है

शिव का यह संवित् ही है जो साधक को उसकी भावना या आस्था के अनुरूप फल प्रदान करती है। यही उनकी आन्तरिक प्रतिभा या स्वातन्त्र्य शक्ति है। यही कभी सौम्य, कभी मित और कभी रौद्र हो जाती है। कभी सौम्य और कभी रौद्र रूप धारण करने के कारण एक सीमित परिवेश आ जाता है। यही नियताकार

---

1. तं. 2 - 10
2. वही, 11
3. त. 2-11

की स्वीकृति है। यही संविद् का उर्मिचक्र है। यही उपास्य है। इस तथ्य की पुष्टि हेतु यह संविद् देवी उसी रूप में उदित होती है। संजल्प के मिश्रित ध्यान से और बाह्य व्यापार से भी संवित् स्फुट हो जाती है। साधक के लिए वह उसी रूप में फलप्रदान करती है। उसी की पुष्टि होती है। ध्यान में संवित् अनुरूप आकार गृहण कर उदित होती है–

एकस्य संविन्नाथस्य ह्यान्तरी प्रतिभा तनुः।
सौम्यं वान्यन्मितं संविदुर्मिचक्रमुपास्यते।।
अस्य स्यात्पुष्टिरित्येषा संविद्देवी तथोदितात्।
ध्यानात्संजल्पसंमिश्राद् व्यापाराच्चापि बाह्यतः।।[1]

संवित् ही स्वातन्त्र्य के कारण विज्ञेय का और भोग्य रूप अग्नि से ऐकात्म्य स्थापित कर उल्लासित भी है। उसे किसी की अपेक्षा नहीं होती। वहाँ प्रमाता कहलाती है। संवित् का प्रमाता होना ही वैचित्र्य से युक्त है। ज्ञेय रूप कला विद्या आदि का किंचित्कर्त्तृत्वादि भेदभाव, विचित्रताओं से भरा हुआ है। अतः कह सकते हैं कि भगवती संविद् सोम सूर्य संघट्ट के कारण विचित्र रूप ग्रहण करती हुई भी अच्युत रूप से उल्लसित है –

संविदेव तु विज्ञेयतादात्म्यादानपेक्षिणी।
स्वतन्त्रत्वात्प्रमातोक्ता विचित्रो ज्ञेयभेदतः।।[2]

ज्ञान और ज्ञेय आदि उपाय राशि के संघात से निरपेक्ष संविद् शक्ति तत्त्व में 'अहम् अस्मि' यह परामर्श होता है। यह परामर्शमययी स्थिति जिसमें होती हैं, वही वस्तुतः ज्ञाता और प्रमाता है क्योंकि परामर्श ही उसका 'स्व' भाव होता है। परप्रमाता रूप संविद् बोध प्रकाश में होने वाले अहंप्रत्यवर्श के विकल्पोपहत किसी प्रतियोगी परामर्श की सम्भावना नहीं रहती–

ज्ञेयाद्युपाय – संघातनिरपेक्षैव संविदः।
स्थितिर्मोताहमस्मीति ज्ञाता शास्त्रज्ञवद्यतः।।[3]

---

1. त. 1– 116, 117
2. त. 3 – 123
3. त. 3 – 125

संवित् काल से परे है

माता-मान मेय रूपों में भी बाह्य जगत् में उल्लसित यह संविद-देवता कालक्रम से रहित होने के कारण शाश्वत रूप से उदित रहती है। इसीलिए यह सदा पूर्ण बनी रहती है-

उच्छलन्त्यपि संवित्तिः कालक्रमविवर्जनात्।
उदितैव सतो पूर्णा मातृमेयादिरूपिणी।।[1]

इस प्रकार यह संवित तत्त्व अकालकलित है। अकालकलित होने पर भी प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय रूप से उल्लसित भी है और उल्लसित होकर भी अपने स्वरूप से भिन्नता नहीं होती। निरन्तर साधनारत साधक के विकल्प संस्कृत हो जाते हैं। साधक के विकल्पों का संस्कार हो जाने पर स्फुटतम वैकल्पिक तद्रूपतामयी एक संवित् शक्ति उल्लसित होती है। वही इतनी स्वच्छ हो जाती है कि अविकल्पकता के 'स्व' रूप को प्राप्त कर लेती है। उस दशा में संकोच का कलंक मिट जाता है। विकल्प संविद् के संस्कार से और अविकल्प संविद् रूप में क्रमशः स्फुरित होने से स्वात्म में ही ज्ञान क्रियात्मक सविद्रूप भैरवीय तेज का विमर्श होने लगता है। इस विमर्श में 'मैं शिव हूँ' यह महानुभूति उदित होती है। यही शाम्भव समावेश की आनन्दभूमि है। इसे ही प्रस्फुटित विमर्शभूमि का आवेश भी कहते हैं।[2] स्वात्म संवित् किसी की अपेक्षा नहीं रखती। वह स्वभाव निर्भर शक्ति है और नित्योदित है-

उच्यते स्वात्म संवित्तिः स्वभावादेव निर्भरा।
नास्यामपास्यं नाद्येयं किंचिदित्युदितं पुरा।।[3]

वही संवित् अन्तर और बाहर दोनों रूपों में वर्तमान है। यही उसका स्वात्रन्त्य है। बाह्यावभास की अवस्था में भी उसका परामर्शात्मक स्वरूप ज्यों का त्यों बना

---

1. त. 3 - 128
2. ततः स्फुटतमोदारताद्रूप्यपरिवृंहिता।
   संविदभ्येति विमलामविकल्पस्वरूपताम्।।
   अतश्च भैरवीयं यत्तेजः संवित्स्वभावकम्।
   भूयो भूयो विमृशतां जायते तत्स्फुटात्मता।। त. 4 - 6, 7
3. त. 4-9

रहता है।

प्रत्यवमर्शमयी यह संविद् शक्ति स्वातन्त्र्य के माहात्म्य से अन्दर बाहर प्रमाता और प्रमेय दोनों रूपों मे भासित है। स्वात्म मे ही अतिरिक्त की तरह भासित होती हुई स्वयं भी भासित होती है। इसके अतिरिक्त वस्तुतः कुछ भासित नहीं हो सकता। अपनी उसी शक्ति से यह मास, राशि और स्वर सरणी में द्वादश रूपों में भासित है–

अतएषा स्थिता संविदन्तर्बाह्योभयात्मना।
स्वयं निर्भास्य त्रव्यान्यद्वासयन्तीव भासते।।

यह मेरा ही विमर्श है मैं ही यह सब कुछ रूप विभु हूँ– इस प्रकार की विश्वाभेदमयी तथा परिमित प्रमाता के भाव को ग्रास बनाने वाली विशेष रूप से विकासमान पर परामर्शमयी एक संवित्ति अवभासित होती है–

एतस्यां स्वात्मसंवित्ताविदं सर्वमहं विभुः।
इति प्रविकसद्रूपा संवित्तिरवभासते।।
ततोऽन्तःस्थित सर्वात्मभावभोगोपरागिणी।
परिपूर्णापि संवित्तिरकुलेद्याम्नि लीयते।।[1]

शिव ही अनन्त भेदों में भासते हैं

शिव में ज्ञान व क्रिया हैं किन्तु वहाँ गुणगुणी का भेद नहीं है। अपने स्वरूप में ही ज्ञान व आनन्दरूप शक्तियों को समाये हुये शिव सबसे पहले औन्मुख्यरूप इच्छा के पूर्वभाग के अनुसार अपना रूप धारण करता है।[2]

शिव ही इच्छा शक्तिरूप निमित्त के द्वारा, कभी ज्ञानशक्तिरूप निमित्त के द्वारा सदाशिव हो जाता है तथा जब क्रियाशक्ति के प्राधान्य से ऐश्वर्यमयी स्थिति को प्राप्त होता है तब ईश्वर कहलाता है। कभी परा और अपरा दोनों अवस्थाओं में भिन्न विद्येश्वर, मन्त्रेश्वर बन जाता है। कभी अभेद ज्ञानमयी संसारूपभ्रान्ति की क्रीड़ा करने की इच्छा से वह आत्मप्रच्छादनात्मक मायारूप धारण कर छत्तीस रूपों

---

1. त. 4 - 169, 170
2. एष एव हि विज्ञेयो इच्छां प्रतिस्फुटम्।
तदेवं प्रसृतो देवः कदाचिच्छक्तिमात्रके।। शि. दृ. 1-29

को प्राप्त होता है।

इन छत्तीस रूपों को प्राप्त करते हुए परमशिव तब तक अनेक रूप धारण करते है जब तक कि यह जगत् स्थूल रूप में प्रकट होकर सामान्य व्यवहार के योग्य नहीं बन जाता–

विभर्ति रूपमिच्छातः कदाचिज्ज्ञानशक्तितः।
सदाशिवत्वमुद्रेकात् कदाचिदैश्वरीं स्थितिम्।।
क्रियाशक्ति समाभोगात् कदाचित्स्थूलवेदनात्।
विद्यात्वविद्येशानत्वमन्त्रमन्त्रेश्वरात्मताम्।।
आत्मप्रच्छादन क्रीडां कुर्वतो वा कथञ्चन।
मायारूपमितित्यादि षट्त्रिशंत्तत्त्वरूपताम्।।[1]

जिस प्रकार वह परमशिव उपर्युक्त 36 तत्त्वों को धारण करता है उसी प्रकार उन छत्तीस के बाद उन्हीं से स्वयं उर्ध्वाध: वर्तमान तीनों लोक चौदह भुवनों को एवं देव मनुष्य तिर्यक् प्राणी के रूप में उत्तम, मध्यम, अधम शरीरों की संरचना करता है और स्वयं उसी रूप को ग्रहण करता है।[2]

इस प्रकार परमशिव ही निरपेक्ष अखण्ड ज्ञानस्वरूप परनिवृत्ति अर्थात् आनन्दात्मा है। वही निवृत्ति मायाशक्ति के कारण स्वयं उससे आवृत्त होकर सृष्टि की इच्छा करते हैं और संसाररूप में प्रकट होते है–

इत्थं शिवो बोधमयः स एव परनिवृत्तिः।
सैव चोन्मुखतां याति सेच्छा ज्ञान क्रियात्मताम्।।
सैव शाक्तशरीरादिनारकान्तं हि भूतता।
प्रसूयते स्वचिद्रूप प्रमुखं पार्थिवान्तकम्।।[3]

जिस प्रकार योगिजनों की अपनी इच्छा से अनेक प्रकार की रूपात्मक वस्तुयें घर द्वार इत्यादि बन जाती हैं वहाँ परमेश्वर की इच्छा के अतिरिक्त मिट्टी आदि कोई दूसरा साधन नहीं रहता उसी प्रकार भगवान् की इच्छामात्र से यह विश्व प्रकट होता

1. शि. दृ., 30, 31, 32
2. शि. दृ., 35
3. शि. दृ. 1 – 39, 40

है। अथवा काम शोक भय आदि के होने पर उसी तरह के पदार्थ सामने दिखलाई पड़ते हैं। कारण वहाँ वैसी भावना होने पर ईश्वरत्व के आवेश से वैसी वस्तुएँ पैदा हो जाती हैं और काम शोक भय आदि के कारण सब सत्य प्रतीत होते हैं, मूलत: शिव की इच्छा ही करण है। इस प्रकार सभी जड़ चेतन सर्वत्त सभी तत्त्व शिव रूप ही है। वही नीरूप भी है, वही निवृत्ति अर्थात् कर्मावच्छिन्ना औन्मुखता भी है। वही इच्छा, ज्ञान और क्रिया तीनों शक्तियों की योग्यता है। सर्वत्र चैतन्य रूप में वही है।

इस प्रकार परमशिव से लेकर घट, पट, मठ आदि पर्यन्त समस्त पदार्थों में समान रूप से शिवत्व वर्तमान है। वस्तुत: न तो कोई वस्तु शुद्ध अशुद्ध है और न शिव के अतिरिक्त अन्य पदार्थ की पारमार्थिक स्थिति है। इस प्रकार यदि भेद मानते हैं तो भेदात्मक शिवतत्त्व अनन्त है और वस्तुत: वह अभेदात्मक है। इसलिए उसकी व्यवस्थारूप स्वभाव के कारण नाना रूपों में वर्तमान होते हुए भी वह सत्य है।[1] शक्त्यद्वैतवाद के अनुपपन्न होने से यह मानिये कि इन्द्रिय मन आदि के द्वारा जो भी आकार स्फुरित होते हैं वे सब पञ्चशक्ति के सामरस्यस्वरूप शिव के ही रूप हैं। जिस प्रकार हम यह नहीं कह सकते कि पिण्ड और कटक में सुवर्णत्व है, कुण्डल और केयूर में नहीं है, बल्कि सर्वत्र हमें सुवर्णत्व मानना ही पड़ता है क्योंकि सुवर्ण ही स्वर्णकार की इच्छा से भिन्न-भिन्न रूप को प्राप्त हुआ है न कि स्वयं अपनी शक्ति से, उसी प्रकार इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन तीन शक्तियों से आविष्ट शिव ही सर्वत्र भिन्न-भिन्न रूपों में स्थित है। अत: सब कुछ शिवात्मक हैं।[2] जिस प्रकार योगी, उसी प्रकार परमशिव भी इच्छामात्र से समस्त भाव-जगत एवं अनेक पशुरूप जीव के रूप में उल्लासित होता है। यह भाव विकारमय जगत्

---

1. एवं भेदात्मकं नित्यं शिवतत्त्वमनन्तकम्।
तथा तस्य व्यवस्थानान्नानरूपेऽपि सत्यता।। शि. दृ. 49
2. स्वनिष्ठे शिवता देवे पृथिव्यादावपीदृशम्।
पिण्डे वा कटिकायां वा किं सुवर्णत्वमिष्यते।।
न भूषणे कुण्डलादौ यथा तत्र स्वशक्तित:।
रूपकत्वं गतं हेम न शक्त्यैव स्वतन्त्रया।।
तथेच्छया समाविष्टस्तथा शक्तित्रयेण।
तथा तथा स्थितो भावैरत: सर्वं शिवात्मकम्।। शि. दृ. 3-19, 20

उसका दुग्धवत् विकार नहीं है क्योंकि यह उसकी इच्छामात्र है जिसके बाद इष्टकार्य रूप जगत् प्रकट हो जाता है-

इच्छया सर्वभावत्मनेकात्मत्वमेव च।
न स्वात्मविकारेण जनयेद भावमण्डलम्।।
तदिच्छासामन्तर्ये तथा भूतात्मता यत:।
यथा न योगिनोऽस्तीह नानासैन्य शरीरकै:।।[1]

जैसे समुद्र और उसकी लहरों में अभेद है, वैसे ही परमशिव का भी देव, मनुष्य व तिर्यक जगत से कोई भेद नहीं है। जल, जब लहर की स्थिति में होता है, तब हम उसे जल नहीं लहर कहते हैं किन्तु जल तो तब भी नष्ट नहीं होता। लहर रूप से भी है तो वह जल ही। इसी प्रकार भावजगत् में भी शिव शिव ही है, कुछ और नहीं। जिस प्रकार कटक के नष्ट होने पर स्वर्ण शेष बचता है उसी प्रकार पदार्थ के नष्ट होने पर शिव शेष बचते हैं तथा वे सब में अनुगत हैं। कटक का नाश और कुण्डल की उत्पत्ति दोनों परिस्थितियों में सुवर्ण तो ज्यों का त्यों है। केवल संस्थान में भेद हो गया है। इसी प्रकार शिव सर्वत्र हैं केवल अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न रूपों मे हो रही है-

शिवस्य भावनाशेऽपि मौलिनाशेऽपि हेमवत्।
नाश: कटक रूपेण सद्भाव: कुण्डलादिना।।[2]

हाथ, पैर भिन्न-भिन्न होते हुए भी जैसे उनमें एकत्त्व बुद्धि होती है, वैसे ही इस ब्रह्माण्ड के भिन्न देशस्थ सभी पदार्थों में शिव वर्तमान है[3]-

एवं सर्वेषु भावेषु सर्वसाम्ये व्यवस्थिते।
तेन सर्वगतं सर्वं शिवरूपं निरूपितम्।।[4]

शिव को चाहे नानात्व में देखें या उसे अभिन्नरूप में कहें इस संसार में सब कुछ सर्वस्वरूप है और सर्वात्मक है यह निर्विरोध मत। चूंकि शिव अनन्त शक्ति से

---

1. शि. दृ. 3 - 35, 36
2. शि. दृ. 4 - 54
3. क्वपणिपादं क्व शिरो यथैक्यं भिन्नदेशगम।।
   तद्वत् सर्व पदार्थानां जगत्यैक्ये स्थित: शिव:।। वही. 4-63, 64
4. वही, 5-110

युक्त है, साथ ही अपनी शक्तियों के विषय में उसका ज्ञान या विमर्श लुप्त नहीं हुआ है। इस कारण समस्त पदार्थों में वर्तमान एक शिवता जाननी चाहिए-

स्थितं शिवत्वं सर्वत्र विशेषाच्छैव वादिनाम्।
एकत्वेन ततोज्ञेया शिवता सर्वगोचरा ।।[1]

शिव के होने के लिए उसका ज्ञात होना आवश्यक नहीं है। अग्नि ज्ञात हो या अज्ञात, क्या प्रकाश नहीं डालता? क्या सुवर्ण यदि ज्ञात हो तभी सुवर्ण होता है? ज्ञात न होने पर क्या वह पत्थर हो जायेगा?

अथस्थिते सर्वदिक्के शिवतत्त्वेऽधुनोच्यते।
तस्मिञ्ज्ञातेऽथवाज्ञाते शिवत्वमनिवारितम् ।।[2]

शिव की पाँच शक्तियाँ

शिव स्वातन्त्र्य सम्पन्न ज्ञानरूप और पाँच शक्तियों से परिपूर्ण परमेश्वर है। जो भेद आभासित होता है वह शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण आभासित होता है। चित् शक्ति के प्राधान्य से वह शिव, आनन्द शक्ति के प्राधान्य से शक्ति, इच्छा शक्ति प्राधान्य में सदाशिव, ज्ञान शक्ति प्राधान्य होने पर ईश्वर, क्रिया शक्ति प्राधान्य होने पर सद्विधा के रूप में अभिव्यक्त होता है।[3]

इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्तियाँ शिव से अभिन्न है जहाँ अन्य वेदान्त आदि दर्शनों में ब्रह्म को क्रियायुक्त नहीं माना गया है वहीं शैव दर्शन में ज्ञान के समान क्रिया भी शिव में मानी गयी है, बल्कि ज्ञान का 'जानना रूप' स्वभाव क्रिया ही है।

---

1. शि. दृ., 6-126
2. वही, 7-1
3. शिवः स्वतन्त्रदृग्रुप : पञ्चशक्ति सुनिर्भरः ।।49।।
   स्वातन्त्र्यभासितभिदा पञ्चधा प्रविभज्यते।
   चिदानन्देषणाज्ञानक्रियाणां सुस्फुटत्वतः ।।50।।
   एकैकत्रापि तत्त्वेऽस्मिन् सर्व शक्ति सुनिर्भरे ।।51।।
   तत्तत्प्राधान्ययोगेन स स भेदो निरूप्यते।

स्वातन्त्र्य

परम शिव का स्वातन्त्र्य ही जगत की विचित्ररूपता का कारण है। भगवान शिव ही अपने स्वातन्त्र्य सामर्थ्य के कारण अपने से अलग न रहते हुए भी अलग लगने वाली सृष्टि को प्रकाशित करते हैं। अविद्या और वासना आदि तो भेदाभेद रूप विकल्पों से ही उपहत हैं, वे इस संसार की कारण नहीं है।[1]

'नर्तक आत्मा'

अपने स्वरूप को सृष्टि के मूल में रखकर विश्व के उस विचित्र प्रपञ्च का प्रकाशन होता है। यह 'नर्तन शिव का 'स्वातन्त्र्य' है। सम्पूर्ण विश्व में मानो परम शिव का ही सौन्दर्य अभिव्यक्त होता है।[2]

आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी के अनुसार जड़, वस्तुओं में यह स्वातन्त्र्य नहीं होता। शिव ही अनन्त रूपों में स्वयं को ढालने में सक्षम है।[3] शिव के प्रकाश से ही पूरा जगत् प्रकाशित है। शिव के सामने सारे प्रकाश तुच्छ है। वह महाप्रकाश रूप है। आचार्य उत्पल के अनुसार-

सहस्त्रसूर्य किरणाधिकशुद्ध प्रकाशवान्।
अपि त्वं सर्वभुवन व्यापकोऽपि न दृश्यसे।।[4]

शिव प्रकाश रूप है

परम शिव स्वयं प्रकाश रूप है और शिव में ही समस्त जगत् समाहित है। यह शिव का ही निजी शरीर है। प्रकाश के अतिरिक्त अन्य वस्तु की सत्ता नहीं है।

---

1. (क) भगवानेव स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्याद् आभासमात्रसारतथा स्वाव्यतिरिक्तमपि व्यक्तिरिक्तत्वेनेव जगद् आभासयति'- त. 1-1
   (ख) शि. सू. उ.-3, सू.-9
2. यत्र यत्र मिलिता मरीचयस्तत्र विभुरेव जृम्भते।
   त. 1-4, व्याख्या
3. जड़वस्तुषु घटपटादिषु हि स्वातन्त्र्यं कर्तृत्वपर्यायं न भवति।
   तत एव तेषां रूपेण सर्वदाऽवस्थानं भवति। किन्तु शिवस्तु महेश्वरादनन्तरूपेणात्मानं प्रकाशितुं सर्वथा समर्थः। न चानेन तस्मिन् विकारः शंकनीयः। इदं तु तस्य स्वातन्त्र्यमेव प्रख्यापयतितमाम्। त्रिकदर्शनम्-32
4. शिव स्तो. 3-19

समग्र बाह्य व आन्तर वस्तुवर्ग भी प्रकाशरूप ही है।[1] नील, पीत, सुख, दुःख आदि जितने पदार्थ हैं, ये सभी प्रकाश स्वरूप हैं। यह सिद्धान्त ही है कि प्रकाश केवल शिव ही है। प्रकाशमय इस परमाद्वैत उल्लास में प्रकाश के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है। द्वैतवाद व अद्वैतवाद सब प्रकाशरूप परमेश्वर ही हैं–

इदं द्वैतमयं भेद इदमद्वैतमित्यपि।
प्रकाशवपुरेवायं भासते परमेश्वरः।।
अस्यां भूमौ सुखं दुःखं बन्धो मोक्षश्चितिर्जडः।
घटकुम्भवदेकार्थाः शब्दास्तेऽप्येकमेव च।।[2]

प्रकाश ही वास्तविक सत्तात्मक है। एक अखण्ड प्रकाश प्रकाशमान है, जिससे परे कुछ भी नहीं है। औपाधिक भेद से वस्तुभेद नहीं होता। देश–काल आदि सभी इसी में समाप्त है। वह परम तत्त्व एक प्रकाशरूप है, इस सिद्धान्त के सुस्थिर हो जाने पर विभिन्न ज्ञानवादी स्वतः निरस्त हो जाते हैं –

अत एक प्रकाशोऽमिति वादेऽत्र सुस्थिते।
दूरादावारिताः सत्यं विभिन्नज्ञानवादिनः।।
प्रकाशमात्रमुदितमप्रकाशनिषेधनात्।
एक शब्दस्य न त्वर्थः संख्या चिद्व्यक्तिभेदभाक्।।[3]

परम तत्त्व एक होकर भी अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से रूद्र, क्षेत्रज्ञ आदि अनेक प्रमाताओं में आत्मा बनकर रहता है–

पर परस्थं गहनाद् अनादिम्
एक विशिष्टं बहुधा गुहासु।
सर्वालयं सर्वचराचरस्थं
त्वामेव शम्भूं शरणं प्रपद्ये।।[4]

---

1. किं च यावदिदं बाह्यमान्तरोपायसंमतम्।
   तत्प्रकाशात्मतामात्रं शिवस्यैव निजं वपुः।। त. 2–15
2. त. 2–18, 19
3. त. 2 – 22, 23
4. परमार्थसार– 1

परम शिव मानो संविद् रूपी सागर है और उसमें स्वातन्त्र्य रूप लहरें है। कभी वह अत्यन्त शान्त होता है, किन्तु कभी रौद्ररूप धारण कर लेता है, पुनः शान्त हो जाता है।[1]

परम शिव में यामल अर्थात् शिव और शक्ति का संघट्टरूप अहमात्मक पूर्ण प्रत्यवमर्श होता है। स्वातन्त्र्य के ही प्रभाव से वह शिव विभाग का अवभासन करके शाश्वत क्रीडारत रहता है जिससे यह विश्वरूपता का चमत्कार भासित होता है।[2] जैसा कि शिव सूत्र में कहा गया है-

'जाग्रद् द्वितीयकरः'[3]

अर्थात् वेद्यवर्ग का आभास कराने वाली जागरूकता या दृष्टि भी शिव के प्रकाश की ही दूसरी किरण है। पहली किरण अहम् है तो दूसरी इदम् है।

शैव शास्त्रों में चैतन्य और स्वातन्त्र्य एक ही अर्थ को इंगित करते हैं।[4] ज्ञान और क्रिया का स्वतन्त्र या अनन्यमुखापेक्षी कर्त्तृत्व ही स्वातन्त्र्य कहा गया है। किसी अन्य तत्त्व की अपेक्षा न होना ही स्वातन्त्र्य है।[5] परम शिव का स्वातन्त्र्य किसी भी देश काल अथवा परिधि में सीमित नहीं है। वह प्रत्येक बात को प्रत्येक समय जानने व करने में स्वतन्त्र है, यही चैतन्य का अर्थ है और यही सारी सृष्टि का आधार है। इसी को स्पन्दमयी संवित् कहा गया है।[6] शिव स्वयं ही स्वयं में विश्व का उन्मीलन करता है।[7]

---

1. एकस्य संविन्नाथस्य ह्यान्तरी प्रतिभा तनुः।
   सौम्यं वान्यन्मितं संविदूर्मिचक्रमुपास्यते।।

   त. 1-116

2. तस्य प्रत्यवमर्शो यः परिपूर्णोऽहमात्मकः।
   स स्वात्मनि स्वतन्त्रत्वाद्विभागमवभासयेत्।।

   त. 3-235

3. शि. सू. 3-8
4. 'चैतन्यमात्मा'... चैतन्यं सर्वज्ञानक्रियामयंपरिपूर्णं स्वातन्त्र्यम्, उच्चते- शि. सू. वि. 1-1
5. स्वातन्त्र्यमेव च अनन्यमुखप्रेक्षित्वम् आत्मनः स्वरूपम्, ई. प्र. वि. 1-8-11
6. चैतन्यमिति भावान्तः शब्दः स्वातन्त्र्यमात्रकम्।
   अनाक्षिप्तविशेषं सदाह सूत्रे पुरातने।

   त. 1-28

7. (क) स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति, प्र. ह., पृ. 2
   (ख) सर्वोऽयं विश्वः शिवैक्येन स्थित इति शिवः सर्वाकृतिर्विश्वमयोवाऽभिधीयते।

परम शिव के सबसे महत्त्वपूर्ण गुण का नाम स्वातन्त्र्य है। 'स्वतन्त्र: कर्त्ता' का उल्लेख भगवान पाणिनी भी करते हैं।[1] इसमें प्रयुक्त तन्त्र शब्द का ही सन्दर्भ तन्त्रालोक से मेल खाता है। स्वतन्त्र शब्द एक रहस्य गर्भ सत्य का उद्‌घाटन करता है। यह सारा विश्व 'स्व' रूप परमेश्वर का अपना ही तन्त्र है। यह 'स्व' से अभिन्न है। 'स्व' में ही प्रतिबिम्बित है और 'स्व' से ही उत्पन्न है। यह त्रिधा विमर्श शाम्भव समावेश की परम चरम अनुभूति का प्रतीक है।[2]

परम शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति के काण ही शक्ति से पृथ्वी पर्यन्त पैंतीस तत्त्व प्रकाशित होते हैं। इन अनन्त और विविध भेदों-प्रभेदों से भरे ब्रह्माण्ड को समान रूप से व्याप्त कर प्रकाशमान, प्रकाशैकघन जो परम तत्त्व है, वही शिव है। वही निखिल विश्व को विस्तार प्रदान करता है। शिवानुगामी यह उल्लास और बहु आयामी यह उच्छलन सारा उसी का अनुयायी रूप है। इसलिए शास्त्र परम्परा में पृथ्वी पर्यन्त सभी रूप 'तत्त्व' ही हैं-

यान्युक्तानिपुराण्यमूनि विविधैर्भेदैर्यदेष्वन्वितं।
रूपं भाति परं प्रकाशनिविडंदेव: स एक: शिव:।
तत्स्वातन्त्र्यरसात्पुन: शिवपदाद्‌भेदे विभाते परं।
यद्रूपं बहुधानुगामि तदिदं तत्त्वं विभो: शासने ।।[3]

परम शिव ही अपने आपको अलग करके ज्ञेयरूप बना देता है। नहीं तो उसकी ओर उन्मुख रहने से शिव की जो स्वतन्त्रता है वह खण्डित हो जाती। अद्वैतरूप अपनी स्वतन्त्रता से युक्त होकर अपने आपको ईशादिसंकल्पों से निर्मित करके प्रभु व्यवहार कराता है-

आत्मानमत एवायं ज्ञेयीकुर्यात्पृथक्स्थिति।
ज्ञेयं न तु तदौन्नमुख्यात्खण्डयेतास्य स्वतन्त्रता ।।

निराकृतिविश्वोत्तीर्णश्च शिवोविश्वाभासनवेलायां सर्ककृतिर्भवति।
त्रि. द. - आ. रा. दि., पृ. 25

1. अष्टाध्यायी 1-4-54
2. त. भू. पृ. 8
3. त. 9 - 1, 2

स्वातन्त्र्यामुक्तमात्मानं स्वातन्त्रयादद्वयात्मनः।
प्रभुरीशादिसंकल्पैनिर्माय व्यवहारयेत्।।[1]

परमेश्वर की यह शक्ति स्वतन्त्र इसलिए कहलाती है क्योंकि यह अपने से बाह्य किसी उपादान या उपकरण पर आश्रित नहीं है। यह कुछ भी होने या करने में स्वतन्त्र और समर्थ है। यह देशकाल इत्यादि से परे है, क्योंकि इनकी अपनी सत्ता उसी के द्वारा है-

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यम् तदैश्वर्यं परमात्मनः।।[2]

परावाग्रूपता आद्य-शक्ति अभिन्नरूप से रहती है नित्य संवित् स्वरूप होने के कारण आदि और अन्त अर्थात् उत्पत्ति और विनाश से रहित है। दूसरे परतन्त्रभाव की अपेक्षा नहीं रखने वाली, स्वातन्त्र्य, ऐश्वर्य से परिपूर्ण रहती है।

चित्-शक्ति

महेश्वर की शक्ति 'चित्ति' कहलाती है। उसका स्वरूप संवित्ति है। इसे परावाक् भी कहते हैं। यह स्वयं नित्योदित है। यही स्वातन्त्र्य है। यही परमात्मा का मुख्य ऐश्वर्य है। परावाक्, विमर्श, ऐश्वर्य इत्यादि स्वातन्त्र्य के पर्यायवाची शब्द हैं-

सा स्फुरता महासत्ता देशकालविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः।।[3]

यह देदीप्यमान महासत्ता है जिसमें देश-काल का 'विच्छेद' स्पर्श नहीं होता, वह परमेश्वर की सारतत्त्व वाली चित्ति शक्ति को हृदय अर्थात् प्रतिष्ठा का स्थान कहा गया है।

यह चित्ति वह स्फुरण है जो अपने आप में विकारहीन होते हुए सब विकारों की जननी है। यह महासत्ता है क्योंकि सब कुछ होने में वह स्वतन्त्र है। यह देश और काल से परे है। यह शिव का हृदय-स्वरूप है।

---

1. ई. प्र. 1-5-15, 16
2. ई. पृ. वि. 1-5-13
3. वही

स्वातन्त्र्य या माहेश्वर्य का भाव है– बिना किसी बाह्य उपादान के, बिना किसी बाधा के अपने आप सब कुछ करने का सामर्थ्य। आचार्य अभिनव गुप्त के अनुसार–

तस्मादनपह्नवनीयः प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभावः परमशिवो भगवान् स्वातन्त्र्यादेव रूद्रादिस्थावरान्तप्रमातृरूपतया नील सुखादि प्रमेयरूपतया च अनतिरिक्तयापि अतिरिक्तया इव स्वरूपानाच्छायादिकया संविद्रूपनान्तरीयक स्वातन्त्र्यमहिम्ना प्रकाश इति अयं स्वातन्त्र्यवादः प्रोन्मीलितः।[1]

इसलिए प्रकाश विमर्शरूप संविद् रूपी परमशिव जिसका कभी भी अपलाप नहीं किया जा सकता, जो सदा उदित है, अपने स्वातन्त्र्य के माहात्म्य से ही जो कि संवित् से पृथक नहीं है। रूद्र से लेकर स्थावर तक प्रमाता के रूप में और सुख इत्यादि प्रमेय के रूप में प्रकट होता है। ये प्रमाता और प्रमेय उससे अभिन्न होते हुए भी भिन्न की भाँति भासित होते हैं किन्तु ये उसके स्वरूप को कभी ढक नहीं सकते। स्वतन्त्र चित्ति ही विश्वसिद्धि की हेतु है–

चित्तः स्वतन्त्रता विश्वसिद्धिहेतुः।।[2]

इसी के प्रसरण से ही जगत् का अस्तित्व और स्थिति होती है। यह प्रसरण जब समाप्त होता है, तब जगत् का संहार हो जाता है।

वह परम शिव ही प्रत्येक मनुष्य की आत्मा है, प्रकृति है और माया से अछूता है। वह परम शिव चिद्, आनन्द, इच्छा ज्ञान तथा क्रिया शक्तियों से सम्पन्न है। इसीलिए 'पूर्ण' कहा जाता है। वह अपने ही स्वरूप में स्थित रहकर भी अनेक रूपों को धारण करता है किन्तु इससे शिव की पूर्णता किंचित् भी कम नहीं होती। सभी भेद उस शिव में मिलकर अभेद हो जाते हैं जैसे सागर में नदियाँ मिलकर एकाकार हो जाती हैं। वही एक परमात्मा सबकी आत्मा होकर रहता है–

परं परस्थं गहनाद् अनादिम्
एकं विशिष्टं बहुधा गुहासु।
सर्वालयं सर्वचराचरस्थं
त्वामेव शम्भुं शरणं प्रपहो।।[3]

1. ई. प्र. वि. वि., पृ. 9
2. पृ. ह. 1
3. परमार्थसार – मंगला.।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड शिव की शक्ति का ही उन्मीलन है। आह्लाद में उछलती यह शक्ति स्वयं अपने को विभिन्न रूपों में प्रकट करती है। जैसे छोटे बालक रेत के घर बनाते है, फिर मिटाते हैं और पूरे समय आनन्द, उल्लास उनके हृदय में रहता है, वैसे ही शिव की आनन्द शक्ति के उच्छलन से सृष्टि की रचना और विध्वंस होता है।

शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति ही ब्राह्मी, वैष्णवी, रौद्री आदि रूपों में व्यक्त होती है–

शक्तिमन्तं विहायान्यं शक्तिः किं याति नेदृशम् ।।
छादितप्रथिताशेष–शक्तिरेकः शिवस्तथा।[1]

शिव का स्वरूप

शिव को अपनी सिद्धि के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, वह स्ववशी तथा स्वतन्त्र है। उसमें क्रम का अभाव है वह विभु अर्थात् सर्वत्र व्यापक है।[2] अर्थात् समस्त विश्व में शिव ही है।[3] जैसे तिलों में तेल है, वैसे ही शिव में विभुत्व अर्थात् व्यापकत्त्व है।[4] नित्यता शिव का धर्म नहीं है। वह काल की सीमाओं से

---

1. (क) ब्राह्मी नाम परस्यैव शक्तिस्तां यत्र पातयेत्।
स ब्रह्मा विष्णुरूद्राद्या वैष्णव्यादेरतः क्रमात्।
ब्राह्मी च वैष्णवी शक्तिरधिकारपदं गता।
यं चाधितिष्ठतयात्मानं तत्संज्ञा स प्रपद्यते ।।
तदाधिकारं कुरुते इच्छया परमात्मनः ।। स्व. त. 11-267
(ख) त. 6-178, 79
2. (क) तेन शब्दार्थ चिन्तासु न सावस्था न यः शिवः।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ।।
स्प. का. 19
(ख) दृश्यं शरीरम्, शि. सू. 1-14
3. अनपेक्षस्य वशिनो देशकालाकृतिक्रमाः ।।
नियता नेति सविभुर्नित्यो विश्वाकृतिः शिवः।
विभुत्वात्सर्वगो नित्यभावादाद्यन्तवर्जितः ।।
त. 1-1-60
4. (क) न चास्य विभुताद्योऽयं धर्मोऽन्योन्यं विभिद्यते।
त. 1-1-67

परे है।

न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यो ग्राहको न च।
न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थतः।।

जिसमें दुःख, सुख की अवस्थाएँ नहीं हैं, जो ग्राह्यग्राहकता से सर्वथा रहित है' और मूढभाव से रहित है वही तत्त्व परमार्थसत् है।[1] वही माया शक्ति द्वारा संकोच को प्राप्त होता है। वह सुख दुःख से परे है किन्तु चिदानन्दमय स्वभाव वाला है। यह आनन्द भौतिक सुख के समान क्षणिक नहीं होता बल्कि शाश्वत होता है। शिवभाव को प्राप्त साधक को संसार भी आनन्द प्रदायक हो जाता है-

त्वच्चिदानन्दजलधेश्च्युताः संवित्तिवपुषः।
इमाः कथं मे भगवन्नामृतास्वादसुन्दराः।।[2]

सर्वत्र उसी शिव तत्त्व का उल्लास है। कोई भी पदार्थ शिवात्मता की सर्वमयता से अलग नहीं होता। तन्त्रालोक में अत्यन्त मनोहारी शब्दों में इसी बात को पुष्ट किया है-

तृणात्पर्णाच्च पाषाणात्काष्ठात्कुडयात्स्थमाज्जलात्।
उद्गच्छ गच्छ में त्राणं विभोक्वनुनतेस्थितिः।।[3]

इसी भाव को आचार्य उत्पल शिव स्तोत्रावली में इस प्रकार अभिव्यंजित करते हैं-

अन्यवेद्यमणुमात्रमस्ति न
स्वप्रकाशमखिलं विजृम्भते।
यत्रनाथ भवतः पुरे स्थिति
तत्त में कुरु सदा तवार्चितुः।।[4]

(ख) 'शिवस्य स्वातन्त्र्येण जगदियं प्रकाशते आभासते वा'
त्रिकदर्शनम्, पृ. 24

1. (क) स्पन्दकारिका - 5
   (ख) चितिरेव चेतनपदादवरूढाचेत्यसंकोचिनी चित्तम्
2. शिव स्तो. 3-6
3. उद्धृत, त. 10-120
4. शि. स्तो. 13-9

जड़ जगत् में भी वह चिद्रूप समाया हुआ है। ज्ञेयविषयों में भी वह ज्ञाता बनकर छुपा हुआ है। सीमाओं में वह म बनकर व्यापक रूप से विराजमान है इसीलिए सारे पुरुषों में सर्वोत्तम है।[1]

परम शिव ही एकमात्र तत्त्व है

काश्मीर शैव दर्शन अद्वैत दर्शन है। यहाँ 'शिव' को ही एकमात्र तत्त्व माना गया है। समस्त चराचर जगत् इसी एक परम तत्त्व में समाये हुए हैं। इस पर शंका यह उठती है कि यदि एक ही शिवरूप आत्मा है तो फिर बन्धन और मोक्ष किसका होता है? इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हैं-

तत्र स्वसृष्टेदंभागे बुद्ध्यादिग्राहकात्मना।
अहंकारपरामर्शपदं नीतमनेन तत्।।[2]

वही शिवतत्त्व प्रकाशरूपी स्वात्मदर्पण में स्वातन्त्र्य से संकुचित होकर इदं भाग का सर्जन करता है, उसी सृजन के मध्य में यह बुद्धि प्राण, देहरूपी इदन्ता को जानने वाली बनती है।[3]

आचार्य परमहंस मिश्र लिखते हैं- "हमारी व्यष्टि सत्ता, विराट्, विश्वमय और अन्तर जो दीख पड़ता है, इसका कारण भी विचित्र है। आप देखते हैं - एक व्यक्ति विभूति रमाकर जटाधारण करके कुछ दूसरा ही हो जाता है। एक पुतले की बड़ी सी बनावट में खड़ा वामन विराट् लगने लगता है। वैसे ही यह परम शिव रूपी चतुर शिल्पी है। यह सर्वकर्तृत्व सम्पन्न है। सब कुछ कर सकता है। सर्वज्ञ है। सब कुछ जानता है। यह पूर्ण है। इसमें कहीं कोई कमी अभाव नहीं है। यह नित्य है। अकाल पुरुष है। कहीं है और कहीं नहीं है, ऐसी बात नहीं है अपितु कण-कण में व्याप्त है।[4]

---

1. जड़े जगति चिद्रूपः किल वेद्येऽपि वेदकः।
   विभुर्मिते च येनासि तेन सर्वोत्तमो भवान्।। वही-3-20
2. ई. प्र. वि. 4-1-2
3. सर्वविकल्पविहीनं शुद्धं शान्तं लयोदयविहीनम्।
   यत् परतत्त्वंतस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्मजगत्।।
   प. सा. - 11
4. त. सा. भू. पृ. - 15

(V) शक्ति (शक्तिजप्रमाता)

परिभाषा

शक्ति तत्त्व को ही प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में चिति कहा गया है। यह शक्ति स्वतन्त्र तथा सम्पूर्ण विश्व का कारण है।[1] यह शक्ति स्वेच्छा से ही अपनी ही भित्ति पर विश्व को व्यक्त करती है।[2] आचार्य जयदेव सिंह ने शक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी है- "शिव का अन्तर्बल जिसके द्वारा वह पंचकृत्य करता है।" अर्थात् शक्ति शिव का सामर्थ्य है, जो उसकी सभी क्रियाओं का हेतु है। यद्यपि वह शिव से भिन्न कुछ भी नहीं है।[3]

परम शिव भी शक्ति से रहित नहीं होता। उस अवस्था में (इच्छा, ज्ञान, क्रिया) शक्तियाँ समरस अवस्था में रहती है।

शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति

परम शिव एक होता हुआ भी अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति को विभक्त करने के लिए 'अहम् इदम् (सदाशिव-ईश्वर) रूपी शाखाओं को व्यक्त करता हुआ अनेक रूपों में भासित होता है।[4]

शिव की यही स्वातन्त्र्य शक्ति 'परा वाक्' कही गई है।[5] जिस प्रकार चन्द्रमा से

---

1. चित्तिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः ।।1।। प्र. हृ.
विश्वस्य सदाशिवादेः भूम्यन्तस्थ 'सिद्धौ' - निष्पत्तौ, प्रकाशने, स्थित्यात्मनि परप्रमातृविश्रात्यात्मनि च संहारे, पराशक्तिरूपा 'चित्तिः' भगवती 'स्वतन्त्रा' - अनुत्तर विमर्शमयी शिवभट्टारकाभिन्ना हेतुः' - कारणम्। वहीं
2. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ।।2।। वहीं
3. अस्मद्रूपसमाविष्टः स्वात्मनात्मनिवारणे।
शिवः करोतु निजया नमः शक्त्या ततात्मने ।।1।। शि. दृ. 1-1
4. निराशंसात्पूर्णादहमिति पुरा भासयति यद्-
द्विशाखामाशास्ते तदनु च विभङ्क्तुं निजकलाम्।
स्वरूपादुन्मेष प्रसरण निमेष स्थिति जुषस्-
तदद्वैतं वन्दे परमशिवशक्त्यात्मनिखिलम् ।।
ई. प्र. वि. मं.
5. चित्तिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक् स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यम् तदैश्वर्यं परमात्मनः ।।
ई. प्र. वि. भा. 1-5-13, पृ. 250

चाँदनी तथा वह्नि से दाह्य शक्ति अलग नहीं होती, वैसे ही शिव से शक्ति अभिन्न होती है।[1] जैसे शिव अवस्था प्राप्त प्रमाता को 'शिवोऽहम्' का अनुभव होता है वैसे शक्ति तत्त्व में स्थित प्रमाता को 'अहम् अस्मि' इस प्रकार का अनुभव होता है।

परा शक्ति

परम शिव में इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया तीनों ही शक्तियाँ सूक्ष्म अवस्था में होती हैं तथा शिव चित् रूप तथा आह्लादमय रहता है यह शक्ति की परादशा कहलाती है।[2] इच्छा, ज्ञान, क्रिया, आनन्द तथा चित्ति इन पाँचों शक्तियों का शिव की अविभाग अवस्था में भी अस्तित्व रहता है।[3] शिव को ज्ञान रूप में देखना शिव को देखना है, उसी के क्रियारूप को देखना शक्तिरूप को देखना है। विश्वात्मकता की दृष्टि से जो कुछ इस संसार में है, वह शिव ही है जैसे मिट्टी के घड़े, मकान, पेड़ आदि सब शिव का ही रूप हैं। यह विश्वमयता ही शक्ति रूपता है।

परम शिव की बहिर्मुखता ही उसकी शक्ति है

परम शिव ही प्रकाशमय होकर जब अन्तर्मुखी होता है, तब शिव तथा विमर्शमय होकर बहिर्मुखी होता है, तब शक्ति कहलाता है।[4] निस्तरंग सागर में

---

1. शक्तिश्चशक्तिमद्रूपाद् व्यक्तिरेकं न वांछति।
   तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिक्रयोरिव।।
   बोधपंचदशिका-3
2. (क) तस्य स्वाभिन्ना स्वतन्त्रेच्छा शक्तिरेव उद्भविष्यतो विश्वस्य स्वान्तर्विलीनत्वात् बीजभूतां शक्तितत्वतां याति षट्त्रिशंत् तत्त्व सन्दोह, पृ. 6
   (ख) चिद्रूपाह्लादपरमो निर्विभागः परस्तदा।।4।। शि. दृ. 1-6
3. (क) शक्त्या निवृत्तचित्त्वस्थ तदभागविभागयोः।
   यदा तु तस्य चिद्धर्मविभवामोदजृम्भया।।7।। वही-7
   (ख) शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्त्तुमीदृशान्।
   शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु व वर्ण्यते।। शि. दृ. 3-3
4. (क) तस्य बहिरौन्मुख्येन व्यापारः शक्तितत्त्वम्। तंत्रालोक-6, पृ. 50, 51
   (ख) यदा स्वहृदयवर्तिनमुक्तरूपसमर्थ तत्त्वं बहिः कर्तुमुन्मुखो भवति, तदा शक्तिरिति व्यवह्रियते। महार्थमञ्जरी टीका, पृ. 40
   (ग) स्वातन्त्र्यानुक्तमात्मानं स्वातन्त्र्यादद्वयात्यनः।
   प्रभुरीशादिसंकल्पैनिर्माय व्यवहारयेत्।। ई. प्र. वि. 1-5-16

लहर उठने के समय के प्रथम कम्प के समान शिव का औन्मुख्य होता है, उन्मुखता के कारण ही शिव इच्छा शक्ति युक्त हो जाते हैं। इसी इच्छा शक्ति के प्रभाव से यह संसार शिव में ही भिन्न सा भासता है। इच्छा शक्ति के पश्चात् कार्य का ज्ञान होता है तथा स्थूल रूपों में शिव का आभासन क्रिया शक्ति द्वारा होता है। संसार की इस रचना के समय भी सभी शक्तियाँ (इच्छा, ज्ञान, क्रिया तथा चित्, आनन्द) निवृत्त नहीं होती, सभी शक्तियाँ शिव के प्रत्येक रूप में रहती हैं।[1]

प्रकाश की प्रकाशरूपता ही चित् शक्ति है। यह पराशक्ति है। यह परम स्वतन्त्र व विश्व सिद्धि की हेतु है। प्रसाद ने कामायनी में इसे ही 'महचिति' कहा है–

कर रही लीलामय आनन्द, महाचिति सजग हुई सी व्यक्त।
विश्व का उन्मूलन अभिराम, इसी में सब होते अनुरक्त ।।[2]

शिव ही शक्तिमान है

काश्मीर शैव दर्शन अद्वैत शिव को मानता है। शिव और शक्ति दो तत्त्व नहीं है बल्कि शिव में ही शक्ति है और शिव शक्तिमान कहा गया है। ऐसा नहीं है कि शिव धर्मी है और शक्ति उसका धर्म हो।[3] धर्म और धर्मी की तरह शक्ति और शक्तिमान् में कोई भेद इस मत में स्वीकार्य नहीं। शक्तिमान् संवित् स्वभाववान होता है। संवित् स्वभाव ही स्वातन्त्र्य है। स्वातन्त्र्य ही अनन्त शक्तियों में पर्यवसित होता है। शिव का अनन्त शक्तित्व उनकी शक्तियों का केवल तादात्म्य है।[4] शिव की

(घ) अतएव शिवावेशे द्वितुटि: परिगीयते।
एका तु सा तुटिस्तत्र पूर्णा शुद्धैव केवलम् ।।
द्वितीया शक्तिरूपैव सर्वज्ञानक्रियात्मिका। त. 10-205, 206

1. प्रवृत्तस्य........ तत: सर्वं जगत् स्थितम् ।।13-21 ।।
तथा
एवम् सर्वसमुत्पत्तिकाले शक्तित्रयात्मकता।
न निवृत्ता, न चौन्मुख्यं निवृत्तम्, नापि निवृत्ति: ।। 22 शि. दृ. -1
2. कामायनी - श्रद्धासर्ग
3. 'पारमेश्वरशास्त्रे हि न च काणादादृष्टिवत्।
शक्तिनां धर्मरूपाणामाश्रय: कोऽपि कथ्यते ।।'
त. 1-158
4. त. 9-74 (विवेक व्याख्या), पृ. 389

अपनी शक्तियाँ ही जब प्रतिबिम्बवत् अभिन्न होकर भी भिन्नवत् भासती हैं तो प्रमेय व तत्त्व प्राकट्य होता है। उसे इसके लिए किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं होती बल्कि उसकी अपनी शक्तियाँ ही अलग सी भासती है।[1]

शक्ति

शिव की पाँच शक्तियों को उनका मुख भी कहा गया है[2]- चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया ये शिव की पाँच शक्तियाँ हैं। शिव से शक्ति किसी प्रकार अलग नहीं है, तो बादल और बिजली के समान अभिन्न है।[3]

स्वातन्त्र्य शक्ति ही एकमात्र शक्ति है

फलभेदादारोपितभेदः पदार्थात्मा शक्तिः[4]

सर्वव्यापक शिव में वस्तुत; कोई भेद नहीं है। जैसे आग के दाहक धर्म और पाचक धर्म में भेद नहीं हैं।[5] इसी प्रकार परमेश्वर की अनन्त शक्तियों की परिकल्पना की गई है किन्तु परमार्थतः उनमें कोई भेद नहीं है।[6]

वास्तव में तो परमेश्वर की स्वातन्त्र्य नामक एक ही शक्ति है, शेष सब कुछ इसी का उच्छलन है, जैसे सागर में लहरों का उठना।[7]

---

1. चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद्बहिः।
   योगीव निरूपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्॥
   ई. प्र. वि. 1-5-7
2. पञ्चमुखगुप्तरूचिर्जनकः।
   त. 1-1-1
3. नैमि देवीं शरीरस्थां नृत्यतो भैरवाकृतेः।
   प्रावृण्मेघघनव्योमविद्युल्लेखाविलासिनीम्॥ त. 1-1-3
4. त. 1-1-69
5. मातृक्लृप्ते हि देवस्य तत्र तत्र वपुष्यलम्।
   को भेदो वस्तुतो वह्नेर्दग्धपक्तृत्वयोरिव॥
   त. 1-1-70
6. न चासौ परमार्थेन न किंचिद्भासनादृते।
   नह्यस्ति किंचित्तच्छक्तितद्वद्भेदोऽपि वास्तवः॥ त. 1-1-71
7. त.-1-71

शक्ति उपाय है और शिव उपेय है, अर्थात् शिव परम लक्ष्य है, शक्ति उस लक्ष्य तक साधक को पहुँचाने वाला माध्यम है। माया शक्ति हेय है तथा शिव उपादेय है।[1]

समस्त संसार की उत्पत्ति के समय भी शिव की तीनों शक्तियाँ निवृत्त नहीं होती और अनवच्छिन्न आनन्दरूप निवृत्ति की भी निवृत्ति नहीं होती अर्थात् सारी शक्तियाँ सदैव विद्यमान रहती हैं। समस्त पदार्थों की उत्पत्ति के समय तीनों पदार्थों की समरसता बनी रहती है। तथा औन्मुख्य और निवृत्ति भी अवश्य रहते हैं। जब घटादि का ज्ञान होता है उस समय जानने की क्रिया भी होती है, ज्ञान भी उसी समय रहता है और इच्छा भी रहती है क्योंकि इच्छारहित व्यक्ति को ज्ञान नहीं हो सकता। यदि औन्मुख्य न हो तो भी प्रमाता को ज्ञान नहीं होगा-

एवम सर्वसमुत्पत्तिकाले शक्तित्रयात्मता।
यदेकतरनिर्याणे कार्यं जातु न जायते॥
तस्मात् सर्वपदार्थानां सामरस्यमवस्थितम्॥
घटादिग्रहकालेऽपि घटं जानाति सा क्रिया।
जानाति ज्ञानमत्रैव निरिच्छोर्वेदनक्षतिः॥[2]

शक्ति और शक्तिमान शिव में भेद नहीं है

वैयाकरण ऐसा मानते हैं कि शक्ति ही परम तत्त्व है। वह स्वयं अपने अधीन है। किन्तु शैव दार्शनिक इनसे सहमत नहीं है। आचार्य सोमानन्द के अनुसार-

अथ शक्तेः परावस्था यैर्भक्त्या परिगीयते।
युक्त्या प्रकाशितो देवस्ततः शक्तिदशा यतः॥[3]

अर्थात् जो लोग भक्ति के कारण शक्ति की परावस्था का गान करते हैं वे लोग प्रकारान्तर से शक्तिमान् देव शिव का ही प्रकाशन करते हैं। क्योंकि वे ही लोग उस शक्तिमान् देव में किञ्चित् उच्छूनता इत्यादि शक्ति की दशा का वर्णन करते हैं। यदि स्त्रीलिंग से भी परमशिव का ही व्यवहार मानते हैं तो वह भी शिवात्मक ही है

---

1. त. 1-1-75 (व्याख्या)
2. शि. दृ. 1 - 22, 23, 24
3. शि. दृ. 3-1

क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् में अभेद होने के कारण पुल्लिंग है तो भी दोनों हैं और स्त्रीलिंग है तो भी दोनों ही हैं। शिव कभी शक्ति से रहित नहीं होते और शक्ति कभी शिव से रहित नहीं होती–

तथा तद्व्यपदेशश्चेद् व्यपदेशः शिवात्मकः।
न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।।[1]

शिव शक्त अर्थात् शक्तिमान् होने के कारण ही सृष्टि सम्बन्धी पदार्थों को अपनी इच्छा से प्रकट करना चाहते हैं–

शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीदृशान्।
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते।।[2]

यदि वह शक्ति स्वतन्त्र होकर कार्य करती है तो कभी भी शिव नहीं हो सकती अर्थात् उससे भिन्न ही होगी। इससे द्वैतापत्ति हो जायेगी अर्थात् यह शैव दर्शन के सिद्धान्त के विपरीत होगा। यदि वह शिव अपनी शक्ति अर्थात् स्वातन्त्र्य को छोड़ देगा तो वह स्वातन्त्र्य ही ज्ञान का विषय हो जायेगा, शिव ज्ञान का विषय नहीं रह जायेंगे। जैसे शीतलता हिम से और ऊष्णता अग्नि से पृथक् नहीं होती। इसी प्रकार शक्ति का भी शिव से पृथक् होना सम्भव नहीं है–

शक्तेः स्वतन्त्रकार्यत्वाच्छिवत्वं न क्वचिद् भवेति।
मुञ्चतोऽपि निजां शक्तिं स्वातन्त्र्ये ज्ञानमापतेत।।
न हिमस्य पृथक् शैत्यं नाग्नेरौष्ण्यं पृथक्भवेत्।
मन्त्रस्तम्भनतायां हि नासौ वह्निस्तदोच्यते।।[3]

सर्वज्ञ परमेश्वर की निर्माण शक्ति के ही कारण सारे भेद अवभासित होते हैं–

किं तु निर्माणशक्तिः साप्येवं विदुष ईशितुः।
तथा विज्ञात् विज्ञेयभेदो यदवभास्यते।।[4]

स्वरूप का भेद हो जाने से देशक्रम हो जाता है और क्रिया का भेद हो जाने से

---

1. वही, 3-2
2. शि. दृ, 3
3. शि. दृ. 3-6, 7
4. ई. प्र. का. 2-1-8

कालक्रम के सम्पादक से युक्त विज्ञाता, शून्यादि प्रमाता के भेद और ज्ञेय से भी परस्पर भेद हो जाता है। इस प्रकार घटादि 'ज्ञेय' का परस्पर भेद ज्ञाता से और वह भगवान् के द्वारा ही भासित होता है। वह अवभासन ही ईश्वर की निर्माणशक्ति क्रिया शक्ति बन जाती है।[1]

परमशिव की शक्ति उसकी विभुता है। यह धर्म धर्मी से पृथक् नहीं है। अत: एक दूसरे से अलग नहीं है। यह कोई अतिशयत्व उत्पन्न करने वाला अलग गुण नहीं है बल्कि यह तो उसका स्वरूप ही है। विभु का अर्थ सर्वव्यापक होता है। व्याप्य–व्यापक भाव तिल और तैल में है। तिल व्याप्य है तेल व्यापक है। यहाँ तेल के अतिरिक्त तिल व्याप्य है। दिक् को व्याप्य नहीं माना जा सकता क्योंकि परम प्रकाश की अपेक्षा दिक् का कोई अस्तित्व नहीं। प्रकाश सर्वत्र है–

न चास्य विभुताद्योऽयं धर्मोऽन्योन्यं विभिद्यते।
एक एवास्य धर्मोऽसौ सर्वाक्षेपेण वर्तते।।
तेन स्वातन्त्र्यशक्त्यैव युक्त इत्याञ्जसो विधिः।
बहुशक्तित्वमप्यस्य तच्छक्त्यैवावियुक्तता।।[2]

पदार्थ का प्रमाता द्वारा कल्पित उसका अपना रूप ही शक्ति है। इसलिए शक्ति और शक्तिमान् की परिकल्पना के बावजूद शक्तिमान् की अद्वय स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। भाव में अर्थात् किसी पदार्थ में फल भेद से आरोपित भेद सदृश उसका अपना रूप ही शक्ति है। यह परिकल्पना है जो प्रमाताओं के द्वारा की जाती है, कोई पृथक् पदार्थान्तर नहीं है। इसलिए शक्ति और शक्तिमान की परिकल्पना के बाद भी यहाँ कोई फर्क नहीं पड़ता–

शक्तिश्च नाम भावस्य स्वं रूपं मातृकल्पितम्।
तेनाद्वयः स एवापि शक्तिमत्परिकल्पने।।[3]

शिव की पाँच शक्तियों में शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, सद्विद्या रूप

---

1. ई. प्र. का. 2-1-8
2. त. 1 - 67, 68
3. (क) त. 1 - 6, 68
   (ख) मातृक्लृप्ते हि देवस्थ तत्र तत्र वपुष्यलम्।
   को भेदो वस्तुतो वह्नेर्दग्धृपक्तृत्वयोरिव।। त् 1-7

तत्त्वदशा प्रकाशित होती है। शिव की चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्तियाँ ही अनन्त शक्ति समुदाय की कारण है–

शिव–शक्ति–सदाशिवतोमीश्वर–विद्यामयीं च तत्त्वदशाम्।
शक्तिनां पञ्चानां विभक्तभावेन भासयति ।।[1]

शक्ति शब्द और शिव अर्थ हैं

भगवान शिव की शक्ति समस्त शब्दों का और शिव समस्त अर्थों का स्वरूप धारण करते हैं–

शब्दजातमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा।
अर्थस्वरूपमखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः ।।[2]

परा शक्ति परमशिव से अभिन्न है। किन्तु अनुग्रह व्यापार में प्रवृत्त होकर जब यह पश्यन्ती भूमिका में प्रवेश करती है तो वह लोक कल्याण के लिए स्वयं प्रश्नकर्ता के रूप में उपस्थित होती है। उसको अपनी परा भूमि का सदा अपने आप भान होता रहता है, किन्तु वह आन्तर या बाह्य इन्द्रियों का विषय नहीं है, वह परा भूमि पश्यन्ती आदि से पहले विद्यमान है। शैव और शाक्त अद्वैतवादी दार्शनिक प्रकाश शब्द को शिव का तथा विमर्श पद को शक्ति का वाचक मानते हैं।

शब्द और अर्थ की तरह, पार्वती और परमेश्वर की तरह, प्रकाश और विमर्श की भी स्थिति यामल भाव में ही रहती है। ये सदा साथ रहते हैं। वस्तुतः शब्द, अर्थ, प्रकाश–विमर्श शब्द पर्यायवाची हैं। अर्ध नारीश्वर शिव जैसे सतत यामलभाव में रहते हैं, वैसे ही प्रारम्भ में प्रकाश और विमर्श की भी स्थिति सामरस्य अवस्था में ही रहती है। इसे ही समावेश दशा कहते हैं। समावेश दशा में जीव में परिमित प्रमाता का भाव गौण हो जाता है और वह अपने को स्वतन्त्र, बोधस्वरूप समझने लगता है। किन्तु शिव और शक्ति का यह समावेश (सामरस्य) प्रंपच के उन्मेष के लिए होता है।

जीव जिस तरह शिवभाव में समाविष्ट होता है, उसी तरह से शिव और शक्ति का यामल भाव भी प्रपञ्च के रूप में समाविष्ट हो जाता है। प्रपञ्च के रूप में

---

1. प. सा. 14
2. उद्धृत वि. भै. भू. पृ. 4

दिखाई देने लगता है-

गुरु शिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
प्रश्नोत्तर परैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत्।।[1]

परम शिव की पराशक्ति के स्वरूप को वाणी के माध्यम से समझना बहुत कठिन है। इसका अनुभव तो पूर्णाहन्ता का विकास होने पर अपने भीतर अपने आप प्रकाशित हो रहे आनन्द के रूप में होता है। इसका यह स्वरूप सभी तरह की कल्पनाओं से, नाम, रूप, क्षणिकता आदि उपाधियों से रहित होने के कारण निर्विकल्प एवं वास्तविक है पूर्णस्वरूप बोध-भैरव की यह अवस्था सारे विश्व में अहमाकार में सर्वत्र व्याप्त है। वस्तुतः यही विमल अर्थात् स्वात्मभित्ति में आभासित हो रहे जगत् के दोषों से अनाच्छादित रह कर विश्व का पूरक, अर्थात् सारे जगत् का प्रकाशक, निष्फल स्वरूप उस परावस्था में प्रकट होता है। इससे भिन्न इसकी कोई आकृति नहीं मानी जाती-

दिक्कालकलनोन्मुक्त देशोद्देशाविशेषिणी।
त्यपदेष्टुमशक्याऽसावकथ्या परमार्थतः।।
अन्तः स्वानुभवानन्दा विकल्पोन्मुक्तगोचरा।
याऽवस्था भरिताकारा भैरवी भैरवात्मनः।।[2]

पराशक्ति वस्तुतः शिव से अभिन्न है। कभी-कभी इनके स्वरूप का विश्लेषण करते समय इनमे परस्पर भेद का निरूपण भी किया जाता है किन्तु यह वास्तविकता नहीं है। अतः अभिन्न स्वरूप वाली यह परा देवी केवल नाम से ही परा नहीं है, किन्तु अपनी प्रकृष्टता के आधार पर भी परा कहलाती है -

एवंविद्या भैरवस्य याऽवस्था परिगीयते।
सा परा पररूपेण परा देवी प्रक्रीर्तिता।।[3]

शक्ति शिव का मुख है

यही शक्ति साधक को शिव स्वरूप का ज्ञान भी करा देती है। जीव जब परा

---

1. वि. भै. भू., पृ. 5
2. वि. भै. 14, 15
3. वि. भै. 17

शक्ति रूप अवस्था में प्रवेश पाता है, उसके साथ एकाकार हो जाता है, तब उसमे निर्विभाग भावना उत्पन्न होती है, अर्थात् शक्ति और शिव में उसकी विभाग-दृष्टि, भेद-दृष्टि लुप्त हो जाती है। उस समय शाक्त बल की उपलब्धि के कारण साधक शिवस्वरूप हो जाता है क्योंकि आगमों का कहना है कि शिव की यह शैवी शक्ति शिव के उस परम सुन्दर स्वरूप में प्रवेश पाने का द्वार है। जैसे मुँह देखने से किसी व्यक्ति की पहचान होती है, उसी तरह शक्ति को देखकर अर्थात् परा शक्ति को जानकर उसके माध्यम से शिव को पहचाना जाता है। इसलिए यह शैवी शक्ति शिव का मुख कहलाती है। इस शक्ति के बिना शिव में नाम, धाम आदि की कल्पना नहीं की जा सकती-

शक्त्यवस्था प्रविष्टस्य निर्विभागेन भावना।
तदासौ शिवरूपी स्यात् शैवी मुखमिहोच्यते।।[1]

परमेश्वर की स्वातन्त्र्य नामक शक्ति एक ही है। यही अन्य रूपों में भेदात्मकता के साथ भासित होती है। अभेदसत्ता में इस भेदात्मकता से कोई विकार हीं आ सकता। वही शक्ति इच्छा रूप में उच्छलन करती है। क्रिया रूप में स्वयं सक्रिय रहती है। ज्ञानरूप में विज्ञान का उपहार देती है। यही शिव की स्वेच्छा शक्ति है। यही शिव की स्वतन्त्रता है-

स्वशक्त्युद्रेकजनकं तादात्म्याद्वस्तुनो हि यत्।
शक्तिस्तदपि देव्येवं भान्त्यप्यन्यस्वरूपिणी।।[2]

इसी स्वातन्त्र्य शक्ति द्वारा सर्वसमर्थ परमेश्वर विविध रूपों में स्वयं को ढालकर व्यवहार सम्पन्न करता है-

स्वातन्त्र्याददृयात्मानं स्वातन्त्र्याद्भावनादिषु।
प्रभुरीशादिसंकल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत्।।[3]

शक्ति उपाय है और शिव उपेय है

शिव और शक्ति के सृष्ट भेद के कारण जिस मुख से अनंश होते हुए भी वह

---

1. वि. भै. - 20
2. त. 1 - 72
3. ई. प्र. 1-5-16

अंशरूप में भासित होता है वह मुख शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान् में उपायोपेय भाव रूप क्रम है-

तस्माद्येन मुखेनैष भात्यनंशोऽपि तत्तथा।
शक्तिरित्येष वस्त्वेव शक्तितद्वत्क्रमः स्फुटः।।[1]
एवं स्वातन्त्र्यपूर्णत्वादतिदुर्घटकार्ययम्।
केन नाम न रूपेण भारते परमेश्वरः।।[2]

उस परमेश्वर की ही 'परा' आदि तीन शक्तियाँ सृष्टि, स्थिति, संहार और चौथी अनाख्य दशा में शाश्वत उल्लसित हैं। ये बारह प्रकार से उदित होती हैं। इन तीनों के उल्लास के चार क्षेत्र हैं सृष्टि, स्थिति, संहार और तुर्य। इससे एक-एक के चार रूप हो जाते हैं। सृष्टि काली आदि बारह रूपों में इनका उदय होता है।[3] इन बारह शक्तियों का परिवेश उसी का परिवेश है। ये शक्तियाँ उस पूर्ण परमेश्वर की परिमाण हैं किन्तु परम शिव को संख्याओं में नहीं बांधा जा सकता। शिव ही कभी सौम्य और कभी रौद्र आकार ग्रहण कर लेने के कारण सीमित परिवेश धारण कर लेते हैं। यही संविद् का उर्मिचक्र कहलाता है-

एकस्य संविन्नाथस्य ह्यान्तरी प्रतिभा तनुः।
सौम्यं वान्यन्मितं संविदूर्मिचक्रमुपास्यते।।[4]

शक्ति में ही परमेश्वर महाप्रकाश रूप से, निष्कम्प और शाश्वत स्थिर अनुभूत होते हैं। वह शक्ति भी उस परमेश्वरकी लोकोत्तर प्रतिष्ठा की आश्रय है, सूक्ष्म है, अपने पारमार्थिक स्वरूप में स्फुरित है, अमृतमयी व्यापिनी शक्ति है। वह समस्त आवरणों से रहित है, आदि, अन्त, रहित परमेश्वर की मूर्ति रूप से व्यवहार की जाती है। धर्मी परमेश्वर में शक्ति ही उपाय है। वही स्फुटता भी है। स्फुटता ही तन्मयता मे बदल जाती है। अतः व्यापकत्व और अव्यापकत्व को ध्यान में रखकर पूर्ण स्वभाववाली शक्तियों का उपासना में आक्षेप किया जाता है-

---

1. त. 1-74
2. त. 1-92
3. तस्य शक्तय एवैतास्तिस्त्रो भान्ति परादिकाः।
   सृष्टौ स्थितौ लये तुर्ये तेनैता द्वादशोदिताः।। त. 1-107
4. त. 1-116

तेन पूर्णस्वभावत्वं प्रकाशत्वं चिदात्मता।
भैरवत्वं विश्वशक्तिराक्षिपेद्व्यापकत्वतः ।।[1]

परम शिव की अवस्था 'अकुल' कहलाती है तथा विश्व जहाँ से उदित होता है और जहाँ अस्त होता है, वही शिव शक्तिरूप भेद का असहिष्णु देव ही 'कुल' कहलाता है। अकुलरूप शिव का जगत् रूप में प्रसार शक्ति द्वारा होता है जो कौलिकी भी कही जाती है। परा सूक्ष्मा कुण्डलिनी शक्ति शिव के साथ सामरस्य रूप मथ्यमन्थक भाव से संघटित होकर उल्लसित होती है। इस उल्लास में तीन शक्तियाँ होती हैं, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। यामल भाव अकुल और कौलिकी शक्ति रूप शिवशक्ति का होता है-

तयोर्यद्यामलं रूपं स संघट्ट इति स्मृतः।
आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतो विश्वं विसृज्यते ।।[2]
परापरात्परं तत्त्वं सैषा देवी निगद्यते।
तत्सारं तत्त्व हृदयं स विसर्गः परः प्रभुः ।।[3]

शक्तित्रय

इच्छा ज्ञान और क्रिया शक्ति का एकत्र रूप त्रिशूलात्मक है। यह निरञ्जन कहा गया है दीपक के प्रकाश से या सूर्य की किरणों से जैसे दिशाओं की स्थिति का ज्ञान होता है, वैसे ही शक्तियों द्वारा शिव का ज्ञान होता है। शक्ति स्वयम् ही अभिव्यक्त होती है-

लोली भूतमतः शक्तित्रितयं तत्त्रिशूलकम्।
यस्मिन्नाशु समावेशाद्भवेद्योगी निरञ्जनः ।।[4]

---

1. त. 1- 208
2. त. 1- 67, 69
3. त. 3 - 108
4. अस्मिंश्चतुर्दशे धाम्नि स्फूटीभूतत्तिशक्तिके।
त्रिशूलत्वमतः प्राह शास्ता श्रीपूर्वशासने।
निरञ्जनमिदं चोक्तं गुरुभिस्तत्वदर्शिभिः ।। त. 3-104, 105

मानव शरीर में शक्ति का स्वरूप – कुण्डलिनी शक्ति

प्रत्येक पुरुष और नारी में एक दिव्यात्म शक्ति है जिसके बारे में कहा गया है–

मूलाधारस्थ वह्नयात्मतेजो मध्ये व्यवस्थिता।
जीवशक्तिः कुण्डलाख्या प्राणाकाराथ तेजसी।
महाकुण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्मस्वरूपिणी।
शब्दब्रह्ममयी देवी एकानेकाक्षराकृतिः।
शक्ति कुण्डलिनी नाम बिसतन्तु निभा शुभा।।

अर्थात् यह शक्ति परब्रह्म स्वरूपिणी महादेवी है। इसे लोक कुण्डलिनी के नाम से पुकारता है। यह मूलाधार कमल के गर्भ में मृणाल–नालिका के समान निहित है। वह कुण्डल आकार में रहती है। स्वर्ण कान्ति युक्त, तेजोमय है। वह परशिव की परम निर्भय शक्ति है। वही नर या नारी में जीवरूपिणी शक्ति है। वह प्राणरूप है। इससे अकार से लेकर श्रकार तक सभी वर्णों का उदय होता है। कुण्डलिनी प्रणव स्वरूपा है। उस कुण्डलिनी शक्ति के जग जाने पर संसार के प्रति साधक की दृष्टि बदल जाती है। जो आह्लादिनी, पारमेश्वरी शक्ति है, जो चित्ति भगवती है वही कुल–कुण्डलिनी है। वह कुण्डलाकार में मूलाधार में स्थित होकर हमारे सर्वांग के व्यवहारों को नियबद्ध करती है।[1]

(VI) सदाशिव (मन्त्रमहेश्वर)

परिभाषा

आन्तर दशा का उद्रेक सदाशिव कहलाता है। यह शिव की भीतरी ज्ञान दशा है। सदाशिव तत्त्व की भावदशा को ही सादाख्य तत्त्व कहा गया है। 'सद्' शब्द का अर्थ है होना तथा होने में 'अहम्–इदम्' अर्थात् मैं यह हूँ' ऐसा निश्चित अनुभव हृदय में होता है।[2] सदाशिव अवस्था निमेष दशा कहलाती है।[3]

---

1. नीलेश्वरी, मार्च, 1993
2. किन्त्वान्तरदशोद्रेकात्सादाख्यम् तत्त्वमादितः।

   ई. प्र. वि. 3–1–2
3. ईश्वरो बहिरून्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः।

   ई. प्र. वि. 3–1–3

चित्रकार के हृदय में जैसे चित्र बनाने से पहले धुंधली कल्पना होती है, वैसे ही सदाशिव दशा में विश्व अस्फुट रूप में रहता है। शिव अपनी ही इच्छा से ज्ञान शक्ति के कारण सदाशिव हो जाता है।[1]

सदाशिव अवस्था

सदाशिव अवस्था को ही पश्यन्ती अथवा परावाक् अवस्था कहा गया है। अनादि अक्षय परमब्रह्म अक्षर शब्द रूप है वही पश्यन्ती अवस्था है, ऐसा वैयाकरण मानते हैं।[2] सदाशिव तत्त्व को 'निमेष' अवस्था कहने का तात्पर्य है कि सदाशिव अवस्था में विश्व परामर्शों की 'अहं' में प्रलीनता हो जाती है, अतः यह प्रलय का भी द्योतक है।[3]

'इत्यत्र तु निमेषशब्देन अन्तारूपमस्फुटमुत्थापयत् सदाशिव तत्त्वम्''

ई. प्र. वि. वि. 265

1. बिभर्ति रूपमिच्छातः कदाचिज्ज्ञानशक्तितः।
सदाशिवत्वमुद्रेकात् कदाचिदैश्वरीं स्थितिम्।

शि. दृ. 1-30

2. (क) येयमपरा, परापरा, पराभट्टारिका पारमेश्वरी भैरवीया सत्ता, सा सदाशिव तत्त्व अनाचितशिवतत्त्वस्थापि उपरिवृत्तिः - तदन्तस्यापि आसनपक्षकृतत्वात्। तथाहि - ईश्वरं च महाप्रेतं प्रहसन्त चेतनम्। अचेतनम् (यहाँ ईश्वर सदाशिव को कहा है) इत्यनेन सदाशिवान्तमासनं नादान्तपक्षनिविष्टम् श्री पूर्वशास्त्रोपसंहृतम्। (प. त्रि. पु. 200)
(ख) अथास्माकं ज्ञानशक्तिर्या सदाशिवरूपता।
वैयाकरणसाधूनां, पश्यन्ती सा परा स्थितिः ।।1 ।।
इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादि तथाऽक्षयम्।
तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्ती परा हि वाक्।। 2 ।।

शि. मृ. 2/12

3. ''निमेषणं त्वस्फुटत्वापादानमहन्तरूपतोद्रेचनम्, इति निमेषः सदाशिवतत्त्वम्। यतो जगतः प्रलयः इति। ई. प्र. वि. भा. 3-1-3
तथा
ततश्च शुद्धचैतन्यवर्गो..... तत् सदाशिवत्वम्।

ई. प्र. वि. 3-1-5

(VII) ईश्वर (मन्त्रेश्वर)

परिभाषा

जब शिव में बाह्य जगत् प्रतिबिम्ब रूप से स्पष्ट भासता है, तब वह ईश्वर तत्त्व कहलाता है।[1] विश्व का स्फुटरूप से व्यक्त होना ही उन्मेष कहा जाता है।[2] इस अवस्था में 'इदम् अहम्' इस प्रकार का परामर्श होता है। ईश्वर अवस्था में 'इदम्-अंश' की प्रधानता होती है तथा 'अहम्' अंश विधेय के रूप में प्रकाशित होता है। सदाशिव अवस्था में विश्व अंकुरायमान अवस्था में था और 'अहन्ता' के परामर्श के प्राधान्य के कारण अस्फुट प्रतीति का विषय था किन्तु ईश्वर अवस्था में वह अंकुरित होकर स्फुटता को प्राप्त हो जाता है। इस अवस्था में 'अहम्' का परामर्श अस्फुट हो जाता है।[3] बहिर्भाव का तात्पर्य यहाँ परमेश्वर से बाहर नहीं है क्योंकि शिव से बाहर कुछ नहीं है। आन्तर उन्मेष या बहिरून्मेष शब्दों का प्रयोग व्यवहार के लिए ही है।[4] इसी विषय में आचार्य बल्जिन्नाथ पण्डित ने इस प्रकार वर्णन किया है-

''इदन्ता'' का अंश स्फुटरूप में चमकने लगता है उस अवस्था को ईश्वर तत्त्व कहा जाता है। इस तत्त्व में संवित् का प्रकाश 'इदम् अहम्' अर्थात् 'यह मैं हूँ' इस प्रकार के रूप को धारण करता है।.... सदाशिवतत्त्व में प्रमेयता अर्थात् ज्ञेयता का कुछ उस प्रकार का फीका सा आभास होता है, जिस प्रकार का किसी संकल्प में या मनोरज्य में हुआ करता है। परन्तु ईश्वर तत्त्व में प्रमेयता का आभास कुछ उस प्रकार का सा होता है, जिस प्रकार का बाह्य इन्द्रियों द्वारा होने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान में हुआ करता है।

---

1. बहिर्भावपरत्वे तु परतः पारमेश्वरम्॥2॥

   ई. प्र. वि. 3-1-2

2. ईश्वरो बहिरून्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः।

   ई. प्र. वि. 3-1-3

3. मन्त्रेश्वरादिरूपस्य तु चैतन्यराशेः स्फुटी भूतमस्मद् बहिष्करणसरणिसम्प्राप्त भाववर्गप्रतिंम विश्वं प्रतिबिम्बकल्पतया भाति। तस्य तु तत् तथा प्रथनमीश्वरतत्त्वम्।

   ई. प्र. वि. 3-1-2

4. का. शैव दर्शन व कामायनी, पृ. 75

सदाशिवता में प्रमेयता का धीमा आभास मात्र ही होता है, परन्तु ईश्वर दशा में उसका अन्त: निर्माण भी हो जाता है। इसीलिए सदाशिव दशा में ज्ञान शक्ति की ओर ईश्वर दशा में क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति मानी गई है। ये दोनों शक्तियाँ इच्छा शक्ति रूपी अंकुर के मानो दो दल हैं, उस अंकुर का बीज मानो शिव तत्त्व है व बीज का स्पन्दन मानो शक्ति तत्त्व है।[1]

(VIII) सद्विद्या (मन्त्र विद्येश्वर प्रमाता)

परिभाषा

'अहम्' और 'इदम्' इन दोनों की 'सद्विद्या' में समान रूप से स्थिति होती है।[2] 'अहम्' और 'इदम्' इन दोनों तत्त्वों का परामर्श अर्थात् प्रत्यमर्श शुद्धविद्या में एक समान रूप से होता है। यथा 'समधृततुलापुटन्यायेन' जैसे तराजू के दोनों पलड़े बराबर रहते हैं। इसमें क्रिया शक्ति की प्रधानता रहती है। 'अहम्' और 'इदम्' समान होकर भी यह विमर्श भेदाभेदरूप में होता है।[3] चाहे 'अहमदिम्' परामर्श हो अथवा 'इदमूहम्' दोनों परिस्थितियों में तथा 'अहम् च इदम् च' में भी 'अहम्' अर्थात् शिव तत्त्व है। हो। यही अभेद है तथा 'अहम्' है किन्तु 'इदम्' के रूप में भासता है, यही भेद है। इसी भेद के कारण शुद्ध विद्या को माया के जैसी कहा गया है।[4]

अभेदपरामर्श सद्विद्या परापरा दशा

भेद का यहाँ से आरम्भ होता है ऐश्वर्य स्वभाववाले परमशिव का पशुरूप में प्रकाश करने वाली विद्या शक्ति मानी जाती है।[5] विश्व को शिव से भिन्न भासते हुए

---

1. काश्मीर शैव दर्शन, पृ. 87
2. समानाधिकरण्यम् च सद्विद्याहमिदन्धियो: ।।3 ।।
3. इदं भावोपपन्नानाम् वेद्यभूमिमुपेयुषाम् शिवानाम बोधसारत्वाद्यथावस्त्वलोकनात्। ई. प्र. वि. 3-1-3
4. (क) भेदधीरेव भावेषु कर्त्तुर्बोधात्मनोऽपि या।
   माया शक्ति एव सा विद्येत्यन्ये विद्येश्वरा यथा।। ई. प्र. वि. - 3-1-6
   (ख) य : समधृततुलापुटन्यायेन अहमिदमिति परामर्श: तत्क्रियाशक्तिप्रधानं विद्यातत्त्वम्।
   त. 6, पृ. 5
5. तस्यैश्वर्यस्वभावस्य पशुभावे प्रकाशिका।

भी शिव से अभिन्न देखा जाता है। सद्विद्या तत्त्व के महत्त्व को आचार्य उत्पल ने इस प्रकार कहा है – परम ऐश्वर्य से युक्त शिव की यह प्रकाशिका पारमेश्वरी शक्ति है, कोई-कोई योगी जन इसका महत्त्व जानकर शिवत्त्व को प्राप्त हो जाते हैं।[1] मन्त्र प्रमाता 'इदम्' को भी 'अहम्' की भांति चिद्रूप ही समझता है। अत: यह अभेद परामर्श है। इसे परापरा दशा भी कहा गया है।[2]

(IX) महामाया

विद्यातत्त्व के भीतर कई अवान्तर सोपान भी हैं। उनमें से एक वह दृष्टिकोण है, जिसके द्वारा प्राणी अपने आपको शुद्ध संवित् स्वरूप तो समझता रहता है, इस विषय में उसे कोई अज्ञान नहीं रहता, किन्तु अपने अभेद भाव को भूलकर अपने को परमेश्वर से, अन्य प्राणियों से और प्रमेय तत्त्व से पृथक् और भिन्न समझता रहता है। इस प्रकार की शुद्ध विद्या के भीतर माया का जैसा दृष्टिकोण अंशत: बना रहता है परन्तु माया के तिरोधान करने वाले प्रभाव इस दृष्टिकोण वाले प्राणी में नहीं होते हैं। अत: इस विशेष दृष्टिकोण को मन्त्रेश्वरों की शुद्ध विद्या से कुछ नीचे और कुछ ऊपर का स्थान दिया जाता है। इस दृष्टिकोण को न माया कहा जाता है, न शुद्ध विद्या ही। इसका विशेष नाम है- महामाया[3]

इसी महामाया के अधिकारी प्राणी मन्त्रप्राणी कहलाते हैं। और इसी महामाया में अवतीर्ण ईश्वर भट्टारक भगवान अनन्तनाथ कहलाते हैं। ये भगवान् अनन्तनाथ इस महामाया में शासन भी करते हैं और यहाँ से आगे के परमेश्वरता के व्यवहार को भी चलाते हैं। इस महामाया का एक जरा अविकसित रूप और माना गया है जिसमें प्राणी अपने आप को शुद्ध प्रकाशरूप तो समझता और अनुभव करता है, किन्तु उसे अपनी क्रियाशक्ति के चमत्कार का अनुभव नहीं होता इस प्रकार के

विद्याशक्ति......

ई. प्र. वि. 3-1-7

1. वही, विमर्शिनीटीका
2. अत्रापरत्वं भावानामनात्मत्वेन भासनात्।
   परताहन्तयाच्छादात्परापर दशा हि सा।।5।। ई. प्र. वि. 3-1-5
3. अतएवेयं परोहसहिष्णुं यत इयन्तां भासयति ततः शुद्धाभासनाच्च विद्येति। तत एवाप्ररूढमाया कल्पत्वान् महामायेयं श्री रौरवादिगुरुभिरूपदिष्टा।

   ई. प्र. वि. 3-1-6

प्राणी 'विज्ञानाकाल' कहे जाते हैं।[1]

(X) माया

तिरोधानकारिणी शक्ति

माया संवित् स्वरूप का तिरोधान करने वाली आवरण शक्ति है। अचेतन में चेतन का अभिमान कराने वाली तथा शिव के संवित् रूप को ढक देने वाली यह माया विमोहिनी कही गई है।[2]

चिद्रूप में भेदबोध होने पर माया शक्ति के प्रभाव से अनात्म में अहं प्रतीति होती है तथा शून्य, प्राण, बुद्धि अथवा शरीर आदि में भी माया शक्ति का ही उल्लास है।[3] 'मा' धातु से माया शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है, सीमित कर देना। आणव, मायीय और कार्म मलों के द्वारा मायीय सृष्टि में प्रमाता और प्रमेयों का स्वरूप विपर्यास हो जाता है। मायीय प्रमाता का शरीर आदि में होने वाले 'अहं' रूप विकल्प अशुद्ध प्रत्यवमर्श कहलाता है।

अशुद्ध अध्वा

मायीय सृष्टि को अशुद्ध अध्वा कहा जाता है। वास्तव में माया अलग से कोई तत्त्व नहीं है।

शुद्ध विद्या ही भेदपूर्वक भासने पर माया शक्ति कही जाती है।

माया का चेतन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जब शिव रूप की विस्मृति हो जाती है और देहादि में आत्मबुद्धि होती है तब शिव पर आवरण सा करने वाली

---

1. का. शै. द. (बलजिन्नाथ पण्डित), पृ. 91, 92
2. ..... तिरोधानकहरी मायाभिधा पुनष।।7।। 'माया शक्तिःपुनरचिद्रूपे शून्यादौ प्रमातृताभिमानं प्ररूढं दधती भावानपि चिन्मयान् भेदेनाभिमानयन्ती सर्वथैव स्वरूपम् तिरोद्यते आवृणते विमोहिनी सा।।

   ई. प्र. वि. 3-1-8
3. भेदे त्वेकरसे भातेऽहंतयानात्मनीक्षिते।
   शून्ये बुद्धौ शरीरे वा माया शक्तिर्विजृम्भते।।

   ई.प्र.वि. 3-1-8

शुद्धविद्या ही माया नाम से कही गई है।[1]

माया कर्म फल में बांधने वाली

माया से अन्धा होकर यह प्रमाता विमोहित हो जाता है, इसलिए कर्मों के बंधन में फंस जाता है। जो प्रमाता अपने शरीर का स्वामी (पति) होता है, वह माया के वशीभूत होकर 'पशु' बन जाता है। इस अवस्था में वह क्लेश कर्म आदि से युक्त हो जाता है। यहाँ पर अन्धा शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि माया के कारण जीवात्मा अपने मूल शिव स्वरूप को देख नहीं पाता है। जीवन पञ्च कञ्चुकों से ग्रसित होकर संसारी बन जाता है। इसके विपरीत विद्या शक्ति है जो जीव को उसके स्वरूप का ज्ञान करा देती है। विद्या और माया का अन्तर यही है कि माया शिव स्वरूप पर आवरण डाल देती है जबकि विद्या शिव स्वरूप का ज्ञान कराने वाली शक्ति है।[2]

विज्ञानकल प्रमाता

जब व्यक्ति साधना द्वारा अपने कर्मों का क्षय कर देता है, निष्कर्म हो जाता है, इस अवस्था में उसे विज्ञानाकल कहा जाता है। इस अवस्था के प्रमाताओं में मूलमल जो कि अज्ञान है, वही शेष रहता है-

निष्कर्मा हि स्थिते मूलमलेऽप्यज्ञाननामनि।[3]

इस प्रकार के प्रमाता पुनः संसार चक्र में नहीं फंसते किन्तु उनको मोक्ष अर्थात्

---

1. भेदधीरेव भावेषु कर्तुर्बोधात्मनोऽपि या।
   मायाशक्त्येव सा विद्येत्यन्ये विद्येश्वरा यथा।।
   तस्यैश्वर्यस्वभावस्य पशुभाव प्रकाशिका।
   विद्याशक्तिः.... तिरोधानकारी मायाभिद्या पुनः।।
   ई. प्र. वि. 3-1-6, 7
2. एव प्रमाता मायान्धः संसारी कर्मबन्धनः।
   विद्याभिज्ञापितैश्वर्यश्चिद्धनो मुक्त उच्यते।।2।।
   स्वाङ्गरूपेषु भावेषु प्रमाता कथ्यते पतिः।
   मायातो भेदिषु क्लेशकर्मादिकलुषः पशुः।।3।।
   ई. प्र. वि. 3-2-2, 3
3. त. 1-10

'शिवस्वरूप' की प्राप्ति भी नहीं होती क्योंकि अज्ञान शेष रह जाता है। ये प्रमाता शुद्ध चिन्मात्र में स्थित रहते हैं। शुद्ध अध्वा में इनका प्रवेश नहीं होता। विज्ञानाकल प्रमाता शुद्ध बोधात्मक होता है, उसमें कर्तृता की गतिशीलता नहीं होती, वह अभी स्वात्मरूप से दूर होता है यदि विज्ञानकेवल प्रमाता शुद्धभाव को बनाए रखे तो शिव को कृपा से क्रमशः उत्तरोत्तर अवस्थाएँ प्राप्त करता हुआ शिवत्व को भी प्राप्त कर सकता है।[1]

परमेश्वर की इच्छा ही वह कारण है जिससे विज्ञानाकल आदि भिन्न-भिन्न प्रमाता भासते हैं। जब शुद्ध बोधता मात्र रहती है और कर्त्तापन का अभिमान नहीं होता किन्तु भेद फिर भी रहता है[2] विज्ञानाकल की व्युत्पत्ति है- विज्ञान+अकल 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ' इस प्रकार का परामर्श विज्ञानाकल को होता है, जिससे उसका अहंभाव ध्वस्त हो जाता है। इसी कर्महीनता के कारण उस विज्ञानाकल प्रमाता में कार्ममल का योग नहीं बन पाता।[3] इसीलिए इस अवस्था के प्राणियों का स्तर नीचे नहीं गिरता।

विज्ञानकल की अवस्था माया से ऊपर एवं सद्विद्या से नीचे 'महामाया' के निचले स्तर में होती है। क्रमशः उन्नति करता हुआ यह प्रमाता शिवत्व प्राप्त कर सकता है।

तन्त्रालोककार कहते हैं विज्ञानाकल में अनहंकार की प्रबलता होती है

---

1. स पुनः शांभवेच्छातः शिवाभेदं परामृशन्।।
क्रमान्नमन्त्रेशतन्नेतृरूपो याति शिवात्मताम्।
त. 9-92
2. शुद्धबोधात्मकत्वेऽपि येषां - नोत्तमकर्तृता।
निर्मिताः स्वात्मनो भिन्ना भर्ता ते कर्तृतात्ययात्।।6।। ई. प्र. वि. 3-2-6
3. बोधादिलक्षणैक्येऽपि तेषामन्योन्य भिन्नता।
तथेश्वरेच्छाभेदेन ते च विज्ञानकेवलाः ।।7।।
ई.प्र.वि. 3-2-7

तथा-

विज्ञानाकलता तस्य संकोचो ह्यस्ति तादृशः।
मैवमध्वस्तसंकोचोप्यसौ भावनया दृढ़म्।।
नाहं कर्त्तेति मन्वानः कर्म संस्कारमुज्झति।
त. 9-102, 103

इसीलिए सारी कर्म प्रक्रिया विलीन हो जाती है।[1] विध्वंसिषुता के परिणामस्वरूप कर्म ध्वस्त हो जाते हैं।[2] विज्ञानाकल प्राणी आन्तरिक रूप से शैव समावेश में विराजमान हो जाता है।[3]

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में कहा गया है कि चित् की प्रधानता स्वाभाविक रूप में प्रकट होती है तो प्रकाशमात्र (विमर्श रहित) प्रधान होने पर विज्ञानाकल की अवस्था होती है। चित् की प्रधानता या तो सहज रूप में होती है या समाधि के प्रयत्न से अर्जित होती है। सहज रूप में जो चित् की प्रधानता होती है उसमें या तो प्रकाशमात्र की प्रधानता हो सकती है या विमर्श सहित प्रकाश की प्रधानता हो सकती है। ऐसी स्थिति में प्रकाशमात्र की जब प्रधानता होती है तो वह प्रमाता विज्ञानाकल कहलाता है। जब विमर्श सहित प्रकाश की प्रधानता होती है तो ऐसे प्रमाता विद्येश्वर कहलाते हैं।[4]

प्रलयाकल

शून्य आदि प्रमातृवर्ग अबोध रूप होते हैं, वे प्रलयाकल कहे जाते हैं। प्रलयाकल अवस्था में कार्ममल रहता है। और मायीयमल भी विकल्प से रहता है।[5]

प्रलयाकल को प्रलयकेवली एवं शून्य-प्रमाता के नामों से भी कहा जाता है। प्रलयाकल को प्रलयकेवली एवं शून्य-प्रमाता के नामों से भी कहा जाता है। प्रलयाकल प्रमाता में माया का प्राधान्य है जिससे अहं प्रत्यवमर्श का स्फुट रूप में ज्ञान नहीं हो पाता और 'इदम्' का भी स्पष्ट बोध नहं होता। सृष्टि और संहार के

---

1. प्रकृतं ब्रूमहे ज्ञानाकलस्योक्तचरस्य यत्।
   अनहंयुतया सर्वा विलीना: कर्म संस्क्रिया: ।। त. – 9–117
2. तस्मादस्य न कर्मास्ति कस्यापि सहकारिताम्।
   मल: करोतु तेनायं ध्वंसमानत्वमश्नुते।। त. 9–118
3. अपध्वस्तमलस्त्वन्त: शिवावेशवशीकृत: ।
   अहं भावपरोप्येति न कर्माधीन वृत्तिताम्।। त. 9–119
4. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ. 51
5. शून्याद्यबोधास्तु कर्तार: प्रलयाकला: ।
   तेषां कार्मो मलोऽप्यस्ति मायीयस्तु विकल्पित: ।।
   ई. प्र. वि. 3-2-8

मध्य में प्रकृति से ही अधिक तारतम्य रहता है, इसी प्रकार शून्य अवस्था वाले साधक की भी जड़ के समान स्थिति होती है।[1]

सकल प्रमाता

विद्या और कला दोनों सकल पुरुष की शक्तियाँ कही गई हैं। विद्या इसके कर्म का विवेचन करती है। कला के योग से ही पुरुष सकल (कला सहित) होता है।

ज्ञानेन्द्रियों से कर्म की विशेषता ज्ञात होती है।[2] सृष्टि दशा में स्फुट मलत्रय से आविष्ट साधारण प्राणी की संज्ञा 'सकल' प्रमाता है। मलत्रय से पूर्णतः सम्बद्ध सभी सकल प्रमाता जन्म, मरण, जरा, व्याधि, क्षुधा, तृष्णा आदि शरीर धर्मों से दुःखी रहते हैं। इनके चौदह वर्ग हैं- देवताओं के आठ वर्ग, तिर्यक् आदि के पाँच वर्ग और मनुष्यों का एक वर्ग। कार्ममल की स्थिति से ये सभी प्रमाता संसृति के दुःखों से परितप्त रहते हैं।[3] ये देव से लेकर कीट तक सभी जीव हैं जो माया तत्त्व में हैं। इन्हें अपने आत्मा का बोध नहीं होता और इनमें भेद बुद्धि बनी रहती है।[4] ये वे देव और जीव हैं जिन्हें सच्चा आत्मज्ञान नहीं होता और जिनकी चेतना मुख्यतः भेद की होती है। वे आणव, मायीय और कार्म तीनों मलों से आच्छन्न होते हैं।[5]

प्रमाताओं में मल की स्थिति

तत्त्व	प्रमाता	मल
शिव-शक्ति	शांभव	-
सदाशिव	मन्त्रमहेश्वर	-
ईश्वर	मन्त्रेश्वर	-
सद्विद्या	मन्त्र (विद्येश्वर)	-
विज्ञानाकल	विज्ञानाकल	आणव

---

1. वही विमर्शिनी
2. त. सा. 9, पृ. 54
3. मलत्रयोपरक्ताः सकला मायातत्त्वान्तरालवर्तिनः।
   म. म. टी. पृ. 32
4. प्र. ह. परिशिष्ट
5. वहीं, टिप्पणी

प्रलयाकल	च्लयाकल	आणव, कार्म
सकल	सकल	आणव, कार्म, मायीय

जाग्रत स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाएं

प्रलयाकल से लेकर देह तक कर्त्तृत्वमय चेतन माया से सम्बन्धित हो जाता है तथा सीमित हो जाने से 'मितं' कहलाता है। देह से लेकर शून्य प्रमाता तक प्रमेय भाग में ही निमग्न होता है, इसलिए प्रमेय कहलाता है। अहंभावना इदन्ता में लीन होकर भासती है जैसे 'मैं गोरा हूँ', 'यह सुखी है', 'वह प्यासा है' आदि। ये विभिन्न अवस्थाएँ ही जाग्रत स्वप्न, सुषुप्ति के रूप में भिन्न-भिन्न कही गई हैं।[1]

परम शिव से ये अवस्थाएँ भिन्न नहीं है। जागृत, स्वप्न, सुषुर्यित ये तीनों अवस्थाएँ चतुर्थावस्था तुरीयावस्था में समाहित रहती हैं किन्तु तुरीयावस्था आवृत्त नहीं होता।[2]

जैसे तेल जल में डालने पर भी मिलता नहीं है, जल से अलग रहता है वैसे ही तीनों अवस्थाओं में तुरीय पद सभी में व्याप्त होकर भी उनके आवरण से मुक्त रहता है। जागरण को भेद होने से विश्व कहा गया है। स्वप्न को तेज और सुषुप्ति को प्राज्ञ कहा गया है। तुरीयावस्था इन तीनों से परे है -

जाग्रद्विश्वं भेदात् स्वप्नस्तेजः प्रकाशमाहात्म्यात्।
प्राज्ञः सुप्तावस्था ज्ञानधनत्वात्रतः परं तुर्यम्।।[3]

प्रलय तुल्य सुषुप्ति अवस्था कही जाती है जिसमें वेध सहित और वेधभावों को छोड़कर मायामत्म से मिली या नहीं मिली हुई अवस्था रहती है-

---

1. ई. प्र. वि. 3-2-11, 12
2. सृष्टि स्थिति-संघराज्जाग्रत्स्वप्नौ सुषुप्तमितितस्मिन्।
   भान्ति तुरीये धामनि तथापि तैर्नावृत्तं भाति।। प. सा. 34
3. (क) वहीं - 35
   (ख) नान्तःप्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः न प्रज्ञाधनं च प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।
   अद्वयमत्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं
   प्रप्रंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते, स आत्मा स विज्ञेयः।।
   माण्डूक्योपनिषत् - -7

   उद्धृत - प. सा. - 35

तावन्मात्रस्थितौ प्रोक्तं सौषुप्तं प्रलयोपमम् ।
सवेद्यमपवेद्यं च मायामलयुतायुतम् ।।[1]

सुषुप्ति अवस्था में अहन्ता सोई हुई रहती है। मनो मार्ग में इन्द्रियों के विषय का प्रत्यक्ष प्रमाण भ्रम से भाव-पदार्थों में स्पष्ट अवभास पूर्वक सृष्टि का होना स्वप्न कहलाता है-

मनोमात्रपथेऽप्यक्षविषयत्वेन विभ्रमात् ।
स्पष्टावभासा भावानां सृष्टिः स्वप्नपदंमतम् ।।[2]

बाह्य सृष्टि सभी प्रमाताओं के लिए साधारण सृष्टि है, यह जाग्रत अवस्था कही गई है-

सर्वाक्षगोचरत्वेन या तु बाह्य तयास्थिरा ।
सृष्टिः साधारणी सर्वप्रमातृणां स जागरः ।।[3]

इन तीनों अवस्थाओं से तुरीयावस्था श्रेष्ठ है। साधक के लिए वही उपादेय कही गई है-

हेया त्रयीयं प्राणादेः प्राधान्यात्कर्तृ तागुणे ।
तद्धानोपचयप्रायसुख दुःखादियोगतः ।।[4]

तुरीयावस्था में सारे पशु संस्कार क्षीण होकर आनन्दमय मोक्षावस्था प्राप्त होती है इसीलिए इसे ही उपादेय कहा गया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी के अनुसार परमशिव ही विभिन्न प्रमाताओं के रूप में भासता है। शिव से लेकर सकल तक सभी भेद परम शिव के ही अन्तर्गत हैं। जीव माया से अन्धा होकर अपने शिवस्वरूप को भुला देता है। माया के कारण ही शिव प्रमाता क्लेश कर्मादि से कलुषित होकर पशु बन जाता है। मल से आवृत्त होने के कारण स्वातन्त्र्य की हानि हो जाती है, तथा जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भुला देता है। शुद्ध विद्या द्वारा इस स्वरूप को जान लेने से ही जीव मुक्त होकर शिवभाव को प्राप्त कर सकता है-

---

1. ई. प्र. 3-2-15
2. ई. प्र. 3-2-16
3. वहीं - 17
4. वहीं - 18

एष प्रमाता मायान्धः संसारी कर्मबन्धनः।
विद्याभिज्ञापितैश्वर्यश्चिद्घनो मुक्त उच्यते ।।[1]



1. ई. प्र. 3-2-2

षष्ठ अध्याय

प्रमेय तत्त्व निरूप

वह परम शिव ही एक मात्र तत्त्व है जिसमें सदाशिव से पृथ्वी पर्यन्त समस्त तत्त्व समुदाय झलकता है।[1] प्रत्यभिज्ञा दर्शन में छत्तीस तत्त्व माने गए हैं जो कि इस प्रकार हैं – शिव, शक्ति, सदा शिव, ईश्वर, शुद्धविद्या, माया, कला, विद्या, राग, नियति, काल, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी। परम शिव अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से अनेक रूपों में विभक्त होता है। माया अशुद्ध सृष्टि की पहली कड़ी है।

माया सहित कला, विद्याराग, नियति और काल मिलकर छह कञ्चुक हैं जिनके द्वारा जीव जाल में फंसी हुई मछली के समान फंस जाता है। कञ्चुकावेष्टित आत्मा पुरुष कहलाता है। यही शून्य प्रमाता कहलाता है। प्रकृति बुद्धि से लेकर पृथ्वी तक के प्रादुर्भाव की मूल मानी गई है। तीनों गुण सत्व, रजस् व तमस् मिलकर पुरुष को सुख-दु:ख से युक्त बनाते हैं। बुद्धि निर्मलता से युक्त होते हुए भी जड़ है अत: प्रतिबिम्ब धारण करती हुई भी बोध के लिए शुद्ध विद्या पर आश्रित होती है। तन्मात्राओं एवं इन्द्रियों द्वारा ही विश्व व्यवहार सम्पन्न होता है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी वर्णित तत्त्व विवेचन विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया गया है।

I. माया

अशुद्ध सृष्टि की पहली कड़ी

तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से माया शब्द का विशेष महत्त्व है। माया शुद्ध सृष्टि से अशुद्ध सृष्टि के मध्य की कड़ी मानी गई है। यही है जो शिव स्वरूप का गोपन करके नाना भेदों को दिखाती है।

---

1. श्रीमत्सदाशिवोदारप्रारम्भं वसुधान्तकम्।
   यदन्तर्भाति तत्त्वानां चक्रं तं संस्तुम: शिवम्।। ई. प्र. म. 3-1

माया भी शिव की ही शक्ति है

यह मिथ्या नहीं है कि वह भी शिव की ही शक्ति है। शिव स्वयं जगत् की उत्पत्ति की इच्छा से माया द्वारा आच्छादन करता है।[1]

इस सन्दर्भ में आचार्य परमहंस मिश्र ने बहुत ही सुन्दर शब्दों में सभी शंकाओं को निर्मूल कर दिया है-

''खेल अकेले खेलने में आनन्द नहीं आता। आपने सुना है- गुना है- रासलीला का रहस्य ? यमुना के पुलिनों पर पूनम के प्रकाश में महारास रचाने वाले योगीश्वर कृष्ण के चिदानन्दमय महोल्लास की तरह परम शिव भी स्वातन्त्र्य के बल पर विश्व का महारास रचा रहा है। इसके पास 'माया' नामक एक शक्ति है। वह मंच बन जाती है और एक विश्व विस्तार का महोत्सव प्रारम्भ हो जाता है। अनादि काल से यह महोत्सव चलता आ रहा है- प्रतिक्षण इसकी प्रक्रिया का प्रकर्ष अनुभूतिगम्य है। अनन्त काल तक यह चलता रहेगा।[2]

अधिष्ठाता भगवान अनन्तनाथ

भगवान अनन्तनाथ मायीय सृष्टि के अधिष्ठाता कहे गये हैं। मायीय जगत को साधक के लिए हेय बताया गया है।[3] इसे व्यापिनी निष्कला आदि अन्य नामों से भी मताया गया है।[4] विश्व-रचना प्रक्रिया का यह मूल है।[5]

---

1. ईश्वरेच्छावशादस्य भोगेच्छा संप्रजायते ।।24
 भोग साधनसंसिद्धयै भोगेच्छोरस्य मन्त्रराट्।
 जगदुत्पादयामास मायामाविश्य शक्तिभिः ।।25 मा. वि. त.।
2. त. सा. भूमिका, पृ. 1
3. (क) अशुद्धं पुनरध्वानमन्तापरनामाधोदेशः सृजति ईश्वरेच्छावशेन प्रक्षुब्ध भोगलोलिकानामणूनां भोगसिद्धयर्थम् (त. सा., पृ. 75)
 (ख) मलः कर्म च माया च मायीयमखिलं जगत्।
 सर्वं हेयमिति प्रोक्तं विज्ञेयं वस्तु निश्चितम् ।।
4. सा चैकाव्यापिनी रूप निष्कला जगतोनिधिः
 अनद्यन्तशिवेशानी व्ययहीन चकथ्यते।
 मा. वि. त. 1-26
5. माया तत्त्वं जगद्बीजं नित्यं विभु तथा व्ययाम्।
 तत्स्थं कृत्वात्मवर्ग तु युगपत् क्षोभयेत् प्रभुः। स्व. तं. 11-60

यह माया शक्ति का ही प्रभाव है कि दृश्य जगत के नाना पदार्थों का अस्तित्व दिखाई देता है, जबकि वास्तव में सत् तो केवल शिव ही है। प्रकृति पुरुष, कञ्चुक आदि जो भी तत्त्व हैं उनका उपादान कारण माया को ही जानना चाहिए।[1] मायीय सृष्टि स्वातन्त्र्य लीला मात्र नहीं वरन् प्राणियों के कर्मो तथा भोगवासना का फल होती है। जब शिव रूप आत्मा अपने शुद्ध 'अहं' स्वरूप को भुलाकर संकुचित रूपों आत्माभिमान करने लगता है, उदाहरण के लिए, यह मानना कि 'पहले मैं कृश था, अब स्थूल हो गया हूँ' इस प्रकार की भेद दृष्टि उत्पन्न हो जाती है इसीलिए उत्पल देव कहते हैं-

यश्च प्रमाता शून्यादि प्रमेयेव्यतिरेकिणि।
माता स मेयः सन्कलादिकपञ्चक वेष्टितः॥[2]

इस स्थिति में प्रमाता के संकुचित रूप को शून्य प्रमाता कहते हैं।[3] शिव स्वरूप से भिन्न आभासन होने के कारण इसे भ्रान्ति भी कह दिया है।[4] माया में क्षोभ उत्पन्न करके उसे पञ्चकञ्चुक के रूप में प्रकट करते हैं।[5]

इस अवस्था में शिवरूप प्राणी कला, विद्या, काल राग, नियति से ओतप्रोत होने के कारण अपने ऐश्वर्य को भुला देता है, किन्तु कुछ अंश जाग्रत रहता है जो सीमित होकर भासता है, कि यह जो कुछ भी व्यवहार कर रहा हूँ, वह मैं (प्रमाता) इन प्रमेयादि से भिन्न हूँ। वह अपने संवित् रूप को विस्मृत कर देता है, अतः जड़ कहा गया है।[6]

---

1. तस्य च सृजतः परमेश्वरेच्छामयं, तत एव च नित्यं, स्रक्ष्यमाणवस्तुगतस्य रूपस्य जडवयाभासयिष्यमाणत्वाज्जडं, सकल कार्यव्यापानादिरूपत्वच्च व्यापकं मायामयं तत्त्वम् उपादानकारणम्।

   त. सा. पृ. 77
2. ई. प्र. वि. 3-1-9
3. संविन्मात्रं हि यच्छुद्धं प्रकाशपरमार्थकम्।
   तन्मेयमात्मनः प्रोज्झय विविक्तं भासतेनभः॥
   तदेव शून्यरूपत्वं संविदः परिगीयते॥

   त. आ. 6-9, 10
4. माया पद हि सर्वं भ्रान्तिः......। ई. प्र. वि. (भा.) भा.2, पृ. 124
5. का. शै. द. पृ. 99
6. ई. प्र. वि. 3-1-9

प्रमाता की जो ज्ञान शक्ति है, उसका थोड़ा ही अंश इस अवस्था में जाग्रत रहता है।

परम शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति ही विश्ववैचित्र्य को भिन्न तथा भासित करके सृष्टि प्रक्रिया की ओर उन्मुख होती है, तब माया शक्ति कहलाती है।[1] अभेद में भेद का सृजन माया शक्ति का ही चमत्कार है।[2] माया शक्ति सर्वव्यापक, सूक्ष्म, खण्डों या भागों से हीन, समग्र संसार को अपने गर्भ में धारण करने वाली, अनादि,अनन्त, अकल्याणिनी होकर भी स्वातन्त्र्य से परिपूर्ण है।[3] भेदप्रथात्मक होने के कारण यह हेय है किन्तु शिव के स्वरूप से भिन्न कुछ भी नहीं है।

माया परिभाषा

माया की शास्त्रीय परिभाषाएँ इस प्रकार हैं-

1. जिसको योगी लोग हेय समझकर अपने से अलग कर देते हैं।[4]
2. जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध में सर्वत्र व्याप्त होकर अवस्थित रहती है।[5]
3. जो स्वयम् 'मा' शब्द से वाच्य निषेध अर्थात् विनाश का विषय नहीं बनती है, अर्थात् नित्य है।[6]
4. जिसके गर्भ में सारा जग अवस्थित रहता है।[7]

---

1. परमं यत्स्वातन्त्र्यं दुर्घटसंपादनं महेशस्या देवी माया शक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत्।। प. सा.-15
2. माया नाम च देवस्य शक्ति ख्यातिरेकिणी
   भेदावभासस्वातन्त्र्यं तथाहि स तया कृतः।।
   त. 9-149-50
3. सा चैका व्यापिनीरूपा निष्कला जगतो निधिः।
   अनाद्यन्ता शिवेशानी व्यवहीना च कथ्यते।।
   मा. वि. 1-26
4. 'मीयते हेय तया परिच्छिद्यते योगिभिः, त. वि. 9-152
5. सर्वत्र मातीति - वहीं
6. 'मा' शब्द वाच्याद्विनाशरूपान्निषेधाद्यातेति - वही
7. मात्यस्यां विश्वमिति - त. वि. 9-152

5. जिस शक्ति के द्वारा परमेश्वर स्वरूप में अभिन्न रूप में भी अवस्थित भावराशि को अपने से भिन्न रूप में प्रतिष्ठित करता है।[1] इसे अशिव और भेदप्रथात्मक कहा गया है–

यह माया इन्द्र जाल के समान बताई गई है जो बार-बार सुलझाने पर भी उलझ जाता है। अन्यत्र इसे भयंकर सर्पिणी के समान बताया गया है जो खण्ड-खण्ड कर देने पर भी उछलकर डस लेता है[2] योगी को तुर्य अर्थात् शक्ति व्यापिनी समना तक माया जाल का रंग रहता है–

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तरकम्।'[3]

अन्यत्र शिवसूत्र में कहते हैं–

'कलादीनां तत्त्वानामविवेको माया'।[4]

माया जाल

माया कञ्चुकों द्वारा जीव को बाँधती है। मकड़ी के जाले के समान उसने अपना जाल मानो फैलाया हुआ है। माया किसे फाँसती है, इसे तन्त्रालोक में उद्धरण द्वारा इस प्रकार बताया गया है– माया मानो मछली पकड़ने के जाल के समान है, पक्षी के लिए बिछाए गए सुन्दर जाल के समान है, जाल के समान ही वह सुन्दर, गाँठो से युक्त, बिलों (खड्डों) से युक्त व फैलाए जा सकने तथा समेटी जा सकने वाली है। अत्यन्त कलाबाज अर्थात् चतुराई से इसे फैलाया जाता है कि जीव बच ही नहीं पाता।[5]

जैसा कि परमार्थसार में कहा गया है–

---

1. स्वात्माभिन्नमपि भावमण्डलं शिवो यया मिमीते भिदा व्यवस्थापयतीति। वही
2. उन्मूलितापिशतशः खण्डितापि सहस्त्रशः
   गोनासेवाप्रथोदेति द्रागत्र शरणं शिवः।। उद्धृत – स्प. का. – 9
3. स्वच्छन्द तन्त्र – 4 – 432, उद्धृत – स्प. का. – 9
4. शि. सू. 3-3
5. (क) मायारूपं भवेज्जालं दारयेत्कुलचिन्तकः।
   विश्वाकारं महाजालं नाडीसूत्र नियोजितम्।
   त. 1-1-7 में उद्धृत
   (ख) मोहयति अनेन शक्तिविशेषेण इति वा मोहो माया शक्तिः – ई. प्र. वि. 1-35

परमं यत् स्वातन्त्र्यं दुर्घटसंपादनं महेशस्य।
देवी मायाशक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत्।।
माया परिग्रहवशाद् बोधो मलिनः पुमान् पशुर्भवति।
काल-कला-नियतिवशादूरागाविद्यावशेन संबद्धः।।[1]

षट् कञ्चुकों का स्वरूप

माया के साथ अणु के छह अन्तरंग कचुंक कहे गए हैं-

अधुनैव, किंचिदेवेदमेव, सर्वात्मनैव जानामि।
माया सहितं कञ्चुकषट्कमणोरन्तरङ्गमिदमुक्तम्।।[2]

माया के अतिरिक्त पाँच कञ्चुक निम्न हैं-

अर्थात् 'अभी ही', 'कुछ ही', 'यही', 'पूरी तरह से ही', 'जानता हूँ' माया के साथ ये छह कंचुक हैं। ये छह कंचुक अणु के चावल की भूसी के समान आच्छादित कर लेते हैं।[3] वास्तव में चावल से छिलका भिन्न होता है, किन्तु उसके साथ अभिन्न सा भासता है। आत्मज्ञान के आविष्कार से यह वैसे ही हट जाता है जैसे चावल छिलके से अलग होकर स्पष्ट भासता है।[4]

पञ्च कञ्चुक

1. कला

कला किञ्चित्कर्तृत्व शक्ति है।[5] माया प्रमाता जड़ रूप होते हुए भी उसमें थोड़ा चेतन अंश जाग्रत् होता है वह चेतना उस प्रमाता को शक्ति प्रदान करती है

---

1. प.सा. 16
2. वही-17
3. कालक्रममा सूत्रयन् प्रमातरि..... अत्रैव कस्माद्भिष्वंगः इत्ययमर्थो नियत्या नियम्यत इति।"

ई. प्र. वि. (भास्करी-2) पृ. 237, 38

4. कम्बुकमिव तण्डुलकणविनिविष्टं भिन्नमप्यभिदा।
भजते तत्तु विशुद्धिं शिवमार्गोन्मुख्ययोगेन।।

प.सा.-18

5. (क) त. सा. -1

जिससे उसमें जानने, कार्य करने की क्षमता रहती है। किन्तु यह संकुचित रूप है इसलिए प्रथम् कञ्चुक 'कला' के नाम से कहा गया है।[1] कला शिव के सर्वकर्तृत्व को आच्छादित करती है–

तत्सर्वकर्तृता सा संकुचितकतिपयार्थमात्रपरा।
किंचित्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कलानाम।।[2]

2. विद्या

विद्या से यहाँ अर्थ है अशुद्ध विद्या। जैसे संकुचित कर्तृत्व को कला कहा गया है, वैसे ही संकुचित ज्ञान को विद्या नाम से अभिहित किया गया है।[3] एक वस्तु को जानता हूँ, दूसरी को नहीं, इस विषय में जानता हूँ, दूसरे विषय में नहीं, यही किंचित् ज्ञत्व है। इसे 'षड्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह' में इस प्रकार कहा गया है–

सर्वज्ञातस्य शक्तिः परिमितनुकल्पवेद्यमात्रपरा।
ज्ञानमुद्भावयन्ती विद्येति निगद्यते बुधैरधैः।।[4]

3. राग

राग अर्थात् आसक्ति। विषयों से जुड़ाव तथा, इतना ही क्यों है, अधिक क्यों नहीं इस प्रकार का मोह राग कहा गया है। मायीय प्रमाता की प्रवृत्ति सभी विषयों में तो हो नहीं सकती, क्योंकि उसके पास संकुचित दृष्टि है, अतः किसी-किसी विषय के प्रति उसका जुड़ाव होता है।

यह संकुचित प्रवृत्ति राग है।[5] यह सामान्य द्वेष का विपरीतार्थी 'राग' नहीं है,

---

(ख) कलातस्य किंचित्कर्त्तृत्वहेतुः म. म. टी. प्र. 49

1. कला किञ्चित् कर्तृत्वोपोद्वलनमयी कार्यमुद्भावयति। किञ्चिज्जानामि किञ्चित्करोमीति। ई. प्र. वि. 3-1-9
2. ष. त्रिं.त. स.-8
3. अस्य शून्यादेर्जडस्य विद्या किञ्चिज्ज्ञत्वोन्मीलनरूपा बुद्धि दर्पणसंक्रान्तं भावराशिं नील सुखादिं विविनक्ति। ई. प्र. वि. 3-1-9
4. (क) ष. त्रि. त. स. - 9
   (ख) विद्या किंचित् ज्ञातृत्वकारणं-म.म.टी., पृ. 49
5. अत्र चांशे तुल्येऽपि किञ्चित्वे, कस्मादिदमे व किञ्चित्- इच्यर्थेऽभिष्वङ्ग-रूपः प्रमातरिदेहायौ प्रमेये च गुणाधारोपणमय इव रागो व्याप्रियते। (ई. प्र. वि. 3-1-9)

बल्कि मायीय प्रमाता को संकुचित करने वाला तत्त्व है।[1] इसी राग के कारण शरीरादि से मोह होता है।

अर्थात् ये शरीर आदि सदैव टिके रहे, इनका कभी नाश न हो।[2] कहा भी गया है[3] **'रागोऽपि रंजयत्येनं स्वभोगेष्वशुचिष्वपि।'** 'यह सब मेरा है', मैं ऐसा होऊँ, 'मैं यह करूँ', इस प्रकार का भाव राग है। जो विषय आत्मा से सम्बद्ध नहीं है, उनको भी आत्मा से 'राग' रूपी, कंचुक सम्बद्ध कर देता है।[4]

4. काल

प्रमाता की क्रमरूपता का जो आभास होता है, उसका कारण काल तत्त्व है। क्रियाओं जो विभिन्नता देखने में आती है, वह काल तत्त्व की ओर संकेत करती है और जो स्थान की विभिन्नता देखने में आती है, वह देशक्रम को इंगित करती है।[5] वास्तव में प्रमाता शुद्ध और असीम संवित् है, किन्तु माया के द्वारा उसमें संकोच का अवभास होता है। परमशिव की काल शक्ति के प्रभाव से प्राणी अपने ऊपर क्रम की कल्पना कर बैठता है, और वर्तमान, भूत, भविष्य का व्यवहार करता है।[6] काल पूर्वपर का क्रम है। वह ज्ञान क्रिया तथा प्रमेय तीनों में ही क्रम की उद्भावना

---

1. न चावैराग्यकृतं तत्। अवैराग्यस्थाप्यरक्ति दर्शनात्। वैराग्ये धर्मादावपि च रक्तिदृश्यते।
(त. सा. पृ. 82)
2. न च तद्बुद्धिगतमवैराग्यमेव। तद्धि स्थूलं वृद्धस्थ प्रमदाया। न भवेदपि, रागस्तु भवत्येव।
(ई. प्र. वि. 3-1-9)
3. मा. वि. त. 1-28
4. किंचित्तु कुरुते तस्मान्नूनमस्त्यपरं तु तत्।
रागतत्त्वमिति प्रोक्तं यत्रत्तैववोपरंजकम्।।
त. 6-157
5. मूर्ति वैचित्र्यतो देशक्रममाभासमयत्यसौ।
क्रियावैचित्र्यनिर्भासात् कालक्रममपीश्वरः।।
ई. प्र. 2-1-5
6. कालः क्रममासूत्रयन् प्रमातरि विजृम्भमाणस्तदनुसारेण प्रमेयेऽपि प्रसरति। योऽहं कृशोऽभवंस स्थूलो वर्ते, भविष्यामि स्थूलतरः इत्येवमात्मानं देहरूपं क्रमवन्तमिव परामृशंस्तत् सहचारिणि प्रमेयेऽपि भूतादिरूपं क्रमं प्रकाशयति।
ई. प्र. वि. 3-1-9

करता है। काल को परिच्छेदनकारी भी क्रम के उद्भावन के कारण ही कहा जाता है।[1]

5. नियति

माया के प्रभाव से प्रमाता की विभिन्न विषयों में आसक्ति होती है, यह तो सही है, किन्तु यह आसक्ति उन-उन विशेष विषयों में ही क्यों होती है, इसके पीछे 'नियति' कारण है। अन्यत्र आसक्त होते हुए भी 'नियति' के द्वारा अन्य कार्य कराया जाता है।[2]

नियतिर्नियोजयत्येंन स्वके कर्मणिपुद्गलम्।[3]

नियति व्यक्ति को विभिन्न कार्य विशेष करने के लिए प्रेरित करती है।[4]

पुरुष

बारहवाँ तत्त्व 'पुरुष' है। जब संवित् तत्त्व षट् कञ्चुकों से आवेष्टित हो जाता है, तब वही आत्मा 'पुरुष' कहलाता है। इसे ही शून्य प्रमाता कहा जाता है। इसी को हम जीव, अणु, पशु, नर, माया, प्रमाता, पुंस्तत्त्व आदि कहते हैं।[5] इस प्रकार संकुचित होकर 'अहम्' ही पुरुष तत्त्व कहलाता है। इसी संकोच के कारण यह कहीं प्राण को, कहीं अन्तःकरण को तो कहीं शरीर को ही आत्मा मान बैठता है।[6] इस अवस्था में शिव का सार्वभौम ज्ञान और ऐश्वर्य संकुचित हो जाता है।

पुरुष को ही अणु भी कहा जाता है। परिमित होने के कारण ही यह अणु

---

1. प. सा. 17
2. (क) अत्रैव कस्मादभिष्वङ्ग, - इत्ययमर्थो नियत्या नियम्यते।
   (ख) कालश्च कार्यं कलयंस्तदवच्छिन्नं कर्तृत्वमपि कलयति, तुल्ये क्वचित्त्वे अस्मिन्नेव कर्तृत्वम् इत्यार्थे नियते र्व्यापारः।
   कार्य-कारणभावेऽपिअस्था एव व्यापारः।
   त. सा. 8, पृ. 29
3. मा. वि. त. 1-29
4. नियतिः ममेदं कर्तव्यंनेदं कर्तव्यं इति नियमनहेतुः। पराप्रवेशिका, पृ. 9
5. का. शै. द., पृ. 105
6. शि. दृ. भूमिका, पृ. 17

कहलाता है। ‘‘पूर्णत्वाभावेन परिमितत्वादणुत्वम्।’’[1] शिव का सर्वज्ञत्व इस अवस्था में विद्या में परिणत हो जाता है, उसका पूर्णत्व राग में परिणत हो जाता है, उसका नित्यत्व काल खण्ड में परिणत हो जाता है, उसका व्यापकत्त्व नियति में परिणत हो जाता है, पञ्च कंचुक के अवगुणन से वह शिव स्वयं को ढक लेता है।[2]

प्रकृति

शैव दर्शन का यह वैशिष्ट्य है कि इसमें प्रत्येक पुरुष के लिए अलग प्रकृति मानी गई है। वह बुद्धि से लेकर पृथिवी तक के प्रार्दुभाव की मूल मानी गई है।[3] जो तत्त्व माया प्रमाता को ‘इदम्’ के रूप में भासित होता है उस प्रमेय तत्त्व को प्रकृति कहते हैं। यह कला का वेद्य रूप कार्य है। यह प्रकृति ही शिव की शान्ता शक्ति कही गई है। सत्त्व, रजस् और तमस् उन्हीं शिव की ज्ञान इच्छा और क्रिया नामक त्रिविध शक्तियों के स्थूल रूप हैं।[4]

माया प्रमाता का जो सामान्य आकार केवल मात्र ‘इदं’ इतने ही रूप में अवभासित होकर प्रमेय तत्त्व होता है, उसे प्रकृति तत्त्व कहते हैं। जहाँ पुरुष तत्त्व संकुचित ‘अहं’ है, वहीं प्रकृति तत्त्व संकुचित ‘इदं’ है। समस्त विश्व इसमें वैसे ही विद्यमान रहता है जैसे मोर का बहुरंगी रूप उसके अण्डे में विद्यमान रहता है।[5] पूरी सृष्टि प्रकृति रूपी कारण का कार्य है तथा विश्व प्रकृति में समाहित होता है, तथा भेद सृष्टि उत्पन्न होने पर प्रकट हो जाता है। प्रकृति के विकास की अवस्था में पुरुष कहीं शून्य को, कहीं प्राण को, कहीं अन्तः करण को और कहीं स्थूल शरीर को स्वयं समझ बैठता है।[6]

---

1. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् – भूमिका, पृ. 13
2. वहीं, टि. पृ. 100
3. प्र. हृ, टिप्पणी, पृ. 100
4. प्र. हृ, टिप्पणी, भू. पृ. 17
5. (क) का. शै. द. 106
   (ख) त्रयोविंशतिधा मेयं यत्कार्यकरणात्मकम्।
   तस्याविभागरूप्येकम् प्रधानं मूलकारणम्।। ई. प्र. वि. 3-1-10
6. (क) कलोद्वलितमेतच्च चित्तत्वं कर्तृतामयम्।
   अचिद्रूपस्थ शून्यादेर्मितम् गुणतया स्थितम्।।

तीन गुण एवं उनका प्रभाव

परम शिव की ज्ञान क्रिया तथा माया शक्तियाँ ही माया के प्रभाव से भेदात्मक दशा का उद्रेक होने से सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण हो जाती हैं। तीनों गुण ज्ञान, क्रिया और माया के प्रकाशरूप ही हैं।[1] ये तीनों गुण क्रमशः सुख, दुःख और मोहात्मक होते हैं।

गुण

जैसे परमेश्वर की ज्ञान, क्रिया और माया अभिन्न शक्तियाँ कही जाती हैं, उसी प्रकार पशु से सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण होते हैं और ये तीनों भिन्न रूप से पुरुष में रहते हैं।[2] सुख, दुःख और मोह के परिणाम होकर त्रयोदश करण हो जाते हैं और दश कार्य हो जाते हैं और सुख दुःख का स्वाभाविक अनुभव होता है। ये गुण पुरुष से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं किन्तु प्रत्यभिज्ञा से शून्य पुरुष के स्वरूप का विचार-विमर्श करने पर ये सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण भिन्न-भिन्न ही प्रतीत होते हैं।[3]

इन तीनों गुणों का पशु जीव पर यह प्रभाव पड़ता है कि पशुपति परमात्मा की सत्ता आनन्द व क्रिया है, उससे रहित होकर वह रजोगुण के द्वारा दुःख रूप तथा सतोगुण व तमोगुण में मिलकर सुख-दुःख मोहरूप हो जाता है।[4]

ई. प्र. 2-2-11

(ख) इदानीं विशेष भागो यः किञ्चिदित्युक्तो
.... कलातत्त्वायत्ता सृष्टिः।

(त. सा. पृ. 83)

1. स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
माया तृतीये ते एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः।।
इति क्रमेण सुख दुःख मोहोपलक्षणानि प्रकाशक्रिया नियमनशीलानि सत्त्वरजस्तमांसि।
ई.प्र.वि. 4-1-4
2. भेद स्थितेः, शक्तिमतः शक्तित्वं नापदिश्यते।
एषां गुणानां करण कार्यत्व परिणामिनाम्।।5।।
ई. प्र. का. 4-1-5
3. वहीं विमर्शिनी
4. सत्तानन्दः क्रिया पत्युस्तदभावोऽपि सा पशोः।
द्वयात्मा तद्रजो दुःखं श्लेषि सत्त्वतमोमयम्।।6।।

अभेद दृष्टि वाला प्रमाता पति कहलाता है तथा भेद दृष्टि वाला प्रमाता पशु कहलाता है। पति प्रमाता को सदैव अपने शिवरूप का स्मरण रहता है। पशु प्रमाता केवल उन्हीं पदार्थों के संबंध में आनन्द का अनुभव कर सकता है जिन तक वह अपने अहंभाव को या ममत्त्व भाव को फैला सके। मूर्छा आदि दशाओं में उसे उस सत्ता के आनन्द की अनुभूति का सर्वथा अभाव ही रहता है। जीव भाव की इस संकुचित दशा में उसकी अपनी सत्ता के आनन्द का यह आभास उसका सुख अर्थात् सत्त्वगुण बन जाता है और उस आभास का यह पूरा अभाव उसका मोह, अर्थात् तमोगुण बन जाता है।[1]

ये तीनों गुण माया की भूमिका में प्रमाता के स्वभाव बन जाते हैं। इनका प्रभाव उस पर इतना गहरा पड़ा रहता है, कि वह अपने प्रमेय को भी सुख, दुःख और मोह के ही रूप में देखता रहता है। इससे उसका प्रमेयतत्त्व अर्थात् प्रकृति तत्त्व, त्रिगुणात्मक होता हुआ ही उसे आभासित होता रहता है। इस दशा में यह प्रमेय तत्त्व अभी सामान्य आकार में ही ठहरा रहता है, अभी उसमें विशेष आकार प्रकट नहीं हुए होते हैं। इस सम्यावस्था में पुरुष 'अहं' रूप तथा प्रकृति 'इदं' रूप होती है। गुणों की विषमता होने पर प्रकृति में रूप परिवर्तन अथवा परिणाम उत्पन्न होता है।[2]

भगवान श्रीकण्ठ नाथ यह व्यवस्था करते हैं, जड़ प्रकृति नहीं।[3] स्पन्दकारिकाकार कहते हैं–

गुणादिस्पन्द निःष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात्।
लब्धात्मलाभा सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः।।

ई. प्र. का. 4-1-6

1. (क) सत्तानन्दः क्रिया.................... वही, 4-1-6

(ख) प्रिय पुत्रादेरेकधन एव हि प्रकाशः सुखम्, एकधन एवाप्रकाशो मोहः। यस्तु कथञ्चित् प्रकाशो, यथा सख्याधिकदेहरूप तयाऽनभिमतया, कथञ्चिच्चाप्रकाशो, यथा गतगदकल्याणधर्मितयाभिम-तया, तदेव दुःखम्। ई. प्र. वि. 4-1-6

2. काश्मीर शैव दर्शन - 109

3. स्थूलतामात्रमेव स्यान्न तु लोकोपकारिणी।
रचना नियमेन स्याद् विचित्रा जातिरूपिणी।।

ई. सि. 32, 33

सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुणों के रूप में प्रवाहित गुण स्पन्दों का अनन्त प्रवाह, सामान्य स्पन्द पर ही आधारित है, वे मोक्ष के लिए प्रयत्न करने वाले सिद्ध साधक के मार्ग में बाधा नहीं बनते।[1] किन्तु ऐसे जो प्रमाता हैं, जिनकी बुद्धि पर से अज्ञान का आवरण हटा नहीं है, उन अप्रबुद्ध प्रमाताओं को फंसाने के लिए ये सदैव तैयार रहते हैं। यदि वह अप्रबुद्ध प्रमाता इनके वश में होकर अपने स्वरूप को भूल जाता है तो ये गुण उसे संसार के दुःखमय, कठिनाईयों से भरे मार्ग पर लाकर छोड़ देते हैं।[2]

भगवान श्रीकण्ठनाथ का शरीर गुणमय होता है, वे उसे सूक्ष्म या स्थूल शरीर का रूप दे सकते हैं। इसी गुणतत्त्व में ईश्वर भट्टारक एक अन्य रूप में अवतरित होते हैं, जिसे उमापतिनाथ कहा जाता है। स्वच्छन्द नाथ भी इन्हीं का नाम है। हम जिन्हें पूजते हैं तथा जिनकी महिमा को पुराणों से लेकर आज तक अनेक प्रकार से गाया जाता है, ये वे ही शिव हैं। ये शिव या उमापतिनाथ निग्रह, अनुग्रह की लीला को निभाते हैं।[3]

बुद्धि

बुद्धि प्रकृति का प्रथम कार्य है। यह व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) होती है।[4] बुद्धि के दो प्रकार के अनुभव हैं- (1) बाह्य जो इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है जैसे घट, (2) आन्तरिक संस्कारों द्वारा उद्‌भूत कल्पनाएँ।[5] गुणों की साम्यावस्था रूप प्रकृति में जब क्षोभ उत्पन्न होता है, तब मूल प्रकृति अन्तःकरणों के रूप में प्रकट होती है। उसमें भी सबसे पहले सत्त्वगुणप्रधान महत् तत्त्व प्रकट हो जाता है जो बुद्धि कहलाता है।[6] बुद्धि एक दर्पण के समान है जिसमें सुख, दुःख तमस्, मोह आदि का प्रतिबिम्ब पड़ता है। यहाँ विद्या बुद्धि को देखती हैं।

---

1. स्प. का. 19
2. अप्रबुद्धधियस्त्वेते स्वस्थितिस्थगनोद्यताः।
   पातयन्ति दुरूत्तरे धोरे संसारवर्त्मनि ।।
   वहीं-20
3. का. शै. द. 110
4. तत्र बुद्धिरध्यवसायसामान्यमात्ररूपा, ई. प्र. वि. 3-1-11
5. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् - भूमिका, पृ. 14
6. का. शै. द., पृ. 118

राहुरदृश्योऽपि यथा शशिबिम्बस्थः प्रकाशते तद्वत्
सर्वगतोऽप्ययमात्मा विषयाश्रयणेन धी मुकुरे ।।[1]

प्रतिबिम्बवाद

बुद्धि उस दर्पण के समान है जा अत्यन्त निर्मल है किन्तु वह जड़है, उसमें जो भी प्रतिबिम्ब होगा वह जड़ ही होगा। इसलिए स्वच्छ बुद्धि में विमर्शन का कारण विद्या को माना गया है। सुखादि विषयों को बुद्धि उसी प्रकार प्रदर्शित करती है, जैसे दर्पण अपनी छाया को प्रदर्शित करता है। बुद्धि गुणों की संकीर्णता के कारण जड़ है, वह विवेकपूर्ण विवेचन नही कर सकती है। अभेद में ही भेद की अभिव्यक्ति का आभास होता है।[2] परम शिव ही अपने स्वातन्त्र्य से अपने स्वरूप को छिपाकर संकोच को धारण करता है।[3] पुरुष रूपी प्रमाता भी इस बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है और इससे ही बुद्धि चेतन जैसी प्रतीत होने लगती है। बुद्धि ही उस विषय के नामरूप की कल्पना का साधन बनती है।

विश्व का चैतन्य के साथ संबंध स्थापित करना दर्शनशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत को मानने वाले दार्शनिक इसका भिन्न भिन्न प्रकार से उत्तर देते हैं। चेतन के साथ यदि विश्व का तादात्म्य नहीं माना जाए तो पराद्वैत खंडित होता है तथा माना जाने पर विश्ववैचित्र्य की प्रतीति आहत होती है। इसका समाधान त्रिकदर्शन का प्रतिबिम्बवाद है।[4] इस प्रकार प्रतिबिम्ब के द्वारा

---

1. (अ) बुद्धिं पश्यति साविद्या बुद्धि दर्पणचारिणः ।। त. 9-192
   (ब) प. सा. - 8
2. बुद्धिस्तु गुणसंकीर्णा विवेकेन कथं सुखम्।
   दुःखं मोहात्मकं वापि विषयं दर्शयेदपि ।।
   स्वच्छायां धियि संक्रामन्भावः संवेद्यतां कथम्।
   तथा विनैति साप्यन्यत्करणं पुंसिकर्तरि ।।
   त. 9-195, 196 तथा नीरक्षीरविवेक व्याख्या
3. अभेदभूमिरेषा च भेदश्चेह विचार्यते।
   तस्माद् बुद्धिगतोभावो विद्याकरण गोचरः ।। त. 9-198
4. (क) काश्मीर की शैव परम्परा, आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी, पृ. 38
   (ख) दर्पण बिमबे यद्वत् नगर ग्रामादिचित्रमविभागि।
   भाति विभागेनैव च परस्परं दर्पणादपि च ।।

विश्व वैचित्र्य का आभास होता है। यह विवर्त, परिणाम या विकार से भिन्न है। यही त्रिक दर्शन का आभासवाद है।[1] इसीलिए बुद्धि को 'विभागकलापेक्षिरूप' कहा गया है। वस्तुतः यह परम शिव से भिन्न नहीं है।[2]

प्रश्न उठता है कि बोध तो बुद्धि के बिना होगा नहीं और वह बुद्धि प्रकृति से उत्पन्न होती है इसलिए जड़ है तो फिर जड़ बुद्धि से शिव का क्या सम्बन्ध हो सकता है? इसका उत्तर देते हुए शिवदृष्टि में आचार्य सोमानन्द कहते हैं-

सा बुद्धिर्यत् पुनः सूक्ष्मं सर्व दिक्कं व्यवस्थितम्।
ज्ञानं बोधमयं तस्य शिवस्य सहजं सदा।।

अर्थात् अपरावस्था में जब अभेद का ज्ञान नहीं रहता तब तक प्रमाता के लिए वह बुद्धि होती है किन्तु परावस्था की प्राप्ति होने पर सार्वकालिक, सार्वदेशिक अखण्ड बोधमय ज्ञान होता है।[3] अर्थात् परमशिव के सहजबोध रूप को ही भेद दृष्टि से बुद्धि रूप में देखा जाता है।[4] प्रतिबिम्ब को परात्रिंशिका में चित्र द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया गया है[5]-

---

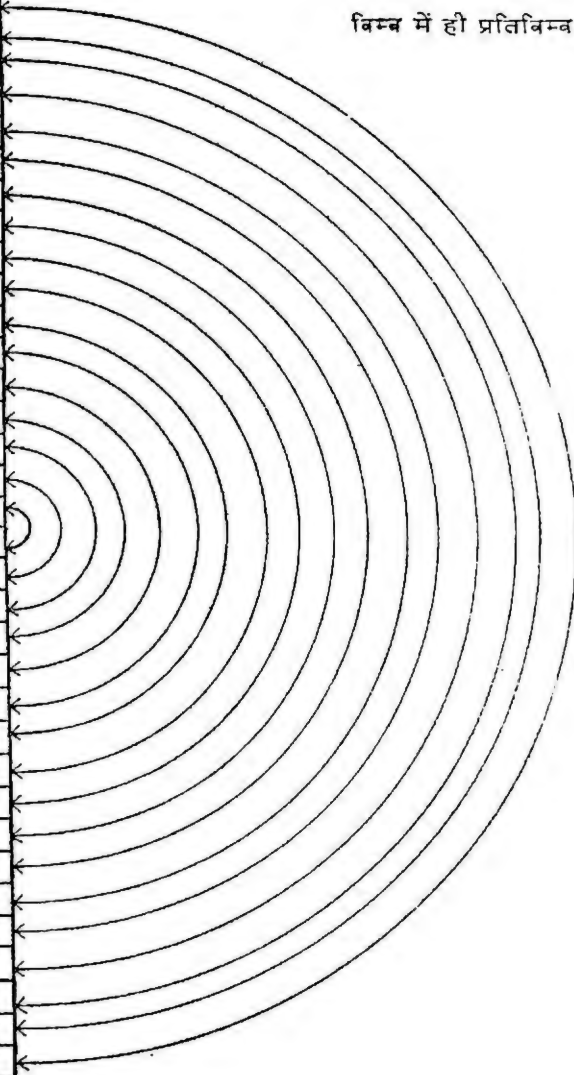
विमलतम परमभैरवबोधात् तद्वद् विभागाशून्यमपि।
अन्योन्यं च ततोऽपि च विभक्तमाभाति जगदेतत्।।

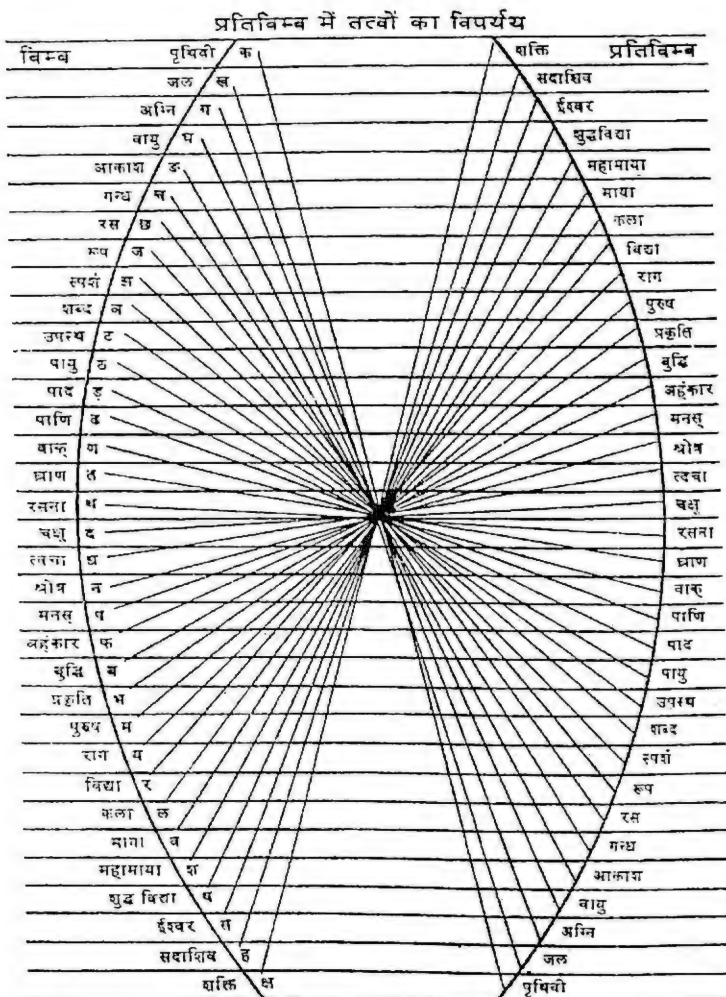
प. सा. 12, 13

1. काश्मीर शैव दर्शन की परम्परा - आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी, पृ. 37
2. परात्रिंशिका, पृ. 109
3. शिव दृष्टि, 1-27
4. 'परमार्थतस्तु स एव क्रमाक्रमरूपविश्वसृष्ट्यादिकृत्यपञ्चकप्रपञ्च स्वभावः प्रकाशते, चेतनो हि स्वात्मदर्पणे भावान् प्रतिबिम्ब वदाभासयति' ई. प्र. वि. 2-4-10
5. प. त्रि. पृ. 234

बिम्ब में ही प्रतिबिम्ब

क	पृथ्वी
ख	जल
ग	अग्नि
घ	वायु
ङ	आकाश
च	गन्ध
छ	रस
ज	रूप
झ	स्पर्श
ञ	शब्द
ट	उपस्थ
ठ	पायु
ड	पाद
ढ	पाणि
ण	वाक्
त	घ्राण
थ	रसना
द	चक्षु
ध	त्वचा
न	श्रोत्र
प	मनस्
फ	अहंकार
ब	बुद्धि
भ	प्रकृति
म	पुरुष
य	राग
र	विद्या
ल	कला
व	माया
श	महामाया
ष	शुद्ध विद्या
स	ईश्वर
ह	सदाशिव
क्ष	शक्ति





इस प्रकार समस्त पदार्थ प्रकाशित होते हैं।[1]

शिव सूत्र के अनुसार 'धीवशात् सत्त्वसिद्धि'[2] अर्थात् जिस प्रकार नाटक में अभिनय के लिए बुद्धिकौशल का उपयोग होता है, उसी प्रकार बुद्धि द्वारा योगी अपने आन्तरिक संवित्-स्पन्द को बुद्धि की सहायता से अभिव्यक्त कर पाता है।

---

1. प. त्रि. पृ. 235
2. शि. सू. - 3-12

बुद्धि को ही 'धी' एवं ऋतम्भरा प्रज्ञा कहा जाता है। योगी को जगदानन्द की प्राप्ति सत्त्वगुण प्रधान बुद्धि द्वारा ही होती है। इस प्रकार बुद्धि ज्ञान का साधन बनती है तथा योगी को स्वतन्त्रता प्रदान करती है। यहाँ स्वतन्त्रता से तात्पर्य है कि ऋतम्भरा प्रज्ञा के जाग्रत होने पर विश्व योगी के वश में होता है। उसकी प्रत्येक इच्छा पूर्ण होती है। वह जब तक चाहे समाधि में बैठ सकता है और स्वप्न में भी स्वरूप में ही स्थित होकर स्वेच्छा से जागता है।

परापर स्वातन्त्र्य दशा में जिस किसी अवस्था में जो कोई इच्छा करता है वह पूर्ण होती है। यदि योगी किसी को वरदान दे या शाप दे तो वह भी उसे तुरन्त फलित होता है। वह जैसी इच्छा करता है वैसा ही स्वप्न देखता है। इस प्रकार के योगी की सुषुप्ति अवस्था भी तूरीयावस्था में बदल जाती है। इसे ही शि. सू. में कहा गया है -

'सिद्धः स्वतन्त्र भावः'[1]

इस अवस्था में योगी सहज समाधि में रहता है। चाहे कुछ भी कार्य करता हो, वह शिवस्वरूप में लीन ही रहता है। इस प्रकार जिसकी बुद्धि सत्त्वगुण प्रधान हो जाए, उस योगी को पुनः अपना चित्त संवित् में ही लगाना चाहिए–

'बीजावधानम्'[2]

तन्त्रालोककार कहते हैं–

उक्तं च कामिके देवः सर्वा कृतिनिराकृतिः।
जल दर्पणवत्तेन सर्वं व्याप्तं चराचरम्॥[3]

अर्थात् शिव ही सर्वाकृति विश्वमय और निराकृति विश्वोत्तीर्ण एक ही हैं। शीशे में जल या घट की तरह प्रतिबिम्बवत् उससे सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। यद्यपि दर्पण अलग वस्तु है, घड़ा अलग वस्तु है। दर्पण में भी घड़ा प्रतिबिम्बित है। शीशे में भासित घड़े व बाहर रखे घड़े में अन्तर यह है कि शीशे में स्थित घड़ा शीशे के अलावा कुछ नहीं। इसी प्रकार प्रकाशात्मक शिव भी स्थावर जंगमात्मक इस विश्व

---

1. शि. सू., 3-13
2. शि. सू. वि. - 3-1213,14
3. त. 1-1-66

को स्वेच्छा से अपने रूप से भिन्नी की तरह प्रतिभासित करते हैं। परन्तु वास्तव में वह शिव ही है। इसीलिए कहा है कि शिव विश्वमय होते हुए भी विश्वोत्तीर्ण है और विश्वोत्तीर्ण होते हुए भी विश्वमय है। चूंकि शिव स्वच्छ है इसलिए वह प्रतिबिम्ब ग्रहण कर लेता है। उसकी प्रमातृता ही दर्पण बन जाती है –[1]

दर्पण बिम्बे यद्वन् नगरग्रामादि चित्रमविभागि।
भाति विभागेनैव च परस्परं दर्पणादपि च।।
विमलतमपरमभैरवबोधात् तद्वद्विभागशून्यमपि।
अन्योन्यं च ततोऽपि च विभक्तमाभाति जगदेतत्।।[2]

परमेश्वर की स्वच्छता उसे निर्मल दर्पण के समान बना देती है। जैसे स्वच्छ दर्पण में भूमि और जल आदि पृथक्–भासमान होते हैं, वैसे ही एक प्रकाश रूप परमेश्वर में यह सारा व्यवहार प्रतिबिम्बवत् दिखाई पड़ता है। स्वात्मव्योम फलक के समान है और उस पर परमशिव सृष्टि संहार रूपी विस्मय जनक आडम्बर का प्रदर्शन करते हैं। प्रतिबिम्ब भी शिव का अपना प्रकाश ही है।[3] जो इस तथ्य को जानते हैं वे विस्मय नहीं करते किन्तु सामान्यजन के लिए तो यह विचित्रताओं का संग्रह है।

इन्द्रियों में तन्मात्राओं का प्रतिबिम्ब द्वारा ही ज्ञान होता है। सारा विश्व तन्मात्रों और इन्द्रियों के व्यवहार से ही अभिव्यक्त है।[4] नयन, दर्पण, अम्बर और

---

1. शिवश्चालुप्तविभवस्तथा सृष्टोऽवभासते।
   स्वसंविन्मातृमुकुरे स्वातन्त्र्याद्भावनादिषु।।

   त. 1-1-73

   तथा–

   खात्मत्वेऽपि विचित्रं निखिलमिदं वाच्यवाचकात्म जगत्।
   दर्पणनगरवदात्मनि विभासयन्विजयते विजयः।।

   त. 1-2 मं.

2. प. सा. - 12, 13
3. निर्मले मुकुरे यद्वद्भान्ति भूमिजलादयः।
   अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः।। तं. 1-2-4
4. रूपादिपञ्चवर्गोऽयं विश्वमेतावदेव हि।
   गृह्यते पञ्चभिस्तच्च चक्षुरादिभिरन्द्रियैः।। उद्धृत त. 1-3-5

जल आदि में वही शक्ति सदृश रूप से अभासित होती है।[1] अम्बर में चान्द्र और सौर तेज के माध्यम से वही प्रकाशित है। उदाहरण के तौर पर किसी किसी को छाया मनुष्य के समान दिखाई देती है, वह रूप का प्रतिबिम्ब ही है। कहा भी गया है कि–

'नभस्थे च तेजसि रूप प्रतिबिम्बयोग:।'[2]

अर्थात् आकाशीय तेज में भी रूप प्रतिबिम्बित होता है। प्रतिबिम्ब के विचार को स्पष्ट करते हुए आचार्य अभिनव कहते हैं–

पृथ्वी जल और तेज में रूपवत्त्व है। पार्थिव दर्पण आदि में, जलाशय में और तेजस अंग आँख में रूप नामक स्वच्छ गुण है। रूप सन्निवेशात्मक संस्थान वहाँ है। इस तरह वहाँ रूप की स्वच्छता के कारण ही रूप का प्रतिबिम्ब प्रतिभासित होता है। स्पर्श आदि का नहीं। स्पर्श आदि आनन्दप्रद इन्द्रियों द्वारा अनुभूत होते ही हैं। उन-उन स्थानों पर स्पर्श आदि के स्वच्छता गुण होते हैं। इसलिए वहाँ वे प्रतिसंक्रान्त होते हैं। यह कहना युक्ति संगत है कि जहाँ जैसा स्वच्छता का गुण है, वहाँ उसी प्रकार का प्रतिभासन होता है। जैसे छिपकर प्रेम करने वाली प्रेमिका अपने प्रेमी का दर्पण में प्रतिबिम्ब देखती है, किन्तु स्पर्श करने पर वह सुख अनुभूत नहीं करती क्योंकि यहाँ पर रूप की स्वच्छता है, स्पर्श की स्वच्छता का अभाव है।[3]

इसी प्रसंग में आगे कहते हैं दर्पण में स्पर्श रूपी स्वच्छ गुण नहीं होता। उसकी स्वच्छता रूप की स्वच्छता है। स्वच्छ ही अस्वच्छ का, दर्पण की तरह मुख का प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है। दर्पण में रूप की स्वच्छता का स्वरूप कैसा है? इसके उत्तर

---

1. सदृशं भाति नयनदर्पणाम्बरवारिषु।
   तथा हि निर्मले रूपे रूपमेवावभासते।
2. उद्धृत त. 1-3-5
3. (क) त. 1-3-6
   (ख) राहुरदृश्योऽपि यथा शशिबिम्बस्थ: प्रकाशते तद्वत्।
   सर्वगतोऽप्यायमात्मा विषयाश्रयणेन धी मुकुरे।।
   आदर्शे मलरहिते यद्वद् वदनं विभाति तद्वद् अयम्।
   शिव-शक्तिपातविमले धी तत्त्वे भाति भावरूप:।।
   प. सा. 8,9

में कहते हैं, वहाँ विजातीयता का सर्वथा अभाव होता है तथा इतनी निरन्तरता होती है कि अन्तराल का अवकाश तक नहीं होता।[1] संवित् में ऐसी शक्ति है कि सभी रूप, रस, गन्ध आदि को ग्रहण कर सके। यह मुख्य नैर्मल्य है, वहीं पर दर्पण आदि में आंशिक निर्मलता होती है। इसमें भी शिव की ही इच्छा एकमात्र कारण है।[2]

मायात्मक भाव स्वच्छता के गुण से युक्त नहीं होते बल्कि सद्विधा में ही स्वच्छता ग्रहण करने की शक्ति होती है। मायात्मक पदार्थ प्रतिबिम्ब रूप होते हैं और ज्ञानात्मक भाव उसके ग्रहण करने वाले होते हैं। परमेश्वर ही विविध बिम्ब-प्रतिबिम्बों को सम्पन्न करता है।[3]

प्रतिबिम्ब में काठिन्य का भी महत्त्व है। दीप और आँख आदि में भी प्रतिबिम्ब ग्रहण सहिष्णुता है किन्तु दर्पण में काठिन्य के कारण प्रतिबिम्ब अनतिरिक्त रहते हुए भी अतिरिक्त की तरह भासित होता है इसी प्रकार जल में चंचलता के कारण स्थिर अवभास नहीं होता। इसीलिए केवल दर्पण में प्रतिबिम्ब की योग्यता है। संविद्, अमूर्त्त है अत: उसमें प्रतिबिम्ब का पृथक्कतया प्रकाशन नहीं होता। दर्पण भी पृष्ठ भाग में मलिन है, उधर स्वच्छता नहीं है अत: प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता।

---

1. न हि स्पर्शोऽस्य विमलो रूपमेव तथा यत:।
   नैर्मल्यं चातिनिविडसजातीयैक संगति:।।
   स्वस्मिन्नभेदाद्भिन्नस्य दर्शनक्षमतैव या
   अत्यक्तस्व प्रकाशस्य नैर्मल्यं तद्गुरुदितम्।।

   त. 1-3-7

2. (क) नैर्मल्यं मुख्यमेकस्य संविन्नाथस्थ सर्वत:।
   अंशांशिकात: क्वाप्यन्यद्विमलं तत्तदिच्छया।।

   वहीं-8

   (ख) पूर्वपक्षतया येन विश्ववमाभास्य भेदत:।
   अभेदोत्तरपक्षान्तर्नीयते तं स्तुम: शिवम्।।

   ई. प्र. वि. मं - 1-2-2

3. भावानां यत्प्रतीधाति वपुर्मायात्मकं हि तत्।
   तेषामेवास्ति सद्विद्यामयं तवप्रतिधातकम्।।10।।
   तदेवमुभयाकारमवभासं प्रकाशयन्।
   विभाति वरदो बिम्बप्रतिबिम्बदृशाखिले।। प्र. 1-3-11

संवित् सब ओर से निर्मल है, स्वप्रकाश है अतः पृथक् प्रतिबिम्ब की वहाँ सम्भावना नहीं रहती।[1] दर्पण से भिन्न प्रतिबिम्ब का कोई देश नहीं है। रूप की धनता भी इसमें नहीं है क्योंकि वह तो मूर्त वस्तुओं में होती है। प्रतिबिम्ब का कोई समय-योग नहीं होता, कोई सीमा नहीं होती। इसका अनेकानेक प्रतिबिम्बित पदार्थों से कोई मेल भी नहीं होता अर्थात् प्रतिबिम्ब उन प्रतिबिम्बित पदार्थों से भी भिन्न है। इसकी कोई अपहानि भी नहीं है। यह प्रतिबिम्ब अवस्तु भी नहीं है। इसका कोई निजी तथ्य या सार नहीं होता इसलिए इस प्रतिबिम्ब रूपी विश्व के प्रति मोह नहीं करना चाहिए बल्कि शुद्ध संवित् रूप परम शिव का ध्यान करना चाहिए।

विश्व उस संवित् से अलग नहीं है।[2] परमेश्वर की निर्मलता स्फटिक के समान कही गई है। हम देखते हैं कि तलवार आदि में प्रतिबिम्ब दो तरफ पड़ता है, दर्पण आदि में एक तरफ पड़ता है, किन्तु स्फटिकमणि में चारों तरफ प्रतिबिम्ब पड़ता है क्योंकि वह अधिक निर्मल है। इसी प्रकार परम शिव में विश्व प्रतिबिम्बित होकर एकाकार दिखाई पड़ता है। यहाँ स्फटिक का उदाहरण नैर्मल्यातिशय के लिए दिया गया है।[3] प्रसंगवश यह विचार करना भी आवश्यक है कि यह नैर्मल्यातिशय है क्या? निर्मलता के अतिशय का तात्पर्य यह है कि वह अवस्था जिसमें अपनी आकृति का भी अवभासन न हो, इस दृष्टि से स्फटिक को स्वच्छतर तथा बोध को स्वच्छतम कहा गया है।[4] परमार्थसार में कहा गया है-

नानाविधवर्णानां रूपं धत्ते यथाऽमलः स्फटिकः।
सुरमानुष पशुपादपरूपत्वं तद्वदीशोऽपि ।।[5]

---

1. दीपचक्षुर्विबोधानां काठिन्यभावतः परम्।
सर्वतश्चापि नैर्मल्यान्न विभादर्शवत्पृथक्।। प्र. 1-3-20
2. तेन संवित्तिमुकुरे विश्वयात्मानर्पयत्।
नाथस्य भासतेऽमुष्य विमलां विश्वरूपताम्।। वहीं, 44
3. यथा च सर्वतः स्फटिके सर्वतो भवेत्।
प्रतिबिम्बं तथा बोधे सर्वतः स्वच्छताजुषि ।।
त. 1-3-47
4. अत्यन्तस्वच्छता सा यत्स्वाकृत त्यनवभासनम्।
अतः स्वच्छतयो बोधो नरत्नं त्वाकृतिहात्।। त. 1-3-48
5. प. सा. 6

चन्द्रमा जैसे जल के हिलने पर हिलता हुआ प्रतीत होता है, वैसे ही परम शिव शरीर आदि में व्यवहार करता है–

गच्छतिगच्छतिजलइव हिमकरबिम्बस्थितेयाति।
तनु–करण–भुवनवर्गे तथाऽयमात्मा महेशानः ।।[1]

स्वधर्म का त्याग न करते हुए पर रूप की अनुकृति ही जिसका स्वभाव है, वही प्रतिबिम्बात्मकता है। वह खड्ग और आदर्श के तल फलक पर पुलकित होती है। प्रतिबिम्ब में स्वरूप का त्याग भी नहीं होता और दूसरे रूप का सादृश्य भी रहता है।[2] अपने से अन्य और अपने आश्रय से मिहित होने के कारण आश्रय से पृथक जिसका अवभासन नहीं हो सके, वही प्रतिबिम्ब है। मुख में दर्पण की छाया पड़ती है, तभी प्रतिबिम्ब है। अन्यत्र प्रतिबिम्ब नहीं है।[3]

अहंकार

विमर्शिनीकार कहते हैं– 'ग्राह्यग्राहकाभिमानरूपोऽहंकारः' अर्थात् ग्राह्य (प्रमेय) और ग्राहक (प्रमाता) में अभिमान करना अहंकार का लक्षण है।[4] बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने के बाद विषय के इस सविकल्प या निर्विकल्प आभास को जीव के साथ सम्बद्ध करने वाली उसकी शक्ति अहंकार है। बुद्धि में निश्चय व अनिश्चय दोनों ही प्रकार के प्रतिबिम्ब पड़ते हैं किन्तु अहंकार के प्रभाव से जीव यह समझता है कि मैं इन्हें जानता हूँ। इसीलिए यह अनुभव होता है कि 'मैं' करता हूँ। यह सीमित अभिमान अहंकार कहलाता है। शैव दर्शन में 'अहं' का विचार उपादेय माना गया है, हेय नहीं। अहं के वास्तविक परमार्थिक रूप को जीव नहीं समझता है जो कि शुद्ध संवित् रूप है।[5]

---

1. प. सा. 7
2. स्वरूपानपहानेन पररूप सदृक्षताम्।
   प्रतिबिम्बात्मतामाहुः खड्गादर्शतलादिवत्।।
   त. 1–3–54
3. प्रतिबिम्बमिति प्राहुर्दर्पणे वदनं यथा।
   वहीं 56
4. ई. प्र. वि. 3–1–11
5. का. शै. दर्शन – पृ. 121

जीव पहले शून्य को तथा फिर प्राण आदि को अहं समझ लेता है। यह कृत्रिम 'अहं' होता है, इसलिए इसे 'अहंकार' कहा गया है।[1] जहाँ मन और बुद्धि का व्यवहार स्वप्न और जाग्रत् दशाओं में ही होता है, सुषुप्ति में भी अहंकार का सूक्ष्मतर रूप काम करता है। तूर्यावस्था में इस रूप का क्षय हो जाता है तथा पारमार्थिक अहं का ज्ञान हो जाता है।[2] यह 'अहं', 'अहंकार' से भिन्न है तथा उपादेय है।

मन

संकल्पादि कारणं मनः अर्थात् संकल्प विकल्प करना मन का धर्म है। अहंकार जब सत्त्व गुण प्रधान बनकर परिणाम को प्राप्त होता है तो उससे मन तथा पाँचों इन्द्रियों की अभिव्यक्ति होती है।[3]

बाह्यकरण

पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पञ्च कर्मेन्द्रियाँ[4]

ज्ञानेन्द्रियों की अभिव्यक्ति अहंकार की सत्त्वगुणप्रधानता की अवस्था में होती है। ज्ञानेन्द्रियाँ पुरुष की अशुद्ध विद्या की तथा कर्मेन्द्रियाँ पुरुष की कला की सहायक बन जाती है। ये सभी करण पुरुष के लिए व्यवहार का साधन होते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा एवं घ्राण। ये बुद्धि में शब्द आदि ज्ञान का निश्चय ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही होता है।[5]

पञ्चकर्मेन्द्रियाँ

कर्मेन्द्रियाँ कर्म में उपयोगी होती है, जैसे कि त्याग तथा ग्रहण करना ये दोनों बाहरी विषय हैं। जो हस्त, पायु एवं पाद है वे तीनों करण कहे जाते हैं। वाक्

---

1. बुद्धितत्वादहंकारो येन बुद्धि प्रतिबिम्बिते वेद्यसम्पर्के कलुषे पुंप्रकाशेऽनात्मनि आत्माभिमानः, शुक्तौ रजताभिमानवत्। अत एव अहंकार इत्यनेन कृतकत्वमस्योक्तम्।
(त. सा. 5-86)
2. का.शै. दर्शन, पृ. 122
3. ई. प्र. वि. 3-1-11
4. बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च, श्रोत्रं, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राणम् इति। ई. प्र. वि. 3-1-11
5. शब्दाद्यध्यवसायरूपायामुपयोगीनि बुद्धीन्द्रियाणि।
ई. प्र. वि. 3-1-11

इन्द्रिय के विषय में कहते हैं- 'अन्त:प्राणे येन क्रियते तद्वागिन्द्रियम्? अर्थात् भीतर प्राण को रोककर जिससे बोला जाता है, वह वाक् इन्द्रिय है। जिसके द्वारा प्रक्षोभ व प्रशान्त क्रिया होती है, वह उपस्थ है।[1]

पञ्चतन्मात्र

अहंकार के तमोगुण प्रधान होने से तन्मात्राओं की अभिव्यक्ति होती है। ये हैं- शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध।[2] तन्मात्राओं के विषय में तन्त्रालोक में सुबोधमञ्जरी से यह श्लोक उद्धृत् किया गया है-

रूपादिपञ्चवर्गोऽयं विश्वमेतावदेवहि।
गृह्यते पञ्चभिस्तच्च चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः।।

सारा विश्व प्रपञ्च इन तन्मात्राओं और इन्द्रियों के व्यवहार में ही उल्लसित है।[3]

पञ्चमहाभूत

ये सूक्ष्म विषय ही परिणाम द्वारा स्थूल बन जाते हैं तो आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी नामक स्थूल भूतों की अभिव्यक्ति हो जाती है।[4]

वस्तुत: सारे तत्त्व परम् शिव से भिन्न नहीं है। इभी घटादि भौतिक जड़ दिखने वाली वस्तुएँ भी उसी एकमात्र परम् शिव के चेतन स्वरूप से बाहर नहीं है, जो कुछ भी है, उसी में समाया हुआ है।[5] 'इदम्' इस प्रकार का जो जड़ परामर्श है वह भी 'अहं' इस संवित् ज्ञान परामर्श में ही विश्राम लेता है।[6]

---

1. ई. प्र. वि. 3-1-11
2. सूक्ष्ममेषामेव रूपं, गन्धो, रसो, रूपं, स्पर्श:, शब्द: इति।ई. प्र. वि. 3-1-11
3. त. 1-2-324
4. स्थूलं कार्यं पृथिवी, आप: तेजो, वायु: नभ:, इति पञ्चभूतनि। ई. प्र. वि. 3-1-11
5. तत्र पृथिव्याद्याभासा एव मिश्रीभूयघटादि स्वलक्षणीभूता:
   कर्मेन्द्रियैरूपसर्पिता, बुद्धीन्द्रियैरालोचिता, अन्त:करणेन सङ्कल्पिताभिमत निश्चितरूपा, विद्यया विवेचिता:, कलादिभिरनुरञ्जिता:, प्रमातरि विश्राम्यन्ति, इति तात्पर्यम्।
   ई. प्र.वि. 3-1-11
6. स्वात्मैव सर्व जन्तूनामेक एव महेश्वर:।
   विश्वरूपोऽहमिदिमित्यखण्डामर्श बृंहित: ।।
   ई. प्र. वि. 4-1-1

सम्पूर्ण प्राणियों की आत्मा शिव ही है। वह सर्वत्र व्याप्त है। सम्पूर्ण विश्व में तत्त्वों को भिन्न-भिन्न रूपों में देखते हुए यह समस्त शिव का ही प्रकाश है, ऐसा जानना ही प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य होना चाहिए। ऐसा व्यक्ति सर्वत्र शिव का ही प्रकाश देखता है तथा जीवन्मुक्त हो जाता है। शिव अपनी इच्छा के बल से ही समस्त अर्थ समूह को प्रकाशित करते हैं-

चिदात्मैवहि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद् बहिः।
योगीव निरूपायदानमर्थजातं प्रकाशयेत्।।[1]



1. वही, 1-5-7

सप्तम अध्याय

बंधन एवं मोक्ष

'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' ग्रन्थ का उद्देश्य ही है ईश्वर की पहचान करके दूसरों को भी उस शिव तत्त्व को आत्मा में जान लेने योग्य बनाना। वस्तुत: कोई बद्ध नहीं है और कोई मुक्त नहीं होने वाला। क्योंकि शिव को मुक्ति की क्या आवश्यकता है? वह तो समस्त व्यवच्छेदों से परे है। आवश्यकता है केवल आवरण हटाने की, ज्ञान का प्रकाश होते ही यह आवरण हट जाता है और साधक शिव रूप में स्वयं को जान लेता है। यही मोक्ष है। शिव स्वयं ही बांधता है और स्वयं ही मुक्त हो जाता है-

तत्र स्वसृष्टेदंभागे बुद्धयादिग्राहकात्मना।
अहङ्कारपरामर्शपदं नीतमनेन तत्।।[1]

अपूर्ण ज्ञान ही बन्धन है। आणव मल शिव स्वरूप का आवरण बन जाता है और अशुद्ध सृष्टि का कारण बनता है। इस अज्ञान की निवृत्ति द्वारा ही साधक को परम ज्ञान की प्राप्ति होती है। मोक्ष का स्वभाव ज्ञान है। साधक परम ज्ञान प्राप्त करके जीवन्मुक्त की स्थिति में जीवन बिताता है और देहपात होने पर विदेह मुक्ति को प्राप्त करता है। स्वयं को शिव रूप में जान लेना ही प्रत्यभिज्ञा है। यही मोक्ष है। मोक्ष में शक्तिपात और गुरु का भी अत्यन्त महत्त्व है। गुरुकृपा और शक्तिपात द्वारा व्यक्ति को अपने शिवत्त्व का ज्ञान हो जाता है और वह पुन: बन्धन में नहीं पड़ता। प्रस्तुत अध्याय में इन बिन्दुओं पर विवेचन किया जायेगा।

I. बन्धन

शिव स्वयं ही बंधता और मुक्त होता है

आचार्य उत्पल के अनुसार शिव के अतिरिक्त कहीं कोई नहीं है तो फिर बन्ध किसका कहा जाए? वह कौन है जो इस प्रपञ्च से छूटने के लिए प्रयत्न करता

---

1. ई. प्र. 4-1-2

है ?[1] आचार्य उत्पल इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं–

स्वस्वरूपापरिज्ञानमयोऽनेकः पुमान् मतः।
तत्र सृष्टौ क्रियानन्दौ भोगो दुःखसुखात्मकः ।।[2]

अपने स्वरूप (शिवरूप) का ज्ञान नहीं होने के कारण अनेक पुरुष मानने लगते हैं। परमशिव स्वयं को देहरूप में संकुचित मानने लगता है अपने पूर्ण स्वरूप को जानते हुए भी अपरामर्शरूप रहता है। वही सुख दुःख आनन्द आदि की कल्पना कर भोगों में फंसता है।

इच्छा ज्ञान व क्रिया शक्ति का सत्वरजस्तमोगुण में परिवर्तन

परमशिव में जो शक्ति इच्छा ज्ञान व क्रिया के रूप में रहती है, पशु जीव में वही शक्ति माया के प्रभाव से, सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण हो जाते हैं।[3] परम शिव में तो शक्तियाँ स्वाभाविक रूप से रहती हैं, किन्तु पशु जीव में ये सुख दुःखमोहात्मक हो जाते हैं। सुख दुःख और माहे के परिणाम होकर त्रयोदश करण हो जाते हैं और दश कार्य हो जाते हैं और सुख दुःखादि का स्वाभाविक अनुभव होता है। सुख दुःख और मोह ये करण कार्य वर्ग से तादात्म्य प्राप्त कर लेते हैं। यह सब प्रत्यभिज्ञा पर्यन्त चलता है –

सत्तानन्दः क्रिया पत्युस्तदभावोऽपि सा पशोः।
द्वयात्मा तद्रजो दुःखं श्लेषि सत्त्वतमोमयम् ।।[4]

अपूर्ण ज्ञान ही बन्धन है[5]

बन्धन का कारण अज्ञान है। अज्ञान का तात्पर्य यहाँ ज्ञान के अभाव से न होकर उस परिमित ज्ञान से है जो सांसारिक जीवों में होता है। यही अज्ञान मल है

---

1. ननु यद्येक एवायं महेश्वररूप आत्मा कस्तर्हि बन्धो यदवमोचनायपमुद्यमः। ई. प्र. वि. 4-1-2
2. ई. प्र. वि. 4-1-3
3. स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
   माया तृतीये ते एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः ।। ई. प्र. 4-1-4
4. ई. प्र. वि. 4-1-6
5. ज्ञानं बन्धः शि. सू. 2

जो शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा के प्रकाश को ढककर बन्धन रूपी अन्धकार में डाल देता है। मल का कारण भी परमशिव की स्वातन्त्र्य शक्ति ही है। शिव लीलावश स्वयं ही अपने स्वरूप का गोपन करते है और तदन्तर मोक्ष के रूप में प्रकाशित करते हैं, यही उनकी स्वातन्त्र्य शक्ति की क्रीडा है। जब शिवरूप में आणवमल द्वारा संकोच उत्पन्न होता है तब उसका सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व भी संकुचित हो जाता है।

इस अवस्था में वह स्वयं को शिवरूप से भिन्न समझने लगता है। यह मायीय मल की अवस्था है। इस भिन्नवेद्यता के फलस्वरूप प्रमाता शुभता और अशुभता का आरोप करता है। उसके कर्म शुभ-अशुभ विकल्पों से युक्त होते हैं। यह कार्ममल है। इससे जीव कर्म फूल बन्धन ग्रस्त होकर संसार संचारी बन जाता है। इससे ही वह बार-बार मरता है। अपने चित्स्वरूप को न जानना ही बन्धन है।[1]

शिव सूत्र के प्रथम व द्वितीय सूत्र को मिलाने पर यह अर्थ निकलता है।[2] यह अज्ञान भी शिव से अभिन्न है। परम शिव ही अपने स्वात्रन्त्र्य गुणं, धर्म के कारण अपने पूर्णज्ञातृत्व और सर्वकर्त्तृत्व का अपहस्तन कर देते हैं, संकोच का आश्रय ले लेते हैं। इसी से अख्याति रूपी आणवमल का आविर्भाव होता है।

आणवमल

आणवमल शिवरूप का आवरण बन जाता है।[3] यह अज्ञान ही सृष्टि में कारण है, मोक्ष में ज्ञान कारण है। 'स्व' स्वरूप अर्थात् (शिव रूप में स्वयं को जानना) की अख्याति अज्ञान तथा ख्याति ज्ञान है।[4]

---

1. का. शै. द. औ. का. पृ. 17, 18
2. चैतन्यमात्मा ज्ञानं च बन्ध इत्यत्र सूत्रयोः।
   संश्लेषतरयोगाभ्यामयमर्थः प्रदर्शितः।।

   त. 1-1-27
3. तत्र पुंसो यदज्ञानं मलाख्यम् तज्जपमप्यथ।
   स्वपूर्ण चित्क्रियारूपशिवतावरणात्मकम्।।
   संकोचिथ विक्रयारूपं तत्पशोरविकल्पितम्।

   वही, 1-1-37
4. वही, त-1-1-5 व्याख्या

माया का फैलाव – सृष्टि का कारण

'योनिवर्ग: कला शरीरम' अर्थात् भेद प्रथा की मूल कारण जो माया है, उसका फैलाव ही बन्धन है। कलातत्त्व से पृथ्वी तत्त्व तक जो विश्व-व्यापार है वही बन्धन का हेतु है।[1] विश्व को शिव से भिन्न देखने का अर्थात् द्वैतज्ञान का आधार वही बहिर्मुखी संवित् है।[2]

तीनों मलों के आवरण से ही जीव संसारचक्र में बंधकर रह जाता है इनको हटाने के लिए किया गया ज्ञान प्राप्ति का प्रयास भैरव रूप या शिव स्वरूप को प्राप्त कराने का हेतु है। 'उद्यमो भैरव:।'

II. मोक्ष की परिभाषा

अज्ञान की निवृत्ति

विशेषेण बुद्धिस्थे संसारोत्तरकालिके।
संभावना निरस्यैतदभावे मोक्षमब्रवीत्।।

अर्थात् संसार के उत्तरकाल में (ज्ञान स्थिति में) अज्ञान नहीं होता, संसार के निरस्त होने पर (पौरुष ज्ञान के उदय होने पर) मोक्ष होता है।[3]

मोक्ष का स्वभाव ज्ञान है

यही पूर्ण ख्याति है तथा अख्याति का अभाव है।[4] जब प्राणी ऐसा अनुभव करता है कि मैं राग आदि से मुक्त हूँ, शुद्ध हूँ, आन्तरिक कश्मलों से मुक्त हूँ, कर्तृत्व आदि अहं भाव से मुक्त हूँ, इस प्रकार का ज्ञान परिमित बन्धन से उन्मुक्त कर देता है।[5]

---

1. ज्ञानाधिष्ठानंमातृका- शि. सू. 1-3
2. वही 4, 5
3. त. 1-1-24
4. तत्त्वज्ञानमात्रस्वभावम् अख्यात्यभाव: एव हि पूर्णा ख्याति:, सैव च प्रकाशानन्दधनंस्यात्मनस्तात्त्विकं स्वरूपं, तत्प्रथमेव मोक्ष इति। त. 1-1-24 व्याख्या
5. रागाद्यकलुषोऽस्म्यन्त: शून्योऽहं कर्तृतोज्झित:।
   इत्थं समासव्यासाभ्यां ज्ञानं मुञ्चति तावत:।।33।।

   त. 1-1

सभी दर्शन इस विषय में एकमत है कि मोक्ष उपादेय है तथा जगत् या जड़ हेय है। मिथ्याज्ञान संसार का कारण है तथा तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। तत्त्वज्ञान होने पर ही अज्ञान दूर होता है तथा मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। किन्तु सभी दर्शन ज्ञान व अज्ञान के स्वरूप का निश्चित स्वरूप नहीं बता पाते हैं तथा भिन्न-भिन्न मतों को मानते हैं। शैव दर्शन यह मानता है कि अज्ञान रूपी मल ही बन्धन प्रदान करते हैं।[1] यह अज्ञान अपूर्ण ज्ञान है।

मोक्षप्राप्त साधक की स्थिति

जब साधक परम शिव को उसके सर्वव्यापक रूप में जान लेता है, तब देह, प्राण आदि में प्रमाताभाव का संस्कार समाप्त हो जाता है तथा शैव समावेश का उल्लास होता है जो दिक् तथा काल से अकलित होता है। तीनों कालों से समय विभाजन हम व्यवहार से करते हैं, उसकी कल्पना भी उस स्थिति में नहीं होती।[2] उस मोक्ष की परम अवस्था में जरा-मरण का भय नहीं सताता, किसी रोग का भय नहीं रहता, किसी प्रकार की बाधाएँ नहीं होती, मृत्यु का वहाँ अस्तित्व ही नहीं है, काल की सीमाओं से परे ऐसी वह मोक्ष की अवस्था है।[3]

एक बार साधक को मोक्ष प्राप्त हो जाये तो वह अवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है।[4] इसीलिए कहा है कि शैव सिद्ध अन्य प्रकार के मोक्ष प्राप्त करने वालों से श्रेष्ठ होता है। यह मार्ग अन्य सभी साधना पद्धतियों से श्रेष्ठ है। शिव ज्ञान का

---

1. इह तावत्समस्तेषु शास्त्रेषु परिगीयते।
अज्ञानं संसृतेर्हेतुर्ज्ञानं मोक्षैककारणम्॥
मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम्।
इति प्रोक्तं तथा च श्रीमालिनीविजयोत्तरे॥

त. 1-1-64

2. देहप्राणादिप्रमातृतासंस्कारन्यक्कार पुरःसरसमावेशदशोल्लासेन दिक्कालाद्यकलिततया 'स्फुरतात्' कालत्रयावच्छेदशून्यत्वेन विकसतात्।

त. 1-1-1

3. वहीं, उद्धृत श्लोक
4. सर्वाध्वनो विनिष्क्रान्तं शैवानां तु परमं पदम्।
शैव सिद्धो भाति मूर्धीतरेषां मुक्तः सृष्टौ पुनरभ्येतिनाधः।

त. 1-1-34 व्याख्या

विषय शक्ति के द्वारा बनते हैं। यह अनुभव वैसा ही होता है, जैसे कि रसना से सम्पर्क न होने पर भी किसी वृक्ष विशेष के विषय में ऐसी प्रतीति होती है कि यह खट्टे फलवाला या मीठे फल वाला है। इसी प्रकार 'नाद' 'बिन्दु' आदि शक्तियों के द्वारा शिव ज्ञात हो जाते हैं।[1] ज्ञान शक्ति के ज्ञान से वह परम पुरुष ज्ञात हो जाता है।[2]

इदन्ता को दबा देने पर कृत्रिम अहंभाव के परामर्श से 'मैं देवदत्त हूँ, 'मैं चैत्र हूँ' इस प्रकार से प्रकाशित होता है।[3]

शिवरूप की विस्मृति

भेददशा में जीव शिवरूप को भूलाकर अनेक पुरुष मानने लगता है। इस प्रकार की सृष्टि में क्रिया तथा आनन्द है और सुख दुःखात्मक भोग होता है।[4] परमेश्वर में जो ज्ञान, क्रिया, माया बनकर रहती हैं, वे ही शक्तियाँ जीव में सत्त्वगुण, रजोगुण व तमोगुण हो जाती हैं।[5] तीनों गुण भी शिव की शक्तियों का ही परिवर्तित रूप हैं।

आत्मज्ञान

सर्वोममायं विभव इत्येवं परिजानतः।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता।।[6]

---

1. रसाद्यनध्यक्षत्वेऽपि रूपादेव यथा तरूम्।
   विकल्पो वेत्ति तद्वत्तुनादबिन्द्वादिना शिवम्।।
   त. 1-1-77
2. वहीं, व्याख्या
3. विमर्शिनी 4-1-2
4. स्वस्वरूपा परिज्ञानमयोऽनेकः पुमान् मतः।
   तत्त सृष्टौ क्रियानन्दौ भोगो दुःख सुखात्मकः ।।3।।
   ई. प्र. वि. 4-1-3
5. भेदस्थिते शक्तिमतः शक्तित्वं नापदिश्यसे।
   एषां गुणानां करणकार्यत्वपरिणामिनाम्।।5।।
   वहीं
6. ई. प्र. वि. 4-1-12

यह सारा मेरा ही वैभव है, जब इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है, तब विकल्प चाहे उदय होते रहें, महेश्वर भाव बना रहता है, इस स्थिति में विकल्प भी शिवरूप ही है, यह भी ज्ञान हो जाता है। यह जीवन्मुक्त की अवस्था है। बंधनग्रस्त व्यक्ति साधारण प्रमेय को भेददृष्टि से देखता है, किन्तु मुक्त पुरुष अपने से अभिन्न मानता है।[1]

ऐसा योगी शिव को अक्षर शरीर वाले परम तत्त्व के रूप में जानता है जिसमें अनन्त तत्त्वों का समूह छिपा रहता है।[2] शिव सूत्र में कहा भी गया है- 'वितर्क आत्मज्ञानम्' अर्थात् विश्वात्मा शिव मैं ही हूँ इस प्रकार का विचार ऐसे योगी को होता है।

शिव व्याप्ति सम्पन्न योगी को जैसे स्वरूप में अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही उसे जागृत तथा स्वप्न अवस्थाओं में भी स्वरूप का ज्ञान रहता है। योगी आत्मा के साथ एकरूप होकर स्वभाव से ही चित्स्वस्वरूप के समुद्र में डूब जाता है। वह स्वयं आसनस्थ हो जाता है तथा आत्मा के साथ एकाकार होकर रहता है। ऐसे योगी को आसन के लिए किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता। वह सहज रूप से समाधिस्थ रहता है। ऐसा योगी स्वतन्त्र हो जाता है। अपनी इच्छानुसार वह कुछ भी उत्पन्न व नष्ट कर सकता है। उसकी शुद्ध विद्या निरन्तर रहती है जिसके बल से वह शाम्भवपद पर ठहरा रहता है, यही सहज समाधि है। विद्या अविनाशी हो जाती है, किन्तु जन्म-मरण का नाश हो जाता है, मुक्त साधक जन्म-मरण के चक्रव्यूह से छूटकर परमपिता की गोद में आ जाता है। फिर कभी उस बन्धन में नहीं जाता।[3]

---

1. मेयं साधारणं मुक्तः स्वात्माभेदेन मन्यते।
   महेश्वरो यथा बद्धः पुनरत्यन्तभेदवत्।।

   ई. प्र. वि. 4-1-13

2. सर्वथात्वन्तरालीनान्ततत्त्वौधनिर्भरः।
   शिवः चिदानन्दधनः परमाक्षरविग्रहः।।

   ई. प्र. वि. 4-1-14

3. आसनस्थः सुखं हृदे निमज्जति।
   स्वमात्रा निर्माणमापादयति।।
   विद्याऽविनाशे जन्मविनाशः।। शि. सू. 3-16, 17, 18

योगी के मार्ग में बाधाएँ भी बहुत आती हैं पीठेश्वरियाँ या धोरतरी शक्तियाँ योगी को द्वैत मार्ग की ओर ले जाने के प्रयास करती है। योगी इस व्यवधान के कारण बहिर्मुखता को प्राप्त होकर प्रमादग्रस्त हो जाता है। सजग साधक को इन व्यवधानों से बचने के लिए जाग्रत् आदि अवस्थाओं में शुद्धविद्या का प्रकाश फैलाते रहना चाहिए।

कुवर्गादिषु माहेश्वर्याद्याः पशुमातरः।
त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम्।।[1]

मुक्त साधक की स्थिति को उत्पल ने शिवस्त्रोतावली में अत्यन्त मर्मस्पर्शी पद्यों में कहा है–

हे जगदीश!
तुम्हारे भक्तजन तुम्हें ब्रह्माण्ड में पाने के बाद
तुममें ही ब्रह्माण्ड को पाते हैं, विश्व में उनकी पहूँच से परे कुछ भी नहीं है।
हे परमेश्वर!
सांसारिक जीवन का मार्ग भी उन भक्तों के लिए परमानन्दमय बन जाता है।
जिन्हें तुम्हारा आशीर्वाद प्राप्त है और जो तुम्हारे परिमण्डल में रहते हैं।
हे नाथ!
केवल वे जो उत्तप्त भक्ति
आनन्द में निमज्जित हैं
तुम्हारे असीम
आनन्द–सागर का सत्त्व जानते हैं।
हे प्रभो!
वाणी में, विचार में,
चित्त के बोध में,
और देह की भाव–भंगिमा में,
हर समय, प्रत्येक स्थान में

1. शि. सू. 19, 20

भक्ति ही प्रत्येक स्थान में
भक्ति ही मेरा सहचर हो।
यही मेरी विनती है।[1]

ऐसा योगी अपने स्वरूप को तथा ज्ञान व क्रिया को सम्यक् रूप में जानता है तथा अपने अभीष्ट परम शिव को भी सम्यक् रूप में जानता है तथा वैसा ही व्यवहार करता है।[2] वह योगी प्रमेय विषय में परामर्श पद का विश्राम कराता हुआ, अपने विश्वकर्तृत्वरूप ऐश्वर्य को देखकर, निरन्तर शिवमय स्वरूप में लीन होकर सिद्ध हो जाता है।

'शुद्ध तत्त्वानुसंधानाद्वा अपशुशक्तिः'[3]

शरीर आदि को शिवस्वरूप ही मानता हुआ ऐसा योगी देहाभिमान से रहित होता है।[4] उसे विश्व के सभी प्राणियों में सभी वस्तुओं में शिव ही दिखाई देते हैं, सृष्टि के प्रत्येक कार्य को वह शिव के स्वातन्त्र्य के रूप में देख लेता है।

जीवन्मुक्त साधक के प्रकाश का आवरण हट जाता है तथा उसे स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है।[5] पहले जीव सीमाओं से बंधा हुआ स्वयं को अनुभव करता है, वही जब मल द्वारा असमर्थ बने हुए स्वरूप को त्यागकर ज्ञान रूप में लीन होता है तब उसे परमपद की प्राप्ति होती है।[6] वह योगी तो सदा अपनी आत्मा को ही

---

1. उद्धृत शि. स्त्रो. से नीलेश्वरी अंक 15-1-1993
2. एवमात्मानमेतस्य सम्यग्ज्ञानक्रिये तथा।
   जानन्यथेप्सि तान्पश्यञ्जानाति च करोति च।।
   ई. प्र. वि. 4-1-15
3. (क) शि. सू. 1-16
   (ख) तदत्र निदद्यत्पदं भुवनकर्तृतामात्मनो।
   विभाव्यं शिवतामयीमनिशमाविशन् सिद्धयति।।
   ई. प्र. वि. 4-1-16
4. "देहे विमुक्त एवास्मि......"
   त. 1-1- मंगलाचरण
5. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।।
   पा. यो. सू. साधनापाद - 52
6. निजशुद्धयासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः।

देखता हुआ अपने में लीन रहता है, वह आवागमन के चक्कर में कैसे पड़ सकता है।[1] योगी के हाथ में जैसे समस्त विश्व का साम्राज्य आ जाता है। फिर भी वह उसमें नहीं बंधता।[2]

स्पन्दकारिका में आचार्य नीलकण्ठ गुर्टु ने मोक्ष प्राप्त साधक का अत्यन्त हृदयहारी वर्णन किया है–

"ऐसे योगीश्वर की आत्मा, पञ्चकञ्चुक की सीमाओं को लांघ कर, भेद रहित विश्वात्म भाव के उन्मुक्त आकाश में विचरण करने लगती है। वह अपने ही चिन्मात्ररूप को सर्वत्र उपलब्धा या अधिष्ठाता के रूप में अनुभव करने लगी है। ऐसी मुक्तात्मा के लिए कभी भी आवागमन के बन्धन में फँसजाने का प्रश्न ही नहीं उठता है क्योंकि एक बार पिंजरे का द्वार खुल गया, उन्मुक्त होने के लिए युगयुगों से तड़पता हुआ, विहंगम उड़ कर शून्य में खो गया, अब वह आकर फिर उसी पिंजरे का बन्दी बन जायेगा ऐसी कल्पना करना व्यर्थ है।[3]

साधक का अपने में लीन या अन्तर्मुखी हो जाना क्रममुद्रा कहलाती है।[4] क्रममुद्रा शब्द के दो भाग हैं– क्रम तथा मुद्रा। 'क्रम' शब्द से संवित् रूप में ही सृष्टि, स्थिति और संहार के क्रम का और 'मुद्रा' शब्द से मुद्रित करने का अर्थात् स्वरूप में ही विश्रान्त करने का अभिप्राय यह लिया जाता है। फलतः 'क्रममुद्रा' स्वतः तुरीया रूपा होने के कारण, प्रत्येक प्रकार के क्रम को, ग्रास करने के क्रम से स्वरूप में ही विश्रान्त कर लेती है। यह नित्य समाधिकी दशा है जो अन्तः रूप में या बाह्य रूप में समान रूप

यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम्।।

स्प. का.-1

1. तमधिष्ठातृभावेन स्वभावमवलोकयन्।
स्मर्थमान इवास्ते यस्तस्येयं कुसृतिः कुतः।

स्प. का. - 11

2. योगी स्वच्छन्दयोगेन स्वच्छन्दगतिचारिणा
स स्वच्छन्द पदेयुक्तः स्वच्छन्दसमतां व्रजेत्।।

स्व. त. 7-257, 58

3. (क) स्व. का - व्याख्या - 11 पृ. 69
(ख) इयमेवामृतप्राप्तिरयमेवात्मनो ग्रहः।
इयं निर्वाणदीक्षा च शिवसद्भावदायिनी।। स्प. का. 32

4. क्रममुद्रया अन्तः स्वरूपया बहिर्मुखः समाविष्टो भवति साधकः। प्र. हृ. सू. - 19

से आनन्द का वितरण करती है, अख्याति के द्वारा उत्पन्न पाशों को काट देती है और सारे बाह्य अवभास को आभ्यन्तर तुरीयसत्ता में मुद्रित करती है।[1]

बार-बार अभ्यास कर लेने से सिद्ध योगी निर्विकल्प भाव को प्राप्त कर लेता है, उसके सभी विकल्पों का क्षय हो जाता है।[2] वह शिव के समान हो जाता है।[3] इस दशा में साधक को इस प्रकार की अनुभूति होती है- सारा प्रपञ्च मुझसे ही उदित है, मुझमें ही प्रतिबिम्बित है और मुझ से अभिन्न है-

मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम्।
मदभिन्नमिदं चेति त्रिधोपायः स शाम्भवः।।[4]

मोक्ष प्राप्ति प्रत्येक व्यक्ति को क्यों नहीं होती, परम शिव का ही सब रूप हैं तो ऐसा क्यों है कि मोक्ष सबको प्राप्त नहीं होता, कुछ भाग्यशाली योगी ही इसे पा सकते हैं। इसके उत्तर में तन्त्रालोक का यह उद्धरण दृष्टव्य है-

पूजकाः शतशः सन्ति भक्ताः सन्ति सहस्रशः।
प्रसादपात्रमाश्वस्ताः प्रभोर्द्वित्रान पञ्चषाः।।

पूजक सैंकड़ों होते हैं और भक्त हजारों होते हैं किन्तु उनमें से एक या दो ही साधक परमेश्वर के अनुग्रह को प्राप्त कर पाते हैं।[5] इस प्रकार का साधक सदैव परम तत्त्व साक्षात्कार में लीन रहता है। वह मानों सुषुप्ति में स्थित होकर भी जागृत है और जाग्रति के चिह्नों से भी रहित है उसका ज्ञान वासनाओं से पूर्णतया रहित है ऐसा साधक ही जीवन्मुक्त कहलाता है।[6]

---

1. (क) सृष्टि स्थिति संहतिसंविच्चकात्मकं क्रमं मुद्रयति, स्वाधिष्ठितम् आत्मसात् करोति येयं तुरीया चितिशक्तिः... वहीं
   (ख) अस्मिंश्च यागे विश्रान्तिं कुर्वतां भवडम्बरः।
   हिमानीव महाग्रीष्मे स्वयमेव विलीयते।।
   (त. 4-277)
2. भूयो भूयः समावेश निर्विकल्पमिमं हितः।
   अभ्थेतिभैरवीभावं जीवन्मुक्त्यपराभिधम्।। त. 1-3-271
3. 'शिव तुल्यो जायते' - शि.सू. 3-25
4. त. 1-3-280
5. त. 1-3-288
6. (क) यो जागर्ति सुषुप्तस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते।

मुक्त साधक का जीवन सहज साधना की स्थिति में ही चलता हे उसे मोहमाया के बन्धन बांध नहीं सकते। वह केवल प्रारब्ध की समाप्ति तक देह में स्थित रहता है। शिवसूत्र के अनुसार-

'शरीर वृति र्व्रतम्।।'[1]

ऐसे योगी की 'शिवोऽहं' भावना निरन्तर बनी रहती है। इससे देह का अभिमान छूट जाता है। देह-प्राण आदि में रहते हुए भी योगी शिव में लीन रहता है। जैसे अग्नि की लपटं आकाश में लीन होती दिखाई देती हैं वैसे ही देह, प्राण आदि में ठहरी हुई योगी की आत्मा शिवस्वरूप में लीन हो जाती है। योगी की देह में प्राण प्रदीप्त में प्रज्वलित होता है।[2] वह मुक्त योगी अपने आत्मा में निरन्तर आनन्द रस का आस्वादन किया करता है।[3]

यही मुक्त साधक की परा भक्ति है। मुक्त योगी के शरीर की जो भी स्थिति होती है, वही उसका व्रत है। योगी का ज्ञान ही उसकी भक्ति है। अपने में शिव को जानना ही पराभक्ति है-

अन्तरूल्लसदच्छाच्छभक्ति पीयूषपोषितम्।
भवत्पूजोप योगाय शरीरमिदमस्तू मे।।

उत्पल कहते हैं हे शङ्कर! भीतर संवित् में मग्न हुए अत्यन्त निर्मल भक्तिपीयूष अर्थात् समावेश- अमृत से पाला-पोसा गया यह मेरा शरीर आपकी पूजा के काम आ जाये। अर्थात् आप चिदानन्दधन में विलीन हो जाये।[4]

यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते।।

योगवासिष्ठ 3-9-7

(ख) केतकी कुसुमसौरभे भृशं भृङ्ग एव रसिको न मक्षिका।
भैरवीय परमाद्वयार्चने कोऽपि रज्यतिमहेशचोदितः।।

त. 9-276

1. शि. सू. 3-26
2. शि. सू. 3-26 हि. व्या.
3. संसिद्धस्य फलं त्वेतज्जीवन्मुक्तस्य योगिनः।
बहिरन्तः सदानन्दरसास्वादनमात्मनि।। विवेकचूड़ामणि-419
4. शि. स्तो. 17-26

ज्ञान और भक्ति अन्योन्याश्रित है। ज्ञान व्यक्ति सब जगह शिव को देखता है, यही उसका ध्यान, दर्शन, पूजा हो जाता है-

यद्यथास्थितपदार्थ दर्शनं
युष्मदर्चनमहोत्सवश्च यः।
युग्ममेतदितरेतराश्रयं
भक्तिशालिषु सदाविज्रम्भते।[1]

ऐसा योगी जो भी बोलता है वह जप ही है आत्मज्ञान ही दान है।-

'कथां जपः।।
दानमात्मज्ञानम्।।'[2]

जीवन्मुक्त साधक स्वाभाविक विमर्श पर आरूढ़ होता है तथा निरन्तर पूर्ण अहंता का अनुभव योगी को होता रहता है, वही नाद है-

भूयोभूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा, जप्य ईदृशः।।[3]

वास्तव में जप, पाठ, पूजा, ध्यान, होम, यज्ञ, याग तीर्थाटन आदि विविध कर्मकाण्डीय विधियों का विस्तार इस परम तत्त्व की दृष्टि से न होकर बाह्य स्थूल दृष्टि से किया गया है। अद्वैत दृष्टि युक्त योगी के लिए इन क्रियाओं की कोई आवश्यकता नहीं है। आत्मा में परम शिव का साात्कार होने के बाद जो अनहद नाद निरन्तर चलता है वही जप है-

तत्स्वरूपं जपः प्रोक्तो भावाभावपदच्युतः।[4]

वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति के साथ जप करता है। सकार के साथ प्राण का प्रवाह बाहर जाता है और हकार से पुनः अन्दर प्रवेश करता है। इस प्रकार हंस-हंस मन्त्र का जाप जीव करता है किन्तु योगी इस मन्त्र को सुषुन्ना द्वार में उल्टा कर सोऽहं सोऽहं मन्त्र निरन्तर जपता है। इसे ही मन्त्र योग कहते हैं। दिन और रात में प्राण

---

1. वही, 3-7
2. शि. सू. 3-27, 28
3. वि. भैरव, 142
4. त. 1-10

और अपान की इस गतिशीलता में इस हंस मन्त्र का 21600 बार जप पूरा होता है-

सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत् पुनः।
हंस-हंसत्यमु मन्त्रं जीवो जपति नित्यशः।।
षट्शतानि दिवारात्रत्तौ सहस्त्राण्येकविंशति।
जपो देव्याः समुद्दिष्टः प्राणस्यान्ते सुदुर्लभः।।[1]

ज्ञानी पुरुष को किसी प्रकार का भय नहीं रह जाता। उसे ज्ञात है कि न मैं बंधूगाँ न मुझे पुनः मोक्ष की चिन्ता करनी है, वह सर्वथा भयमुक्त होकर आनन्द से रहता है-

न मे बन्धो न मोक्षो मे भीतस्यैता विभीषिकाः।
प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेर्जत्येष्विव विवस्वतः।।

त्रिगुणातीत पथ पर विहार करने वाले योगियों के लिए विधि क्या है, और निषेध क्या? जैसे फूस का बनाया पुतला खेत में खड़ा कर दिया जाये तो वह पक्षियों को डरा कर उनसे अनाज की रक्षा कर सकता है, किन्तु, जंगलों में भी तोड़-फोड़ मचा देने वाले हाथियों का क्या कर लेगा। इसी प्रकार बन्धन मोक्ष का भय ज्ञानी पुरुष को भयभीत नहीं कर सकता।[2]

विदेहमुक्ति

योगी अपने शरीर द्वारा समाधि का अभ्यास करता हुआ उसमें जब तक लीन नहीं होता, तब तक देह रहते हुए जीवन्मुक्त कहलाता है, देह भी न रहे पर विदेहमुक्ति हो जाती है और वह परमेश्वररूप ही हो जाता है-

'फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना'

मोक्ष के उपाय

यद्यपि संविद् शाश्वत् और अखण्डतत्त्व है तथा उसमें भेद नहीं है, फिर भी भेद दिखाई देता है, क्योंकि साधना के प्रभाव से जिस क्रम में आणव मल नष्ट

---

1. वि. भै. 153, 154
2. वि. भै., 132

होता है, उस-उस क्रम से भिन्नता का अनुभव होता है। इसीलिए शिव अनेक रूपों में विभक्त दिखाई देता है, वस्तुतः वह अभेद रूप ही है।[1]

विश्वभावों के निर्विकल्प भावमय स्वरूप को जान लेने से प्राणी को पूर्ण ज्ञान होता है।[2]

क्रिया ज्ञान से भिन्न नहीं है। ज्ञान मोक्ष को प्राप्त कराता है। ज्ञानयुक्त क्रिया दीक्षा है जो परम पद को प्राप्त कराती है।[3] मोक्ष कोई अन्य तत्त्व नहीं है, बल्कि अपने स्वरूप का ही ज्ञान करना मोक्ष को प्राप्त कर लेना है।[4] आत्मा ही परमात्मा है, सर्वत्र शिव तत्त्व का ही स्फुरण है, कण-कण में वही एक परमात्मा समाया हुआ है, तो फिर उससे अलग कौन व क्या हो सकता है? तन्त्रालोक में आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं मोक्ष आत्मा की ज्योति है, अपने स्वरूप का ज्ञान है, अज्ञानियों के लिए वैचित्यपूर्ण चित्राकार है।[5]

---

1. संविद्रूपे न भेदोऽति वास्तवो यद्यपि ध्रुवे।
तथाप्यावृतिनिर्ह्रासतारतम्यात्स लक्ष्यते।।

त. 1-1-38

तथा

उच्यते वस्तुतोऽस्माकं शिव एव यथाविधः।
स्वरूप गोपनं कृत्वा स्वप्रकाशः पुनस्तथा।।

त. 1-1-223

2. उच्च साक्षाद्रुपायेन तदुपायाबिनापि च।
प्रथमानं विचित्राभिर्भगीभिरिह भिद्यते।।

त. 1-1-42

तथा

तत्राद्ये स्वपरामर्शे निर्विकल्पैकधामनि।
यत्स्फुरेत्प्रकटं साक्षात्तदिच्छाख्यं प्रकीर्त्तितम्।।

त. 1-1-46

3. दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैव धाम नयत्यपि

उद्धृत - त. 1-1-155

4. मोक्षोहि नाम नैवान्यः स्वरूप प्रथनं हि सः।
स्वरूपं चात्मनः संविन्नान्यत्रत्र तुया पुनः।।

त. 1-1-156

5. आत्मज्योतिः स्वभाव प्रकटनविधिना तस्य मोक्षः संचाय।

मोक्ष–उपाय प्रणव

ॐ शिव का वाचक है, ॐ ही आदिबीज है, ॐ चिरन्तन शब्द है, अविनाशी नाद है। एक दिन चाहे सारा विश्व लुप्त हो जाए, पर यह बीजभूत नाद फिर भी बना रहेगा। यह शाश्वत है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि कहते है–

जब दृश्य अग्नि अदृश्य होकर
काष्ठ होकर छिपी रहती है,
तो दिखती नहीं।
फिर भी उसका सुक्ष्म रूप
अनाहत रहता है
और वह अग्नि ही है।
काष्ठ को, अग्नि के स्त्रोत को, घिसने से
अग्नि प्रकट हो जाती है।
इसी प्रकार, इसी शरीर में रमने वाले
सत्य को, ब्रह्म को,
ॐ के द्वारा जान लेना चाहिए।

ॐ चिरन्तन शब्द है। जब इसका जप किया जाता है तो मन की शुद्धि होती हैं कहा भी गया है– ''यह आदि शब्द पहले था, अब भी है और आगे भी रहेगा। यह एक सुक्ष्म बीज है, इसी बीज से बस कुछ प्रकट हुआ है जैसे एक छोटे से बीज में कितने ही पेड़–पौधे छिपे रहते हैं वैसे ही इस नन्हें से बीज से यह सम्पूर्ण विश्व प्रकट हुआ है।

हे प्रभु, तुम्हारा घर कितना छोटा है, फिर भी पूरे ब्रह्माण्ड में तुम समाये हुए हो! तुम्हारा घर कितना छोटा है– एक नन्हा सा बीज, एक आदि नाद–फिर भी तुम कितने रूप–आकारों में आविर्भूत हो, और तुम्हारे अन्दर से कितने नाद गूँजते हैं! तूम ब्रहा हो। तुम परब्रह्म हो!''[1]

चित्राकारस्य चित्रः प्रकटित इह तत्संग्रहेणार्थ एषः ।।

त. 1-1-330

1. नीलेश्वरी, मार्च, 1993

III. प्रत्यभिज्ञा

जैसा कि नाम से ही विदित है 'प्रत्यभिज्ञा' का 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' में विशेष स्थान है। प्रथम कारिका में ही 'प्रत्यभिज्ञा' शब्द का प्रयोग हुआ है-

कथञ्चिद् आसाद्य महेश्वरस्य
दास्यं जनस्याप्युपकारमिच्छन्।
समस्तसम्पत्समवाप्ति हेतुं
तत् प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि ।।1।।

मैं लोकोपकारेच्छा से, भगवान् महेश्वर के उस दास्य भाव को जो समस्त-सम्पत्तियों को प्राप्त करने में एकमात्र हेतु भूत (कारणभूत) है, किसी प्रकार यथा कथञ्चित् प्राप्त करके उस प्रत्यभिज्ञा को उपपादित कर रहा हूँ।

इस प्रथम कारिका की व्याख्या (विमर्शिनी) में प्रत्यभिज्ञा पदार्थ को निम्न प्रकार व्याख्यायित किया गया है -

प्रतीपम् आत्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाश: "प्रत्यभिज्ञा"। इस प्रत्यभिज्ञा पद में पदत्रय का समुदाय है वे पदत्रय - "प्रति+ अभि+ज्ञा" इस प्रकार है। इन तीनों का अर्थ निम्न प्रकार समझना चाहिए। प्रति शब्द का अर्थ तो विमर्शिनी कार "प्रतीप" करते हैं। और अभि शब्द अभिमुख्य अर्थ है और ज्ञा शब्द का ज्ञान या प्रकाश अर्थ है। आचार्य ने उक्त लक्षण द्वारा - पूव में ज्ञात बीच में विस्मृत पुन: अभिमुखता वश होने वाला, "ज्ञान" प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है। (प्रतीप शब्द विरूद्ध, प्रतिकूल विपर्यस्त विकृत उलटा इन अर्थों में प्रयुक्त होता है।[1]

उपर्युक्त विवेचन का आशय यह है कि- प्रत्यभिज्ञा वह है ज्ञातज्ञान जो विस्मृत हो गया था पुन: जब सन्मुख होता है तो उस ज्ञान की जननी (उस ज्ञान का कारण) प्रत्यभिज्ञा है। जैसे- "सोऽयं देवदत्त:" यह वही देवदत्त है। एतत् काल (इस समय का) विशिष्ट जो यह देवदत्त है वह तत्काल (उस समय जिसे देखा था) विशिष्ट देवदत्त है।

यह देवदत्त विषयक जो एतत्काल और एतत् देश विशिष्ट ज्ञान है वह अभिमुखी करण से हुआ ज्ञान है और यहाँ ज्ञाता का, पूर्व में किसी स्थान विशेष

---

1. अभिधान चिन्तामणि, 6/101

स्थान पर देखे गये देवदत्त का स्मरण कराता है। अर्थात् देवदत्त के विषय को पूर्व में जो ज्ञान हुआ था वह ज्ञात ज्ञान था फिर देशकृत कालकृत व्यवधान से वह ज्ञान विस्मृत हो गया था, अब पुनः जब देवदत्त सन्मुख हुआ तब यह वही देवदत्त है इस प्रकार का ज्ञान हुआ, इस ज्ञान की कारणभूत (ज्ञानोत्पादिका शक्ति) प्रत्यभिज्ञा है।

इसी प्रकार यह प्रत्यभिज्ञा किससे सम्बन्ध रखती है इस विषय पर विमर्शिनी कार कहते हैं कि- ''तस्य महेश्वरस्य प्रत्यभिज्ञा''[1] विमर्शिनी कार ने ऐसा क्यों लिखा? प्रथम कारिका में आचार्योत्पलदेव ''तत्प्रत्यभिज्ञाम्'' ऐसा लिखते हैं। इस तत्प्रत्यभिज्ञा पद का विवरण विमर्शिनी कार ने उपर्युक्त रूप से किया है। तस्य प्रत्यभिज्ञा-तत्प्रत्यभिज्ञा, तत्-पदवाच्य कौन तब कहा तस्य (महेश्वरस्य) का वाच्य भगवान् महेश्वर ही है। अन्य कोई नहीं है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन ही दर्शन है यही ज्ञान वास्तविक है इस प्रत्यभिज्ञा की प्रशंसा करते हुए उक्त कारिका की व्याख्या (विमर्शिनी) में आचार्य लिखते हैं कि ''प्रामाणिक व्यक्ति को ऐसा देव (नमस्कारादि) करना क्या उचित है। यदि कोई सर्वसद्गुण सम्पन्न होने से उत्कृष्ट है भी तो क्या नमस्करणीय हो गया। जिसे नमस्कार करे उसका सर्वतोभावेन उत्कर्ष को तो देख लेंवे, यदि ऐसा नहीं करते तो आपमें और साधारण सांसारिक व्यक्ति में अन्तर ही क्या है। जैसा कि कहा गया है-

''न विन्दन्ति परं देवं विद्यारागेण रञ्जिताः''

अर्थात् वे लोग जो मैं कुछ जानता हूँ मैं ज्ञानी हूँ, इस प्रकार का शुद्ध विद्यातत्त्व के अभिमान को रखते हैं रंग से रंगे हुए है वे, उस परतत्त्व (देव) को प्राप्त नहीं करते हैं। क्योंकि जो लोग कायिक विद्या रागरूप रंग से रंगे हुए, (वैष्णव-बौद्धादि) दर्शनों में आसक्ति रखते हैं वे पशु (सामान्य मनुष्य) ही हैं। वे आत्मरूप परमेश्वर संज्ञक (उस) देव को नहीं जानते हैं।

स्पष्ट है कि आत्मरूप परमेश्वर ही प्रत्यभिज्ञा दर्शनानुसार स्वेष्ट देवता है। अन्य, विष्णु आदि तो देवाभास है। इनकी सेवा तो ठीक एक साधारण व्यक्ति जैसे लालच या भयवश राजादि को मानता है वैसी ही है। इनकी सेवा सर्वसम्वत् प्रदान करने वाली नहीं है। परम तत्त्व को नमस्कार करने से ही सर्वसम्पल्लाभ होता है अतएव मूलकारिका कार उत्पलदेव ने 'दास्यमासाद्य' लिखकर स्वयं को दास

---

1. ई. प्र. वि. 1-1-1

बताकर उस परमतत्त्व सदाशिव के प्रति नमस्कार किया है।

ईश्वर स्वतन्त्र प्रकाशित होता है उसमें कारकत्वव्यापार और प्रमाण व्यापार कोई नहीं है। वह तो अविच्छिन्न प्रकाशित है (प्रकाश है) यही उस महेश्वर का माहेश्वर्य है कि वह अनवच्छिन्न प्रकाशरूप है।

ईश्वर में जब कारकत्व व्यापार और प्रमाण व्यापार सम्भव ही नहीं है तो ''प्रत्यभिज्ञापयामि'' यहाँ जो कृतव्यापार बताया गया है वह कैसा, किसका, व्यापार क्रिया है ? इस शंका के समझने के लिये उपर्युक्त दूसरी कारिका लिख रहे हैं ।

किन्तु मोहवश, इस प्रत्यक्ष विषय के रहने पर भी वह अनुपलक्षित है। ईश्वरनिष्ठ जो दृक्क्रियात्मिका शक्ति है उसके आविष्करण प्राकट्य प्रदर्शन द्वारा प्रत्यभिज्ञा प्रकट होती है।[1]

आशय यह है कि- ईश्वर की जो दृक् क्रियात्मिका = ज्ञानक्रियारूपा जो शक्ति है उसके आविष्करण से (अर्थात् वही शक्ति तुम में भी है इस प्रकार इस शक्ति का ज्ञान करा देने से) इसका आशय यह नहीं है कि भगवान् में कारकर व्यापार है और नहीं यह समझना चाहिए कि उस में ज्ञापक व्यापार है। यहाँ तो केवल मोहपसारण होता है। क्योंकि मोह = अज्ञान, वश ही 'घट है' यह वाक्य जो प्रत्यक्ष घट दिखता है, उस का ज्ञान कराने वाला हम समझ रहे हैं, वस्तुतः जो पूर्व में मौजूद है दृग्गोचर है उस घट को हम देख तो रहे ही हैं, अज्ञानवश घट को घट रूप में समझ नहीं रहे, इस अज्ञान को 'घट है' इस वाक्य ने हटाया है न कि घट का ज्ञान कराया है न घट को ज्ञापित किया है।

प्रश्न उठाते हैं कि क्या इस स्पष्ट दिखाई देने वाले जड़ चेतन पदार्थों के मध्य कैसी (किससे सम्बन्धित रखने वाली) शक्ति प्रकट की जाती है और किस उद्देश्य को सामने रखकर की जाती है।

इस भासमान संसार में सब समस्त भावराशि है अर्थात् उसकी सत्ता है उस सत्ता की जिसने अनुभूति की और जहाँ उसकी अनुभूति (प्रकाश) हुई वह देश (स्थान/आश्रय) इनका विमर्श, करने पर केवल अनुभव-प्रकाश ही उत्पन्न होता है

---

1. किन्तु मोहवशादस्मिन्दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते।
शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते ।। ई. प्र. 1-1-3

इस विमर्श के आश्रित उन्मेष है अर्थात् शक्याविष्कार है (शक्ति का प्रकाश है)। जिस वस्तु को विमर्श नहीं किया गया तो वह न तो नीली न पीली, न सत्ता रहित कह सकते हैं। अर्थात् यह नीली नहीं है पीली भी नहीं है इसका अस्तित्व भी है इस प्रकार एक ज्ञान को आक्षिप्त करते हैं, फिर उसके द्वारा वस्तु को यथार्थ रूप में समझते हैं कि वह कैसा है। अगर वह वैसा नहीं भी तब भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि निर्विशेष (सामान्यरूप से) विमर्श भाव से उसकी वास्तविक सत्ता है, यह तो स्पष्ट हो ही गया।

यहाँ विशेष वक्तव्य यह है कि- जो जड़ अजड़ पदार्थ है इनके बीच जड़ पदार्थ जो विृश्यमान है वह कैसा है? तो कहते हैं (विमर्शिनीकार) 'न स्वतन्त्रा भवन्ति'' आशय है कि उनमें विमृश्यमानता रूप कोई धर्म नहीं रहता। यह चेतन का धर्म है। विमर्श सामर्थ्य चेतन में ही होता है। विमर्श सामर्थ्य का होना ही चेतनत्व है।[1]

जड़ पदार्थ की सिद्धि - ममनीलं भाति, मयानीलं ज्ञायते' (मुझे नीला रंग प्रतीत हो रहा है। मैं नीले रंग को देखता हूँ)। 'अयं घट:' यह अवबोध है; 'घटमहं जानामि' यह ज्ञान अनुव्यवसाय कहलाता है।[2] यहाँ भाति मान क्रिया के कर्तृत्व भाव से, ज्ञायते - ज्ञान क्रिया विषयत्वभाव से जड़ पदार्थों का भी चिन्मयत्व होने पर भी (परमार्थसृष्टि से जड़ चेतनरूप होने पर भी माया नामक ईश्वर की शक्ति से जड़त्व को प्राप्त हुए जो पदार्थ है उनका अस्तित्व है।

इसी प्रकार उपर्युक्त वाक्यों में मम = मेरा मया = मेरे द्वारा जो पद हैं, इनका वाच्य जो है वह चेतन अजड़ है उसको बताते हैं किन्तु जड़ चेतनाश्रय को प्राप्त करके, अपने आपको भान-ज्ञान नामक क्रियाद्वय की अपेक्षा से प्रमाता (चेतन) के सामुख्य से ग्राह्य होता है। स्वस्वरूप का प्रकाशक होता है। अत: तात्पर्यत: चेतन की उपेक्षा करके जड़ स्वरूप प्रकाशक नहीं हो सकता।

ज्ञान तो स्वत: सिद्ध है (अर्थात् ज्ञान की सत्ता - प्रमाणान्तर से सिद्ध नही की जाती है) और क्रिया शरीराश्रित होती है जो कि (अत: यह भी स्पष्ट सिद्ध है) पर

---

1. तथाहि जडभूतानां प्रतिष्ठा जीवदाश्रया।
   ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम्।। ई. प्र. 1-1-4
2. त. सं. दीपिका - पृ. 34

(शरीर) द्वारा उपलक्षित की जाती है तथा उसके द्वारा अन्य ज्ञान को समझा जाता है।[1]

अहं पद स्वप्रकाश है, यह विषय बन कर किसी दूसरे (प्रमाण द्वारा स्वयं के ज्ञान को करवाने की अपेक्षा नहीं रखता है। जैसे- ''मैं'' मेरे ज्ञान का आश्रय हूँ, और मैं जो ज्ञान विषय है वह भी मैं ही हूँ इस प्रकार ज्ञान एक वस्तु तो है परन्तु उसकी कोई जड़ाजड़ पदार्थवत् पृथक् सत्ता नहीं है। इसी बात को उदाहरण द्वारा विमर्शिनीकार समझाते हैं-

''अहं जानामि'' ''मयाज्ञातम्'', 'मया ज्ञास्यते'' मैं जानता हूँ, मेरे द्वारा जाना गया, मेरे द्वारा जाना जावेगा, इत्यादि वाक्यों में 'मैं', 'मेरे द्वारा' यही अहं का परामर्श है और 'जानता हूँ' ''जाना जाता है'' यह ज्ञात परामर्श है। उक्त तीनों वाक्य तीनों कालों के साहचर्य का बोध करा रहे हैं अहं प्रत्यय विमर्श निष्ठ ज्ञान स्वतः सिद्ध है। जानता हूँ इस क्रिया पद में 'जान-ज्ञान'' प्रकृति 'ता हूँ' प्रत्यय है।

यदि अहं विमर्श निष्ठ ज्ञान का प्रकाश न हो तो समूचा विश्व धनान्धकार रूप होता, अर्थात् वह वेद्य ही नहीं होता।

घट जो ज्ञान विषय भूत है (मदात्मना = ज्ञाता (मेरा) का स्वरूप ही है) वह अपने आपका विषयरूप में वेदन (ज्ञान) करवाता है। तो कर्तृत्व को प्राप्त हो जाता है अर्थात् कर्ता बन जाता है।

मैं घट ज्ञान समय में घट भाव को प्राप्त करता हूँ तभी घट ज्ञात होगा अन्यथा तो घट ग्रहण ही न होगा। इस तरह विषय का प्रमाता के साथ ऐक्य है। अब परिमित प्रमाता के साथ अपरिमित प्रमाता की एकता भी इस प्रकार समझनी चाहिए। सदाशिव का ज्ञान मेरा ही ज्ञान है, और मेरा ज्ञान सदा शिव का ज्ञान है। क्योंकि अग्नि और चिनगारी में कोई भेद करना उचित नहीं है, चिनगारियों का समूह अग्नि है।

इस प्रकार स्व-पर के ज्ञान का एक्य सिद्ध हुआ। यहाँ प्रतिपादित पदार्थ बुद्धिलभ्य है प्रमेय नहीं।

---

1. तत्र ज्ञानं स्वतः सिद्धं क्रिया कायाश्रिता सती।
परैरप्युपलक्ष्येत तयान्यज्ञानमूह्यते ।। ई. प्र. 1-1-5

विद्वान् लोग, आत्मभिन्न घट पट शरीर प्राण सुखादि के अभाव के कारण आत्मा को ही ईश्वर (शिव) देखते हैं और उसी ईश्वर रूप परमात्मा में स्वयं का अन्तर्भाव करते हुए परमात्म भाव से स्वात्मा को देखते हैं। ईश्वर में समाविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार प्राप्तेश्वर को ही प्रत्यभिज्ञा कहते हैं ईश्वर को प्राप्त कर लेने से ही ज्ञात होता है कि- 'मैं ईश्वर हूँ' यह ज्ञात होना 'प्रत्यभिज्ञा' है।

स्मरण और अनुभव में आरूढ़ हुई समानाधिकरण्य बुद्धि और संस्कार इन्द्रिय से जन्य प्रत्यभिज्ञा कहलाती है।[1]

आत्मज्ञान की प्राप्ति ही प्रत्यभिज्ञान है। प्रत्यभिज्ञान जिसे जाती है, उसे अन्य उपायों की आवश्यकता नहीं होती। उसे फिर यम-नियम-आसन प्राणायाम आदि उपायों की कोई आवश्यकता नहीं होती -

ज्ञाते शिवत्वेसर्वस्थे प्रतिपत्यादृढात्मना।
करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयाणिवा।।
सुकृज्ज्ञाते सुवर्णे किं भावनाकरणादिना।
सर्वथा पितृमात्रादितुल्यदार्ढयेन सत्यता।।[2]

वस्तुतः प्रत्यभिज्ञान शिव को स्वयं का ही होता है शिव ही स्वयं को जानते और विस्मृत करते हैं। यद्यपि आत्मा परमस्वातन्त्र्य रूप है, फिर भी आन्तरिक अर्थक्रिया की दृष्टि से 'अहम्' का अनुभव होना ही प्रत्यभिज्ञा कहा गया है-

'इह च 'अहं महेश्वर' इत्देवं भूतचमत्कारसारा परापरसिद्धिलक्षणा जीवन्मुक्तिविभूतियोगमर्थ्थ क्रिया, - इतीश्वरप्रत्यभिज्ञा न मत्रावश्यापेक्षणीयम्।[3]

इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा का उदाहरण देते हैं- देवताओं की मनौतियों से प्राप्त नल निकट ही खड़ा है किन्तु यही नल है ऐसा दृढ़ निश्चयात्मक ज्ञान न होने से अपने प्रिय को दमयन्ती पहचान नहीं सकी और जब दूती के मुख से 'यही नल है' ऐसा जान लेती है उसी समय हृदय में संतोष प्राप्त कर लेती है। इसी प्रकार आत्मा

---

1. स्मरणनुभवारूढ़ा समानधिकरणधीः।
संस्कारेन्द्रियजन्या च प्रत्यभिज्ञा प्रकीर्तिताः।।
ई. प्र.वि. शि.र. 1-1-1

2. शि. द्र. सं. उद्धृत - ई. प्र. वि. 4-1-16

3. शि. दृ. से. उद्घृत - ई. प्र. वि. 4-1-16

स्वयं शिव होकर भी स्वयं को न जानकर दु:खी होता है तथा प्रत्यभिज्ञान हो जाने पर परमेश्वर सम्बन्धी उत्कर्ष का भाव हृदय में भर जाता है और शिव तादात्म्य प्राप्त होने से जीवन्मुक्तिकी अवस्था प्राप्त होती है। इसलिए प्रत्यभिज्ञा समस्त सिद्धिदायिनी कही गई है।[1]

प्रकाश का अपने स्वरूप में विश्राम हो जाना ही अहंभाव कहलाता है और सभी अपेक्षाओं को रोक देने वाली वही विश्रान्ति कही गई है। इसको स्वातन्त्र्य मुख्य कर्तृत्व ईश्वरता आदि नामों से कहते हैं। परिच्छिन्नता को छोड़कर नित्य, शुद्ध, व्यापक भाव को जान लेना ही प्रत्यभिज्ञा है।[2]

इसी प्रसंग में आगे कहते हैं-

प्रत्यभिज्ञा वह है जो पूर्व में आभासित होता रहा एवं इस समय भी भासित हो रहा है। पहले व इस समय के काल का वर्तमान में एक रूप से मिलकर भासित होने का नाम ही प्रत्यभिज्ञा है जैसे यह वही चैत्र, ऐसा पूर्वकाल के ज्ञान को वर्तमानकाल में ऐक्यकरके सामने स्थित वस्तु पदार्थ का ज्ञान कराती है, वही प्रत्यभिज्ञा है। लोकव्यवहार में भी यही देखा जाता है कि इसका पुत्र इन-इन गुणों से सम्पन्न है, रूप-यौवन से युक्त है आदि। जब कालान्तर में सामान्य रूप से अथवा ज्ञात पदार्थ के अपने सामने आ जाने पर पूर्व में जैसा ज्ञान सम्मुखस्थ वस्तु पदार्थ में मिला देने से यही भान होता कि यह वही वस्तु पदार्थ है जा मैने पूर्व में देखा था।

'तस्य' उस महेश्वर की 'प्रत्यभिज्ञा' पहचान होना जो जरा अपने स्वरूप के ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है, मैं वही महेश्वर हूँ, ऐसी प्रत्यभिज्ञा, पहचान करना कि मैं उस महेश्वर से अभिन्न हूँ। जीवात्मा ज्ञात पदार्थ को जानता हुआ भी मोहवशात् फंसकर नहीं जानता हुआ सा होकर जब पुन: जान जाता है, वही प्रत्यभिज्ञा है। निरन्तर आत्म-तत्त्व भासित होने पर भी मोह के कारण अपने आपको दूसरा ही मान लिया है कि मैं परिछिन्न हूँ आदि।[3] इस प्रकार से प्रत्यभिज्ञा स्वयं को शिव रूप में जान लेना ही है। स्वयं को पहचान लेने का ज्ञान का जो स्वरूप है वही प्रत्यभिज्ञा है।

---

1. ई. प्र. वि. 4-1-16
2. ई. प्र. वि. 1-1-1
3. ई. प्र. वि. 1-1-1 शि. र.

उपाय समावेश

उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण और स्थान प्रकल्पन आदि के द्वारा जो समावेश होता है, वह आणव समावेश है। आणव द्वारा शाक्तसमावेश प्राप्त होता है जहाँ उच्चार रहित वस्तु तत्त्व का मनन, चिन्तन किया जाता है। इनके बाद शाम्भव समावेश है जो कि निर्विचार अवस्था है।[1] चतुर्थ समावेश शक्तिपात को अनुपाय कहा जाता है। यह परम शिव की कृपा से प्राप्त होता है इसमें किसी क्रम की आवश्यकता नहीं होती। उपायों के भिन्न होने से मोक्ष के स्वरूप में भिन्नता भी नहीं आ सकी साधन क्रम में उसी शिव का ज्ञान कराते हैं।[2]

शक्तिपात द्वारा बन्धन से मुक्ति

परम शिव स्वयम् ही विभिन्न आकार बनाता है ओर स्वयं को बन्धन में डालता है। वह स्वयं ही विकल्पों का आश्रय लेता है।[3] बन्धन का अर्थ यहाँ ऐसा नहीं है कि जैसे हम किसी को रस्सी से बाँध रहे हैं। जन्म-मरण जाति, आयु, भोग-विलास आदि का बन्धन होता है जिसमें मनुष्य फंसकर रह जाता है। यह बन्धन शिव स्वयं ही बाँधता है और स्वयं ही इसे खोलने में भी समर्थ है। शक्तिपात इसी को खोलने का एक उपक्रम है। वही अणुता को धारण करके वही विभुत्व को भी धारण करता है।[4]

---

1. अकिंचिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधत:।
उत्पद्यते य आवेश: शाम्भवोऽसाबुदीरित:।।
उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन्।
यं समावेशमाप्नोति शाक्त: सोऽत्राभिधीयते।।
उच्चारकरणध्यान वर्ण स्थान प्रकल्पनै:
यो भवेत्स समावेश: सम्यगाव उच्चते।।

त. 1-1-168

2. तदेवम् इच्छाज्ञानक्रियात्मकत्वाद्उपायस्य त्रैविध्येऽपि तदुपेयभूतेऽपवर्गे न कश्चिद्भेद इतिसिद्धम्।

त. 1- 169-170

3. 'परमार्थतस्तु स एव क्रमाक्रमरूपविश्वसृष्ट्यादिपञ्चकप्रपञ्च स्वभाव: प्रकाशते, चेतनो हि स्वात्मदर्पणे भावान् प्रतिबिम्बिवदाभासयति'

ई. प्र. वि. 2-4-10

4. स स्वयं कल्पिताकारविकल्पात्मककर्मभि:।

शिव की शक्ति ही साधक को यह ज्ञान कराती है कि वह शिवरूप है जब साधक को यह ज्ञान हो जाता है, तब उसका अभेद बोध जाग उठता है और परावस्था ही बचती है। जैसे दीपक की अपनी लौ के प्रकाश से और सूर्य की ही किरणों से सारी दिशाएँ और उनमें विद्यमान सभी वस्तुएँ जानी जाती हैं, उसी तरह स्फुरता स्वरूप अपनी शक्ति से ही स्वात्मरूप शिव का लाभ, अवभास अर्थात् प्रत्यभिज्ञा हो जाती है। जैसे दीपक की लौ दीपक से भिन्न नहीं है, सूर्य की किरणें सूर्य से भिन्न नहीं है, उसी तरह शक्ति भी शिव से भिन्न नहीं है। अपनी इस शक्ति के द्वारा ही अपना स्वरूप पहचान लिया जाता है–

यथाऽवलोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य च।
ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः प्रिये।।[1]

शैव दार्शनिक मानते हैं कि परम शिव के अनुग्रह से कोई भी व्यक्ति शक्तिपात दीक्षा द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अभिनवगुप्त कहते है कि परमार्थ सार रूपी ज्ञान को पाने का वही अधिकारी है जो गर्भ से लेकर मरण तक होने वाले छह प्रकार के विकारों (जाति, सत्ता, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय तथा विनाश) के चक्र में संसरण स्वभाव के कारण अवभूत और तिरोभूत होता है। जिसे प्राक् जन्मादि को बोधज्ञ–स्मरण होता है, जो विरागी है तथा जिसके हृदय को परमेश्वर के अनुग्रह ने अनुविद्ध किया हे। सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके पात्र बने हुए साधक में ही सद्गुरू ज्ञान की ज्योति जलाता है।[2]

शक्तिपात दीक्षा देना या कुण्डलिनी शक्ति को जगाना गुरूकृपा में सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसके फलस्वरूप शिष्य अन्तर में मानो बिजली कड़क उठती है जिसके प्रकाश में अन्तर का महानतम खजाना दिखाई दे जाता है। साधक अपनी अन्तर शक्ति द्वारा अपनी वैयत्तिकता को साधना की अग्नि में भस्म कर देता है और परमात्मा से एकाकार हो जाता है। साधक गुरू की कृपा द्वारा ऊँचा उठता जाता है और अन्ततः परमात्मा के स्तर तक पहुँच जाता है। जहाँ अवस्थित होकर इस जगत को अपने ही प्रतिबिम्ब के रूप में देखता है। सद्गुरू शक्तिपात दीक्षा

बध्नात्यात्मानमेवेह स्वान्नत्र्यादिति वर्णितम्।।

त. 13–104

1. वि. भै. 21
2. परमार्थसार–23, विवृत्यर्थ डॉ. कमला द्विवेदी

देते समय न केवल सुप्त अन्तर शक्ति को जगाते है, बल्कि एक अभ्यास देते हैं जिससे शिष्य पुनः मार्ग से नहीं भटकता। शक्तिपात प्राप्त साधक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने अन्तर में देख पाता हैं फिर वह एक बद्ध जीव नहीं रह जाता, वह परमात्मा के साथ पूर्ण एकत्वप्राप्त कर लेता है।

शक्तिपात प्राप्त साधक को ध्यान के लिए किसी प्रकार के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती, वह स्वयं ही शिव भाव से ओत-प्रोत रहता है और परमेश्वर के अनुभव के आनन्द का रसास्वादन करता रहता है। ऐसे साधक के अन्तर में स्पन्द दृढ हो जाता है और वह सत्य में प्रतिष्ठित होता है। शक्तिपात प्राप्त साधक सारे संसार को आत्मरूप देखता है ओर जो सतत् परमात्मा के साथ ऐक्य का अनुभव करता है वह सम्पूर्ण जगत को आत्मा की क्रीडा/चिति के विलास के रूप में देखता है- जो शिव से भिन्न नहीं है। ऐसा जीवात्मा शरीर रहते हुए भी मुक्त के समान जीवन यापन करता है।

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी में कारिकाकार ने शक्तिपात् का शब्दश: प्रयोग नहीं किया है किन्तु विमर्शिनी में अभिनवगुप्त इस अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

''यद्यपि आयात दृढेश्वरशक्तिपातस्य स्वयमेवेयमियती परमशिवभूमिरभ्येति हृदयगोचरम्, न तु अत्र स्वात्मीय: पुरुषकार: कोऽपि निर्वहति' स्पष्ट है कि शक्तिपात् द्वारा मोक्ष प्राप्ति आचार्य अभिनवगुप्त मानते हैं। अन्य किसी भी प्रयत्न की आवश्यकता शक्तिपात् दीक्षा प्राप्त साधक को नहीं होती क्योंकि प्रयत्न तो अप्राप्य वस्तु को पाने के लिए किया जाता है। शिवभाव को प्राप्त कर लेने के पश्चात् प्रयत्न का कोई कारण नहीं है।[1]

शक्तिपात को किसी हेतु की आवश्यकता नहीं है। शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति ही शक्तिपात को करने वाली है।[2]

शक्तिपात के नौ प्रकार बताए गए हैं-

1. तीव्र-तीव्र
2. तीव्र-मध्य
3. तीव्र-मन्द
4. मध्य-तीव्र

---

1. ई. प्र. वि. 1-1-1, पृ.-5
2. त. सा. 2-101

5. मध्य–मध्य
6. मध्य–मन्द
7. मन्द–तीव्र
8. मन्द–मध्य
9. मन्द–मन्द

तीव्र–तीव्र शक्तिपात दशा में जीवन्मुक्त साधक का देह पंचतत्त्व में लीन हो जाता है तथा उसे विदेहमुक्तिप्राप्त हो जाती है।[1]

इसी को तन्त्रालोककार ने इस प्रकार कहा है–

तारतम्यप्रकाशो यस्तीव्रमध्यममन्दता: ।।
ता एव शक्तिपातस्य प्रत्येकं त्रैधमास्थिता: ।
तीव्र–तीव्र: शक्तिपातो देहपातवशात्स्वयम् ।।
मोक्षप्रदस्तदैवान्यकाले वा तारतम्यत: ।
मध्यतीव्रात्पुन: सर्वमज्ञानं विनिवर्तते ।।[2]

शक्तिपात् प्राप्त शिष्य का अज्ञान नष्ट हो जाता है तथा उसे शास्त्राभ्यास, पूजा आदि की कोई आवश्यकता नहीं होती। वह प्रज्ञावान् बन जाता है। उसका प्रातिभज्ञान जाग्रत हो जाता है। शक्तिपात् के उपरान्त न किसी शास्त्र की अपेक्षा होती है न ही आचार्य की आवश्यकता होती है।[3]

पथ प्रदर्शक : गुरु

विश्वव्यवहार को जो सम्यक् रूप में बताता है वह गुरु है।[4] गुरु स्वयं ज्ञान की प्राप्ति करने के उपरान्त शिष्य को मोक्ष प्राप्ति का मार्ग दिखा सकता है। सच्चा गुरु

---

1. वहीं, पृ. 103
2. तन्त्रालोक 13–132
3. स्वयमेव यतो वेत्ति बन्धमोक्षतयात्मताम्।
तत्प्रातिभं महाज्ञानं शास्त्राचार्यानपेक्षि यत् ।।
त. 13–132
4. 'गृणाति' विश्वव्यापारं स: गुरुः
त. सा. टि., पृ. 252
अगाध सशयाम्भोधि समुत्तरतारिणीम्।
वन्दे विचित्रार्थपदां चित्रां तां गुरुभारतीम् ।।
स्प. का. 52

वही है जहाँ स्व-पर विभाग समाप्त हो जाए। ऐसा गुरु साक्षात् शिवरूप होता है। वह शिव तथा उसके स्वातन्त्र्यरूप जगत् को सम्यक्तया जानता है तथा शिष्य को भी यह ज्ञान करा सकता है। ऐसा गुरु स्वयं तो मुक्त होता ही है, शिष्य को भी मुक्त कर देता है। आचार्य अपने जनों की हजारों पीढ़ियों को ज्ञान और ज्ञेय के वास्तविक बोध के द्वारा तारने में समर्थ होता है।[1]

वह जो मुमुक्षुओं का दिव्यपथ पर मार्गदर्शन करते हैं वे गुरु हैं। न केवल भारत में बल्कि संसार भर में शिक्षकों को अत्यन्त सम्मान दिया जाता है, किन्तु गुरु का अर्थ शिक्षक नहीं है। सद्गुरु वे हैं जो शास्त्रों के ज्ञाता हैं, जो ब्रह्मनिष्ठ हैं तथा जो शिष्य को भी सत्य का ज्ञान करा सकें। सद्गुरु स्वयं की स्थिति प्रदान करते हैं। सद्गुरु के सानिध्य से ही दीक्षा प्राप्त हो जाती है। गुरु शुद्ध ब्रह्मानन्द हैं, परमसुखदाता हैं, ज्ञानस्वरूप हैं, सुख-दुःख के द्वन्द्व से रहित हैं। आकाश के समान है, तत्त्वमसि आदि वाक्यों के लक्ष्य हैं, एक नित्य, विमल, निश्चल, सभी प्राणियों की बुद्धि के साक्षी, भावातीत, तीनों गुणों से रहित हैं।[2]

वास्तव में प्राणधारियों का यहाँ कोई आवागमन रूप संसार नहीं है तो बन्धन कैसा और फिर जब बन्धन ही नहीं है तो मुक्ति का क्या प्रयोजन है ? अपने आप का ही ज्ञान करो यही शैव दर्शन का उपदेश है। अज्ञान या बन्धन तो रज्जू में सर्प की भाँति मात्र मिथ्यामोह से उत्पन्न है, कुछ भी त्याज्य नहीं है, कुछ भी उपादेय

---

1. तुल्ये काल्पनिकत्वे च यदैक्यस्फुरणात्मकः।
गुरुः स तावदेकात्मा सिद्धो मुक्तश्च भव्यते।।
त. 1-1-234
यावानष्य हि संतानो गुरुस्तावत्स कीर्तितः।
सम्यग्ज्ञानमयश्चेति स्वात्मना मुच्यते ततः।।
ततः एव स्वसतानं ज्ञानी तारयतीत्यदः।
मुक्त्यागमाभ्यां संसिद्धं तावानेको यतो मुनिः।।
त. 1-1-235, 236
2. ब्रह्मानन्दं परम सुखदं केवलं ज्ञानमूर्ति।
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं।
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि।। नीलेश्वरी, मई - 1993

नहीं है केवल शिवस्वरूप में लीन रहना ही मोक्ष प्राप्ति है।[1]

ज्ञान की प्राप्ति के साथ ही ज्ञान के अभ्यास का भी अत्यन्त महत्त्व है, गुरु द्वारा, पूजा, विषयबोध अर्थात् ज्ञान का साक्षात्कार होता है। इस प्रक्रिया से शिष्य निखर जाता है और उसमें ज्ञान की ज्योति जल उठती है।[2] और साधक परम शिव को प्राप्त करता है।[3] गुरु व शिव में भेद नहीं है। शिव गुरु है और गुरु शिव है[4]–

यो गुरुः स शिवः प्रोक्तो यः शिवः सगुरुः स्मृतः।
उभयोरन्तरं नास्ति गुरोरपि शिवस्य च।।

विद्वान से विद्वान व्यक्ति को भी गुरु से ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद में कहा गया है –

आचार्यवान् पुरुषो वेद–6–14–2

आत्मज्ञान प्राप्त गुरु को शिव के समान ही बताया गया है। परम ज्ञान प्राप्त योगी शाम्भवसमावेश को प्राप्त कर लेता है।[5] उसमें अनुग्रह कर सकने की शक्ति

---

1. संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्तेव का बन्धो यस्य नजातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्ति क्रिया।
मिथ्यामोहकृदेष रज्जुभुजंगच्छाया पिशाचभ्रमो
मा किंचित्त्यज मा ग्रहण विरम स्वस्थो यथावस्थितः।।
उद्धृत – त. 1–1–331
2. तस्य गुरु परम्परागतस्य ज्ञानस्य 'उपासनं' पुनः पुनः चेतासि विनिवेशनं तत उत्थितो योऽसावुपदेष्टव्य विषयो 'बोधः' साक्षात्कारस्तेन 'उज्जवलः' सम्यगवतधर्मा सन् 'इदं' गुरुपदेशात्संशयविपर्यासादिरहितत्वेनधिगतमनुत्रवत्रिकार्थप्रक्रिया लक्षणं परान्प्रति चिख्यापयिषया 'करोति' उपदिशति इत्यर्थः।
त. 1–1–16 व्याख्या
3. तस्माद् गुरुक्रमायातं दिशन्नेति परं शिवम्'
उद्धृत – त. 1–1–2
4. उद्धृत त. 1–1–106
5. (क) अकिञ्चिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः।
जायते यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः।।
मा. वि. त. 2–23
(ख) गुरोर्लक्षणमेतावदादिमान्त्यं च वेदयेत्।
पूज्यः सोऽहमिव ज्ञानी भैरवो देवतात्मकः।।
त. 1–3–224

जाग्रत् हो जाती है। ऐसे गुरु के स्पर्श या दर्शन मात्र से भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है जैसे एक दीपक से अन्य दीपक जलाये जा सकते हैं।[1] गुरु की कृपा ही वह मुक्ति का मार्ग दिखाती है इसीलिए कहा गया है- **'गुरुरूपाय:'** (शि. सू. 2-6) अर्थात् परम सिद्धि की अवस्था की प्राप्ति का उपाय गुरु ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार बन्धन और मोक्ष केवल ज्ञान का आवरण और उस आवरण को हटाना है। शिव तत्त्व का बहिर्मुखि प्रसार ही बन्धन का कारण है। मोक्ष ज्ञानरूप है। जब प्राणी को विवेक ज्ञान होता है, तब वह मुक्त हो जाता है। मुक्त साधक जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होकर शिवभाव में लीन हो जाता है। ऐसा साधक स्वयं को शिव ही मान लेता है तथा सारे संसार को अपने ही रूप में देखता है।

मोक्ष प्राप्त साधक के सभी विकल्पों का क्षय हो जाता है। मुक्त साधक जीते हुए भी निर्द्वन्द्व रहता है और कर्मों के क्षय हो जाने पर देहपात के पश्चात् शिव में लीन हो जाता है।

मोक्ष के अनेक उपाय हैं आणव, शाक्त और शाम्भव आदि। शक्तिपात भी मोक्ष का उपाय है जिसे अनुपाय कहा जाता है। शक्तिपात के नौ प्रकार बताए गए हैं। मार्ग या उपाय चाहे जो भी हो मार्ग दर्शन के लिए गुरु का होना आवश्यक है। सच्चा गुरु वह है जो स्वयं ज्ञान प्राप्त कर चुका हो और शिष्य को भी ज्ञान की प्राप्ति करा सके। इस प्रकार बन्धन और मोक्ष अध्याय में संक्षेप में यही निरुपित किया गया है कि अपूर्ण ज्ञान को हटाकर शिव को अपने में जान लेना ही प्रत्यभिज्ञा या मोक्ष है। यही हमारा लक्ष्य होना चाहिए।



---

1. परानुग्रहकारिकत्वमत्रस्थस्य स्फुटं स्थितम्॥
   यदि तादृगनुग्राह्यो दैशिकस्योपसर्पति।

   त. 1-3-290

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी' काश्मीर शैव दर्शन एक अतिमहत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। जहाँ कारिकाकार ने अपनी कारिकाओं में सभी मुख्य सिद्धान्तों का सूत्रवत् विवेचन किया है वहीं विमर्शिनीकार ने विषय को स्पष्ट करके सम्पूर्णता प्रदान की है। अभिनवगुप्त ने सूत्रों का व्याख्यान पण्डित्यप्रदर्शन हेतु नहीं किया अपितु अत्यन्त गूढ़ महारहस्यमय तत्त्वार्थों को सामान्य जनसुलभ बनाने हेतु किया है।

शिवतत्त्व का प्रत्यभिज्ञान् कराना ही कारिकाकार का अभीष्ट रहा है। प्रत्यभिज्ञा रूपी विवेकज्ञान हृदय में जगाकर प्रत्येक प्राणी का उपकार करने की इच्छा से ही उत्पल ने कारिकाग्रन्थ की रचना की है। आचार्य सोमानन्द के ग्रन्थ 'शिवदृष्टि' में वर्णित सिद्धान्तों का ही यद्यपि कारिका में विवेचन है परन्तु कारिकाग्रन्थ सामान्य विवेचन नहीं होकर तार्किक और दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत करता है। आचार्य उत्पल न केवल अपने मत की स्थापना करते हैं अपितु प्रतिपक्षी दार्शनिकों की शंकाओं का भी खण्डन करते हैं। इस विशेषता के कारण ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' का महत्त्व और बढ़ जाता है। केवल 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ही है जो ज्ञानशक्ति का इतना तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यही विशेषता ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी को अन्य काश्मीर शैव दर्शन के ग्रन्थों से अलग करती है। इसमें अत्याधिक विस्तार भी नहीं है तथा अधिक संक्षेप भी नहीं है। अत्यन्त संतुलित भाषा-शैली में सिद्धान्त विवेचन किया गया है जिसे विमर्शिनी व्याख्या द्वारा आचार्य अभिनव गुप्त अधिक स्पष्ट कर देते हैं।

आचार्य उत्पल के अनुसार परमशिव का प्रकाश जहाँ ज्ञान शक्ति है वहीं शिव का विमर्श क्रिया शक्ति है। ज्ञान शक्ति परमशिव के तीन शक्तिरूपी शूलों (इच्छा, ज्ञान, क्रिया) में से एक शूल है। वस्तुतः इच्छा ज्ञान व क्रिया में भेद नहीं है। परम शिव की इच्छा शक्ति ही ज्ञान के रूप में विस्तार पाती है। परम शिव की सर्वज्ञता ही ज्ञान शक्ति है। ज्ञान की सिद्धि के लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं है। वह सूर्य के समान है जो स्वयं प्रकाशित होते हुए समस्त पदार्थों का प्रकाशन कराती है। ज्ञान अमूर्त और चित्स्वभाव वाला होता है। उसका आवरण नहीं हो

सकता। ज्ञान की प्राप्ति गुरु दीक्षा, आगम शास्त्रों के अध्ययन और परमशिव के अनुग्रह से ही होती है ज्ञान की प्राप्ति हो जाने का अर्थ है शिव के स्वरूप को जान लेना क्योंकि शिव ही परम ज्ञान है।

ज्ञान शक्ति अध्याय में ही आचार्य उत्पल स्मृति शक्ति का निरूपण करते हैं। पूर्वपक्ष में बौद्ध दार्शनिकों के तर्कों को रखते हुए आचार्य आत्मा की स्थापना स्मृति की सहायता से करते हैं। बौद्ध दार्शनिक की सत्ता स्वीकार नहीं करते। किन्तु उत्पल कहते हैं यदि स्थायी आत्मा नहीं है तो फिर स्मृति कौन करेगा। स्मृति के लिए आत्मा को मानना आवश्यक है। इसी प्रकार बौद्ध दार्शनिकों की स्वलक्षण और विज्ञप्ति मात्रता की भावना का उत्पल खण्डन करते हैं। स्मृति भी परम शिव की शक्ति है। स्मृति द्वारा ही लोकव्यवहार सम्पन्न हो जाता है। जगत् की उत्पादयित्री शक्ति स्मृति को कहा गया है। स्मृति शक्ति द्वारा ही प्रमाता परामर्श करता है।

स्मृति शक्ति के समान ही शिव की अपोहन शक्ति भी महत्त्वपूर्ण है। यह ज्ञानशक्ति और स्मृति शक्ति पर अनुग्रह करने वाली कही गई है। विकल्पात्मक सृष्टि का आधार अपोहन है। अपोहन शक्ति द्वारा ही यह जाना जाता है कि घट घटेतर से भिन्न है। इस प्रकार अपोहन शक्ति समस्त भेदों को ज्ञात कराने वाली है। स्मृति व अपोहन शक्ति ज्ञान शक्ति के अन्तर्गत ही आती हैं।

इच्छा ज्ञान और क्रिया के त्रिक में तीसरा शूल है क्रिया शक्ति। जहाँ ज्ञान शक्ति परम शिव के प्रकाश को कहा जाता है वहीं क्रिया शक्ति शिव के विमर्शमयरूप को कहा जाता है। 'अहम्' रूप शिव 'इदम्' रूप में क्रिया शक्ति द्वारा ही भासता है। क्रिया शक्ति शिव में अक्रम तथा जीवों में क्रमयुक्त होकर आभासित होती है। क्रिया शक्ति द्वारा ही शिव पञ्चकृत्य (सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान, अनुग्रह) करते हैं। जगत् के समस्त विस्तारों की जननी क्रिया शक्ति ही है। वास्तव में ज्ञान व क्रिया शिव का ही रूप हैं शिव के अन्तः स्फुरण को ज्ञान तथा बाह्य स्फुरण को क्रिया कहा जाता है। क्रिया शक्ति को ही विमर्श और हृदय कहा गया है। विमर्श को ही 'मन्त्र' कहा गया है। जैसे भ्रमर प्रकाश की ओर उन्मुख होकर गुञ्जार करता है, वैसे ही क्रिया शक्ति ज्ञान शक्ति को प्राप्त करा देती है। 'इदम्' के पारमार्थिक रूप को ज्ञानी व्यक्ति 'अहम्' के रूप में ही जानता है तथा क्रिया शक्ति को ज्ञान शक्ति के अभिन्न रूप में जान लेता है।

अनेक भेदों से युक्त विश्व अभेद संवित् रूप दर्पण में भासता है तथा उसकी अभेदता भी नष्ट नहीं होती, केवल आभासों का ही भेद होता है। इन भेदों के मध्य जो समन्वय है, वह एक ही प्रमाता में भिन्न-भिन्न रूपों का आभासन परम शिव की क्रिया शक्ति के कारण ही होता है। परावाक्रूप में वही क्रिया परमशिव में रहती है और पश्यन्ती मध्यमा तथा वैखरी के स्तर तक उतरकर भेदमयता को प्राप्त करती है। यामलरूप में शिव में अभिन्न रूप से रहने वाली यह शक्ति मातृका रूप में होती है। क्षोभ उत्पन्न होने पर यही मालिनी रूप में प्रकट होती है।

परम शिव ही सात प्रकार के प्रमाताओं के रूप में भिन्न-भिन्न स्तरों को प्राप्त करता हुआ सा आभासित होता है। शुद्ध प्रमाता हैं- शिव, मन्त्रमहेश्वर (सदाशिव), मन्त्रेश्वर (ईश्वर), विद्येश्वर (सद्विद्या)। अशुद्ध प्रमाता मल से ग्रस्त होते हैं, वे तीन हैं- विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल। शक्ति प्रमाता को आचार्य उत्पल अलग प्रमाता नहीं मानते।

अग्नि में जैसे दाहकशक्ति अभिन्न है वैसे ही शिव से शक्ति अभिन्न है। परम शिव तत्त्व का प्रमाता शाम्भव प्रमाता है सम्पूर्ण तत्त्व समूह परमशिव में ही भासमान होता है। शिव परम आगम रूप है। स्वयं अखण्डित होते हुए भी परम शिव ही अपने हृदय में समस्त भेदों को प्रकाशित करते हैं। शिव अपनी संकुचित संवित् बुद्धि में स्वयं को प्रमाता स्वीकार करता है। संवित् शिव की शक्ति है। वह स्व प्रकाश तत्त्व है। उसके लिए अन्य किसी उपाय की आवश्यकता नहीं पड़ती। शिव की यह संवित् शक्ति ही है जो साधक को उसकी भावना के अनुरूप फल प्रदान करती है। परमशिव ही निरपेक्ष अखण्ड ज्ञानस्वरूप परनिवृत्ति अर्थात् आनन्दात्मा है। वही निवृत्ति माया शक्ति के कारण स्वयं उससे आवृत्त होकर सृष्टि की इच्छा करके संसार रूप में प्रकट होते हैं।

शक्ति तत्त्व को ही चित्ति कहा गया है शिव से शक्ति अभिन्न नहीं है। शिव की मुख्य शक्ति स्वातन्त्र्य शक्ति है यही चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया रूप में भासती है। शिव शक्तिमान होने के कारण ही सृष्टि सम्बन्धी पदार्थों को अपनी इच्छा से प्रकट करना चाहते हैं। परमेश्वर की निर्माण शक्ति ही है जिसके कारण सारे भेद अवभासित होते हैं-

किं तु निर्माण शक्ति ! साप्येवंविदुष ईशितुः।
तथा विज्ञात् विज्ञेयभेदो यदवभास्यते ॥

शिव की आन्तर दशा का उद्रेक सदाशिव कहलाता है। यह शिव की ज्ञान दशा है। 'अहम्-इदम्' ऐसा अनुभव सदाशिव अवस्था के प्रमाता को होता है। 'इदम्-अहम्' इस प्रकार से बाह्य विमर्श ईश्वर दशा में स्थिति मन्त्रेश्वर प्रमाता को होता है तथा अहम् और 'इदम्' के समानाधिकरण्य की अवस्था सद्विद्या है इस अवस्था के प्रमाता विद्येश्वर या मन्त्र कहे जाते हैं। यहाँ तक मल का अंश नहीं है। विज्ञानाकाल अवस्था में आणवमल तथा प्रलयाकल अवस्था में आणव तथा मायीय मल एवं सकल अवस्था में आणव मायीय व कार्म तीनों मलों से ग्रस्त होकर प्रमाता बन्धन ग्रस्त हो जाता है। मल द्वारा शिव स्वरूप का आच्छादन करने वाली शक्ति माया है।

शिव अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से ही विश्वमय होकर भासता है। समस्त तत्त्व समुदाय शिव में ही प्रतिबिम्ब रूप में झलकता है। समस्त छत्तीस तत्त्व शिव संवित्रूपी निर्मल दर्पण में ही प्रकाशित होते हैं। माया, कला, विद्या, राग, नियति और काल मिलकर प्राणी को संसार चक्र में बांध देते हैं। कञ्चुकावेष्टित आत्मा ही पुरुष कहलाती है। बुद्धि से पृथ्वी तक के विस्तार की मूल प्रकृति है। तीनों गुण-सत्व, रज व तम मिलकर पुरुष को सुख-दुःखमय बनाते हैं। वास्तव में शिव की इच्छा शक्ति का ही यह तत्त्व समुदाय प्रसार है।

जब इस सत्य को प्राणी जान लेता है कि यह संसार शिव ही है और मैं स्वयं भी शिव नहीं हूँ, तब वह मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। स्वयं को न जानना ही बन्धन है और आत्म ज्ञान ही मुक्ति। 'मैं शिव हूँ।' इसी ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहा गया है। स्वयं शिव ही स्वयं को जानता है क्यों कि अन्य कोई दूसरा तो है ही नहीं। इसी भावना का बार-बार अभ्यास कर लेने से ही योगी के विकल्पों का क्षय हो जाता है और वह शिव रूप हो जाता है व कर्म क्षय होने पर देहपात हो जाने पर विदेह मुक्ति प्राप्त करता है।

न केवल दार्शनिक दृष्टि से वरन् आध्यात्म और आत्मा को पहचानने की जिज्ञासा जो प्रत्येक विचारशील चिन्तक के हृदय में उठती है, उसे शान्त करने में ईश्वर प्रत्यभिज्ञा सक्षम है।

विमर्शिनी द्वारा कारिका के गूढार्थ को समझा जा सकता है, उस अर्थ का विस्तार किया जा सकता है। इस प्रकार विमर्शिनी कारिका छाया के समान सहयोगिनी है। यह ग्रन्थ प्रतिपादित करता है कि परमशिव ही इस विश्व का मूल

तत्त्व है। वही समस्त चराचर में व्याप्त है। उसे उसी की ज्ञान शक्ति द्वारा जाना जा सकता है और ज्ञान लेने के पश्चात् जानने वाला वही हो जाता है। शिव को जानने वाला शिव ही हो जाता है।

हमने इस सत्य को प्रत्यक्ष देखा है कई महान् योगियों के जीवन को आज भी देखते हैं तो यह सत्य स्वयं को सिद्ध करता है कि उस परमेश्वर को जान लेने वाला उससे अभिन्न हो जाता है। उसे ज्ञात करवाने के लिए ही 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' की रचना उत्पल ने की। साधक के मन में उठने वाले एक-एक प्रश्न को ईश्वर प्रत्यभिज्ञा क्रमशः हल करती जाती है, चाहे वह शिव के स्वरूप के विषय में हो चाहे, सृष्टि के विषय में या बन्धन और मोक्ष के विषय में, सभी प्रश्नों को ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में विश्राम मिलता है। सृष्टि की जैसी व्याख्या शैव दार्शनिक करते हैं, वैसी अन्यत्र दर्शनों में कम मिलती है। संसार को मिथ्या या असार भी नहीं बताया कि मानव जीवन पर ग्लानि हो, और परम तत्त्व का ज्ञान भी अद्वैत रूप में करा दिया, भेदों के बीच अभेद बताता है, ऐसा है प्रत्यभिज्ञा शास्त्र।

यद्यपि अद्वैत की स्थापना तर्कों द्वारा नहीं की जा सकती। तर्क केवल बौद्धिक चर्चा कर सकते हैं। आत्मानुभूति के धरातल पर सत्य को अनुभूत करने के लिए स्वाध्याय, मनन, गुरुकृपा आवश्यक है। साथ ही अभ्यास आवश्यक है जो आत्मा को उत्तरोत्तर उन्नति के पथ पर ऊँचा उठाता है, यह तर्क और वाद से परे योग की वस्तु है। शोध के दौरान मैंने अनुभव किया कि यद्यपि मेरा शोध-प्रबन्ध शैव दर्शन के सिद्धान्त पक्ष का विवेचन करता है, फिर भी स्वयं मैं मानती हूँ कि योग जो इसी का दूसरा पक्ष है, वह भी इतना ही आवश्यक और ग्राह्य है। सिद्धान्त को शैव दर्शन में अनुभूत किया जा सकता है। कुण्डलिनी जागरण और नील बिन्दु साक्षात्कार द्वारा स्वयं सोहं नाद को अनुभव किया जा सकता है। यह केवल शैव दर्शन का ही वैशिष्ट्य है। पहले सिद्धान्त पक्ष को जान लेने पर, सिद्धान्त की समझ होने पर स्वतः शैव दर्शन का योग पक्ष भी समझ में आता है और रहस्य की पर्तें खुलती जाती हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ "काश्मीर शैव दर्शन" के शोधार्थियों को सहायता प्रदान करेगी। विश्वविद्यालय की कक्षाओं में भी ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी पाठ्यक्रम में है। आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक विद्यार्थियों की जिज्ञासाओं को शान्त करने में सहायता

प्रदान करेगी। आचार्य उत्पल एवं अभिनवगुप्त के साहित्य पर और शोधकार्य करने वाले विद्यार्थियों को भी इस पुस्तक से सहायता मिलेगी ऐसी आशा है।

उपसंहारत: विनम्रता के साथ मैं यह स्वीकार करती हूँ कि यह अध्ययन की समाप्ति नहीं आरम्भ है। काश्मीर शैव दर्शन के गम्भीर सागर की कुछ बून्दों का रसास्वादन कर लेने के पश्चात् और अधिक जान पाने की इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है।



सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

	मूलग्रन्थ का नाम	लेखक/प्रकाशक/सम्पादक का नाम
1.	अजडप्रमातृसिद्धि	व्यास, सूर्यप्रकाश, चौखम्भा संस्कृत संस्थान्, 1983
2.	अजडप्रमातृसिद्धि	उत्पलदेव, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर - 1911
3.	अपरोक्षानुभूति	आचार्य शंकर, वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई - 1937
4.	अनुत्तर प्रकाशपञ्चाशिका	शास्त्री मुकुन्दराम, अरोमा पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1979
5.	अनुत्तराष्टिका	अभिनवगुप्त, डा. पाण्डेय के "अभिनवगुप्त के दार्शनिक व ऐतिहासिक विवेचन" परिशिष्ट 'सी' के अन्तर्गत प्रकाशित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी - 1935
6.	ईश्वरसिद्धि	व्यास, सूर्यप्रकाश, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, 1983
7.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा	उत्पलदेव (वृत्ति सहित), काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर - 1921
8.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भास्करी संवलिता)	अभिनवगुप्त, सम्पा. के. सी. पाण्डे, प्रधान सम्पा. आर. सी .द्विवेदी, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1986

9.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्ति-विमर्शिनी	अभिनवगुप्त, सम्पा. पं. मधुसूदन कौल शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, भाग-1 व 2, 1991
10.	ईशादिदशोपनिषद्	श्री शंकराचार्य ग्रन्थावली : भाग-1, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1964
11.	कुलार्णव तंत्र	सम्पा. तारानाथ विद्यारत्न, आर्थर एवलॉनकृत भूमिका सहित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1975
12.	ज्ञानार्णवतन्त्र	आनन्दाश्रम, 1977
13.	तंत्रसार	अभिनवगुप्त संपा. म.म. श्रीकृष्णानंदवागीश भट्टाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, नवम्बर, 1938
14.	तंत्रसार	अभिनवगुप्त, हिन्दी व्याख्याकार, पं. श्री हेमेन्द्र नाथ चक्रवर्ती, वाराणसेय संस्कृत संस्थान, जगतगंज, वाराणसी, 1986
15.	तंत्रसार	अभिनवगुप्त, नीरक्षीरविवेक हिन्दी भाष्य संवलित, भाष्यकार, डॉ. परमहंस मिश्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1996
16.	तन्त्रालोक (1-6)	मिश्र परमहंस
17.	तन्त्रालोक	द्विवेदी रामचन्द्र, रस्तोगी नवजीवन, मोतीलाल बनारसीदास, 1987
18.	तन्त्रवट धानिका	शास्त्री मुकुन्दराम, K.S.R.S. No. XXIV, 1918
19.	तंत्रालोक (1-8 भाग)	अभिनवगुप्त, सम्पा. आर. सी. द्विवेदी,

		नवजीवन रस्तोगी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1987
20.	तंत्रालोक	अभिनवगुप्त, सम्पा. डॉ. परमहंस मिश्र 'हंस' पब्लिकेशन ऑफिसर, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी-221002 भाग-1, 1992 भाग-2, 1993 भाग-3, 1994 भाग-4, 1996 भाग-5, 1997 भाग-6, 1998 भाग-7, 1999 भाग-8, 1999
21.	तंत्रोच्चय	अभिनवगुप्त, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर,1911
22.	देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र	अभिनवगुप्त, डा. पाण्डेय के "अभिनवगुप्त के दार्शनिक व ऐतिहासिक विवेचन" परिशिष्ट 'सी' के अन्तर्गत प्रकाशित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी - 1935
23.	नीलमत पुराण (1-2)	डॉ. वेदकुमारी, J & K academy of art, culture and language, Srinagar, 1968
24.	नेत्रतन्त्र	द्विवेदी, व्रजवल्लभ, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली तथा राधेश्याम चतुर्वेदी, चौखम्भा प्रकाशन, दिल्ली, 2004
25.	नेत्र तंत्र (आगम)	संपा. मधुसूदन कौल (क्षेमराज की उद्योत टीका सहित), काश्मीर ग्रन्थावली, संस्करण, 46/61श्रीनगर, भाग-1, 1926, भाग-2, 1939

26. न्यायबिन्दु — धर्मकीर्ति, संपा. द्वारिका प्रसाद शास्त्री, बौद्ध भारती प्रकाशन, वाराणसी

27. परमार्चन त्रिंशिका — शैवाचार्य नागार्जुन, शारदापीठ सीरीज, श्रीनगर - 1962

28. परमार्थ चर्चा — पण्डित जगद्धर, कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, 1947

29. परमार्थ-चर्चा — अभिनवगुप्त, डा. पाण्डेय के "अभिनवगुप्त के दार्शनिक व ऐतिहासिक विवेचन" परिशिष्ट 'सी' के अन्तर्गत प्रकाशित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी - 1935

30. परमार्थ-सार — अभिनवगुप्त, योगराजकृतविवृत्ति सहित, सम्पा. जे. सी. चटर्जी, काश्मीर ग्रन्थावली श्रीनगर - 1916

31. पराप्रवेशिका — शास्त्री, मुकुकन्दराम, अरोमा पब्लिशिंग हाउस, 1991

32. परमार्थसार — अभिनवगुप्त, संपा. सूर्यनारायण शुक्ल, अच्युतग्रन्थमाला, कार्यालय- बनारस, 1947

33. परमार्थसार — अभिनवगुप्त, सपां. गणपति शास्त्री, अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावली 12, त्रिवेन्द्रम्

34. परमार्थ सार — अभिनवगुप्त, सम्पा. डॉ. कमला द्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1984

35. परमार्थद्वादशिका — अभिनवगुप्त, अपेन्डिक्स-सी, के.सी. पाण्डेयकृत - अभिनवगुप्त, एक

		ऐतिहासिक तथा दार्शनिक अध्ययन, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1935
36.	परात्रिंशिका आगमशास्त्र	अभिनवगुप्त कृत विवृत्ति, जे.डी. जाडू, शोध विभाग, श्रीनगर, 1947
37.	परात्रिंशिका	अभिनवगुप्त कृत, विवृत्ति सहित, नीलकण्ठ गुर्टू, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1985
38.	परात्रिंशिका	शास्त्री, मुकुन्दराम, अरोमा पब्लिशिंग हाउस, 1991
39.	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्	त्रिपाठी, विशाल प्रासद, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1969
40.	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्	क्षेमराज, सम्पादक जयदेव सिंह, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी - 1973
41.	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्	क्षेमराज, अनु. विशाल प्रसाद त्रिपाठी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली, 1969
42.	प्रशस्तपादभाष्य	शास्त्री, श्रीनिवास, इण्डो विजन प्राइवेट लि., 1984
43.	ब्रह्मसूत्र (शांकर भाष्य)	स्वामीनित्यानंदसरस्वती, गोविन्द मठ वाराणसी-1905 ई
44.	बोध पञ्चदशिका	अभिनवगुप्त, सम्पा. पं. जगद्धर, काश्मीर ग्रन्थावली-1947
45.	बोध पञ्चदशिका	शास्त्री, मुकुन्दराम, अरोमा पब्लिशिंग हाउस, 1991

46.	महार्थमञ्जरी	द्विवेदी, व्रजवल्लभ, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1992
47.	महार्थमञ्जरी	महेश्वरानन्द, सं. मुकुन्दराम शास्त्री, काश्मीर ग्रन्थावली - 1981
48.	महार्थमञ्जरी	महेश्वरानन्द (स्वोपज्ञ परिमल टीका सहित) संपा. व्रजवल्लभ द्विवेदी, वाराणसी, 1972
49.	महानय प्रकाश	शास्त्री, मुकुन्दराम, द रिसर्च डिपार्टमेन्ट जम्मू एण्ड कश्मीर
50.	महोपदेशविशतिकम्	अभिनवगुप्त, के. सी. पाण्डेय कृत, अभिनवगुप्त : एक ऐतिहासिक और दार्शनिक अध्ययन, परिशिष्ट-सी के अन्तर्गत, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1935
51.	मालिनीविजययोत्तरतन्त्र	सागर, कृष्णानन्द, वाराणसेय मुद्रणालय, 1985
52.	मालिनी विजयोत्तर तंत्र	सम्पा. मधुसूदन कौल, मुकुन्दराम शास्त्री, बटाला एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1984
53.	मालिनीविजयवार्तिकम्	सागर, कृष्णानन्द, वाराणसेय मुद्रणालय, 1985
54.	मुण्डकोपनिषद्	शङ्कराचार्यग्रन्थावलि, मोतीलाल बनारसीदास, 1985
55.	मृगेन्द्रतन्त्र	शास्त्री, पं. मधुसूदन कौल, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, 1982
56.	योगदर्शनम्	मिश्र, श्रीनारायण, भारतीय विद्या

		प्रकाशन, 1971
57.	योगिनीहृदयम्	कविराज म.म.पं. गोपीनाथ, अनुसंधान संस्थान, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1979
	रस गंगाधर	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
58.	रुद्रयामल तन्त्र	त्रिपाठी, भगीरथ प्रसाद, योगतन्त्रविभाग, वाराणसी
59.	ललद्यद	सम्पा. जे. एल. कौल, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली-110001, सन् 1980
60.	वाक्यपदीय (ब्रह्मकाण्ड)	चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी
61.	वामकेश्वरीमतम्	शास्त्री, पं. मधुसूदन कौल, शोध विभाग, जम्मू एवं काश्मीर, 1945
62.	विज्ञानभैरव	द्विवेदी, व्रजवल्लभ, मोतीलाल बनारसीदास, 1984
63.	विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि	वसुबन्धु, चौखम्भा विश्व भारती, वाराणसी, 1995
64.	शारदातिलकतन्त्रम्	आर्थर एवलॉन, मोतीलाल बनारसीदास, 1982
65.	शिवदृष्टि	शास्त्री पं. मधुसूदन कौल, महाराजा जम्मू, 1934
66.	शिवदृष्टि	राधेश्याम चतुर्वेदी, वाराणसेय संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1986
67.	शिवदृष्टि	सोमानन्द (उत्पल वृत्ति सहित) सम्पा. राधेश्याम चतुर्वेदी, वाराणसेय संस्कृत

संस्थान, वाराणसी, 1986

68.	शिवस्तोत्रावली	उत्पलदेव, क्षेमराजकृत टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी - 1921
69.	शिवस्तोत्रावली	आचार्य उत्पल विरचित, सम्पा. आचार्य लक्ष्मण जू महाराज, ईश्वर आश्रम ट्रस्ट, ईश्वर (निशात), श्रीनगर, काश्मीर, 2000
70.	शिवसूत्रम्	श्री वसुगुप्तपाद, सम्पा. सर्वदर्शनाचार्य श्रीकृष्णानन्द सागर, प्रकाशक, आचार्य कृष्णानन्द सागर, श्री माधवानन्द आश्रम, पी.ओ. धर्मजा, जिला-खेड़ा, गुजरात, 1984
71.	शैव दर्शन बिन्दुः	डॉ. के. सी. पाण्डेय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1913
72.	श्रीमद्भगवद्गीता	गीताप्रेस, गोरखपुर
73.	श्रीविद्यार्णवतन्त्रम्	शर्मा, भद्रशील, कल्याण मन्दिर, अलोपीबाग मार्ग, प्रयाग
74.	षट् त्रिंशत्तत्वसंदोह	राजानक आनन्द, संपा. मुकुन्द राम शास्त्री काश्मीर संस्कृत ग्रंन्थावली, श्रीनगर, 1998
75.	स्तवचिन्तामणि	शास्त्री, पं. मुकुन्दराम, द रिसर्च डिपार्टमेन्ट, जम्मू एण्ड काश्मीर, 1918
76.	स्तवचिन्तामणि	भट्टनारायण, क्षेमराजवृत्ति सहित, श्री प्रतापस्टीम प्रकाशन, काश्मीर,

ग्रन्थावली, श्रीनगर - 1918

77. स्तवचिन्तामणि — भट्टनारायण सम्पा. रामशंकर सिंह, पेनमैन पब्लिशर्स, 7309/5 प्रेम नगर, शक्तिनगर, दिल्ली-110007, सन् 2002

78. स्पन्दकारिका — गुरुटू, नीलकण्ठ, मोतीलाल बनारसीदास

79. स्वच्छन्दतन्त्रम् (1-4) — शास्त्री, पं. मधुसूदन कौल, संस्कृत ज्ञान संस्थान, 1921

80. स्वातन्त्र्यदर्पण — पण्डित, बलजिन्नाथ, रणवीर संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू

81. स्तुतिकुसुमांजलि — जगद्धरभट्ट, व्याख्याता प्रेम वल्लभ त्रिपाठी, अच्युत ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1964

82. स्वच्छन्द तंत्र (1-4) — सम्पा. पं. मधुसूदन कौल, संस्कृत ज्ञान संस्थान, दिल्ली, 1986

83. स्वच्छन्द तंत्र (1, 2,3) — सम्पा. व्रजवल्लभ द्विवेदी, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1985

84. सर्वदर्शन संग्रह — शर्मा, डॉ. उमाशंकर, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, 1984

85. सम्बन्धसिद्धि — व्यास, सूर्यप्रकाश, चौखम्भा, संस्कृत संस्थान, 1983

86. सिद्धित्रयी — आचार्य उत्पल, संपा. डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1988

हिन्दी-ग्रन्थ

1. अग्रवाल, डॉ. बीना — **तंत्रालोक में कर्मकाण्ड,** प्रशांत प्रकाशन, 128, बालाजी कॉलोनी, नगवाँ, वाराणसी-221005, फरवरी, 1996
2. उपाध्याय, बलदेव — **बौद्ध दर्शनम्**
3. उपाध्याय, बलदेव — **भारतीय दर्शन,** शारदा मन्दिर, वाराणसी, 1997
4. कविराज, गोपीनाथ — **तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि,** बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1964
5. कविराज, गोपीनाथ, — **तांत्रिक साहित्य,** बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, 1972
6. कविराज, गोपीनाथ — **तंत्र और आगम शास्त्रों का दिग्दर्शन,** बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1977
7. जोशी, भँवर लाल — **काश्मीर शैव दर्शन और कामायनी,** चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1968
8. झा, डॉ. कीर्त्यानन्द — **पातञ्जली योगदर्शनम्,** चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी
9. झा, यदुवंशी — **शैवमत,** बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, सन् 1955 ई.
10. डॉ. दयाकृष्ण — **ज्ञानमीमांसा,** राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
11. डॉ. राधाकृष्णन — **भारतीय दर्शन,** राजपाल एण्ड सन्स, 1986
12. देवराज, एन. के. — **भारतीय दर्शन**

13. दासगुप्त, एस. एन. — **भारतीय दर्शन,** राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

14. द्विवेदी रामचन्द्र — **त्रिकदर्शनम्,** सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1992

15. द्विवेदी, व्रजवल्लभ — **तन्त्रयात्रा,** रत्ना पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1921

16. द्विवेदी, विजयशङ्कर — **सांख्य एवं काश्मीर शैव दर्शन में दृष्टि,** शर्मा, डॉ. कृष्णकान्त, प्रशान्त प्रकाशन, वाराणसी

17. द्विवेदी रामचन्द्र — **काश्मीर शैव दर्शन परम्परा,** नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1990

18. द्विवेदी, आर. सी. (डॉ.) — **त्रिकदर्शनम्,** नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली – 1987

19. पण्डित बल्जिन्नाथ — **काश्मीर शैवदर्शनम्,** रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, 1973

20. पण्डित बल्जिन्नाथ — **काश्मीर शैवदर्शन,** रणवीर केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू, 1973

21. पण्डित बल्जिन्नाथ — **श्रीमदमृतवाङ्मय परिचायिका,** श्री विद्या प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986

22. मिश्र, कैलाश पति (डॉ.) — **काश्मीर शैवदर्शन,** अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन, वाराणसी–1931

23. मिश्र, डॉ. कैलाशपति — **शैवसिद्धान्त,** अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन, वाराणसी, 1981 ई.

24. रस्तोगी, डॉ. नवजीवन — **काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ,** मुंशीराम मनोहर लाल पब्लिशर्स लिमिटेड, नई दिल्ली,

25. लोढ़ा, कल्याणमल — **वाग्विभव,** विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1999

26. वर्मा, डॉ. प्रीति, श्रीवास्तव डॉ. डी.एन. — **आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान,** विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

27. व्यास, सूर्यप्रकाश — **बौद्ध, वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन,** विवेक पब्लिकेशन्स, अलीगढ़, 1986

28. व्यास, सूर्यप्रकाश — **दर्शनकणिका**, प्रशान्त प्रकाशन, 128, बालाजी कॉलोनी, वाराणसी, 2002

29. शर्मा, राममूर्ति — **अद्वैतवेदान्त,** नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली प्रथम संस्करण, 1972 ई.

30. शास्त्री डॉ. गजानन्द मुसलगांवकर — **सांख्यतत्त्वकौमुदी,** चौखम्भा प्रकाशन वारारणसी, 1992

31. शास्त्री डॉ. दयाशंकर — **ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी (ज्ञानाधिकार),** कानपुर, 2001

32. शास्त्री, विजयपाल — **त्रिकदर्शन का समीक्षात्मक एवं तत्त्वमीमांसीय अध्ययन,** क्लासिकल पब्लिशिंग हाउस

33. शास्त्री, रामतेज (सं) — **महाशिवपुराण,** पण्डित पुस्तकालय, वाराणसी, संवत-2020

34. शर्मा, उमाशंकर — **सर्वदर्शनसंग्रह,** चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी

35. स्वामी, मुक्तानन्द — **चित्शक्तिविलास,** गुरुदेव सिद्धपीठ, गणेशपुरी

36. सांकृत्यायन, राहुल — **दर्शन-दिग्दर्शन**

37. सांकृत्यायन, राहुल — **बौद्ध दर्शन,** किताब महल एजेन्सी,

दिल्ली

38. सिंह, जागीर — **प्रत्यभिज्ञासिद्धान्त तथा सांख्यदर्शन,** संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय

39. सिंह, जागीर — **प्रत्यभिज्ञाहृदयम् और वेदान्तसार,** संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय

40. सिंह, लल्लनप्रसाद — **तन्त्र,** आनन्दनगर, दिल्ली, 1976

41. हिरियन्ना, एम. — **भारतीय दर्शन की रूपरेखा,** राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985

42. डॉ. कामेश्वर नाथ मिश्र — **अर्थसंग्रह,** चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी

अंग्रेजी ग्रन्थ

1. Chatterji, J.C. — *Kashmir Saivism,* Srinagar, Pub. by the Director Archives Research Publication Deptt., 1968

2. David All Port — *Utpaladeva's Doctrine of Recognitioni,* Oxford University, 1983

3. Pandey, K.C. — *Abhinav Gupta : An Historical and Philosophical Study,* Chaukhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1963

कोश ग्रन्थ

1. अमरकोश — टीकाकार- पं. श्री हरगोविन्द शास्त्री, हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी-संवत् 2014

2.	वाङ्मयार्णव	संपा. महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा, ज्ञान मण्डल, वाराणसी सं. 2024
3.	संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ	सम्पादक - द्वारकाप्रसाद शर्मा व चतुर्वेदी, पं. तारिणीश झा, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण 1945
4.	हलायुध कोश	सम्पादक - जयशंकर जोशी, सरस्वती भवन, वाराणसी - संवत् 1879

पत्र-पत्रिकाएँ

1.	आचार्य श्री अमृतवाग्भवदर्शन	सम्पादक - पं. दुर्गादत्त शर्मा, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान, जयपुर
2.	आचार्य श्रीमदमृतवाग्भव स्मृति-ग्रन्थ	सम्पादक - पं. दुर्गादत्त शर्मा, श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, सांस्कृतिक शिक्षा एवं शोध संस्थान, जयपुर
3.	ईश्वरांक (कल्याण)	गीता प्रेस गोरखपुर, वर्ष -7, सन् 1933
4.	उपनिषदांक (कल्याण)	गीता प्रेस गोरखपुर, वर्ष - 42, जनवरी सन् 1968
5.	दार्शनिक त्रैमासिक	प्रत्यभिज्ञादर्शन में प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप, वर्ष 11, अंक 1, फरीदपुर, 1965 प्रत्यभिज्ञादर्शन में प्रकाशविमर्श का स्वरूप, वर्ष 22, अंक 4, फरीदपुर, 1976
6.	भक्ति-अंक (कल्याण)	गीताप्रेस, गोरखपुर, वर्ष-32, माघ 2014, (जनवरी 1958)
7.	भागवतांक (कल्याण)	गीताप्रेस, गोरखपुर, वर्ष-16

8.	मानसांक (कल्याण)	गीताप्रेस, गोरखपुर, वर्ष-13, अगस्त 1938
9.	योगांक (कल्याण)	गीताप्रेस, गोरखपुर, वर्ष-10, सन् 1936
10.	विजयेश्वर पंचाङ्ग	पंचाङ्ग प्रवर्तक - ज्योतिषी - अम्नाभराम संशोधक - प्रेमशास्त्री सम्पादक - ओंकार नाथ शास्त्री, भूषण लाल ज्योतिषी प्रकाशक - ब्रह्मपुत्र कॉम्पलैक्स, शॉप नं. 45 सैक्टर 28, नोएडा, दिल्ली
11.	शक्ति अंक (कल्याण)	गीताप्रेस, गोरखपुर
12.	शिवोपासनांक (कल्याण)	गीताप्रेस, गोरखपुर, वर्ष-67, सन् 1993
13.	साधनांक (कल्याण)	गीताप्रेस, गोरखपुर, वर्ष-15, अगस्त 1940



डॉ० रचना शेखावत

जन्म : 18 अक्टूबर, 1976 ई. को राजस्थान के झुंझनू जिले की चिड़ावा तहसील के सेहीकलां गांव में प्रसिद्ध कवि, कलमकार श्रीसुमेरसिंह शेखावत के घर।

शिक्षा : अधिस्नातक (संस्कृत एवं हिन्दी), बीएड, नैट। कश्मीरी शैवदर्शन पर राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से विद्या वाचस्पति (पीएच. डी.) की उपाधि।

लेखन : संस्कृत, हिन्दी और राजस्थानी में निरन्तर गद्य और पद्य में लेखन, अनुवाद और आलोचनात्मक रचनाएं।

भारतीय भाषाओं पर केन्द्रित राज्य स्तरीय और राष्ट्रीय साहित्यकार सम्मेलनों, संवादों, सेमिनारों, कार्यशालाओं, शैक्षिक वाक्पीठों में सहभागिता, काव्यपाठ और शोधपत्रों की प्रस्तुति।

अकादमिक पत्र-पत्रिकाओं में नियमित रचनाओं का प्रकाशन। मधुमती, स्वर सरिता, माणक, कथेसर, अनुकृति, राजस्थान पत्रिका, दैनिक भास्कर, सूरतगढ़ टाइम्स इत्यादि में अनेक विषयों पर रचनाएं प्रकाशित। कई साहित्यिक संकलनों में गद्य-पद्य रचनाएं सम्मिलित।

संप्रति : शिक्षा विभाग, राजस्थान में संस्कृत, हिन्दी अध्यापन।

आवास : द्वारा-श्री वीरेन्द्रसिंह गौड़, 378 जसवन्तनगर, खातीपुरा, जयपुर (राज०)

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में कश्मीर शैव दर्शन का स्थान इसलिए अद्वितीय है कि वह अन्य दर्शनों की भौतिकता को हृदय के साथ समरस करने का सामर्थ्य रखता है। यही कारण है कि इसमें भारतीय दार्शनिक मेधा को सौन्दर्य के साथ समन्वित करके संस्कृत काव्यशास्त्र के ध्वनि सिद्धान्त के प्रस्तोता आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्त जैसे आचार्यों की प्रतिभा का योगदान प्रस्तुत किया है। आयुष्मती डॉ. रचना शेखावत ने शैवदर्शन के हृदय ग्रन्थ ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी का समीक्षण करके उसके विविध पक्षों का उद्घाटन कर एक प्रशंसनीय प्रयास किया है और यह आगे भी सफलतापूर्वक अग्रसर हो, एतदर्थ आशीर्वाद, शुभकामनाएं।

– **डॉ. रमाकान्त आंगिरस**, पूर्व कालिदास प्रोफेसर ऑफ संस्कृत, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़।

शिव परम दयालु परमेश्वर हैं। वे चर-अचर को जन्म से लेकर जीवन तक प्रदान करते हैं और भारतीय तन्त्रधारा में एकमेव सर्वात्म सिद्ध हैं। रुद्र में शिव के दर्शन, कल्याण की अनुभूति है और इ%छा, ज्ञान, क्रिया शक्तिरूप विमर्श का लक्ष्य प्रत्यभिज्ञा ज्ञान है। यह मोक्षमूलक है जिसकी ओर शिवरहस्य, सूतसंहिता, वायु-लिंगादि पुराणों सहित तन्त्रपरक अनेकानेक ग्रन्थों ने इंगितियां की हैं : स तेनैव च देहेन रुद्रः सञ्जायते ध्रुवम्। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी ग्रन्थ उनके विशिष्ट स्वरूप की स्थापना करने वाला अतीव आदरस्पद ग्रन्थ है। उसके आलोक में डॉ. रचना शेखावत का शोधकार्य निःसन्देह भारतीय मनीषा के परिप्रेक्ष्य में शैव मान्यताओं का उपयोगी प्रतिपादन और प्रकाशमान प्रसार लिए है।

– **प्रो. सुषमादेवी गुप्ता**, संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय जम्मू।

कश्मीर शैवदर्शन की मान्यता भारतीय काव्यधारा ही नहीं, धर्म और दर्शन को भी गहराई तक प्रभावित और पोषित करने वाली रही है। इस शिवतन्त्र दर्शन का सम्यक् प्रतिपादन प्रस्तुत ग्रन्थ में हुआ है। शिवसूत्र, शतरुद्रि आदि से शिव के स्वरूप और शासन की जो स्थापना निखिल विश्व के जनमानस पर अक्षुण्ण है, ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी में उसका वस्तुगत रूप उपलब्ध होता है। यह ग्रन्थ कहने को तो कश्मीरी शैवतन्त्र दर्शन का प्रतिनिधित्व करता है किन्तु मूलतः यह सर्वात्मतया शिव के समग्र दर्शन की भावभूमि का पोषक है। प्रस्तुत शोधग्रन्थ में उनकी मान्यताओं को आमूल शोधित और विश्लेषित किया गया है। यह शोध निःसन्देह पठनीय और चिन्तनीय है।

– **प्रो. एम. एल. वाडेकर**, बड़ौदा ऑरियण्टल इंस्टिट्यूट, वडोदरा।

परिमल पब्लिकेशन्स

२७/२८ व २२/३, शक्ति नगर,
दिल्ली - ११०००७ (भारत)
दूरभाष : २३८४५४५६, ४७०१५१६८



मूल्य : ₹ 400.00

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में कश्मीर शैव दर्शन का स्थान इसलिए अद्वितीय है कि वह अन्य दर्शनों की भौतिकता को हृदय के साथ समरस करने का सामर्थ्य रखता है। यही कारण है कि इसमें भारतीय दार्शनिक मेधा को सौन्दर्य के साथ समन्वित करके संस्कृत काव्यशास्त्र के ध्वनि सिद्धान्त के प्रस्तोता आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्त जैसे आचार्यों की प्रतिभा का योगदान प्रस्तुत किया है। आयुष्मती डॉ. रचना शेखावत ने शैवदर्शन के हृदय ग्रन्थ ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी का समीक्षण करके उसके विविध पक्षों का उद्घाटन कर एक प्रशंसनीय प्रयास किया है और यह आगे भी सफलतापूर्वक अग्रसर हो, एतदर्थ आशीर्वाद, शुभकामनाएं।

- **डॉ. रमाकान्त आंगिरस,** पूर्व कालिदास प्रोफेसर ऑफ संस्कृत, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़।

शिव परम दयालु परमेश्वर हैं। वे चर-अचर को जन्म से लेकर जीवन तक प्रदान करते हैं और भारतीय तन्त्रधारा में एकमेव सर्वात्म सिद्ध हैं। रुद्र में शिव के दर्शन, कल्याण की अनुभूति है और इ%छा, ज्ञान, क्रिया शक्तिरूप विमर्श का लक्ष्य प्रत्यभिज्ञा ज्ञान है। यह मोक्षमूलक है जिसकी ओर शिवरहस्य, सूतसंहिता, वायु-लिंगादि पुराणों सहित तन्त्रपरक अनेकानेक ग्रन्थों ने इंगीतियां की हैं : स तेनैव च देहेन रुद्रः सञ्जायते ध्रुवम्। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी ग्रन्थ उनके विशिष्ट स्वरूप की स्थापना करने वाला अतीव आदरस्पद ग्रन्थ है। उसके आलोक में डॉ. रचना शेखावत का शोधकार्य निःसन्देह भारतीय मनीषा के परिप्रेक्ष्य में शैव मान्यताओं का उपयोगी प्रतिपादन और प्रकाशमान प्रसार लिए है।

- **प्रो. सुषमादेवी गुप्ता,** संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय जम्मू।

कश्मीर शैवदर्शन की मान्यता भारतीय काव्यधारा ही नहीं, धर्म और दर्शन को भी गहराई तक प्रभावित और पोषित करने वाली रही है। इस शिवतन्त्र दर्शन का सम्यक् प्रतिपादन प्रस्तुत ग्रन्थ में हुआ है। शिवसूत्र, शतरुद्रि आदि से शिव के स्वरूप और शासन की जो स्थापना निखिल विश्व के जनमानस पर अक्षुण्ण है, ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी में उसका वस्तुगत रूप उपलब्ध होता है। यह ग्रन्थ कहने को तो कश्मीरी शैवतन्त्र दर्शन का प्रतिनिधित्व करता है किन्तु मूलतः यह सर्वात्मतया शिव के समग्र दर्शन की भावभूमि का पोषक है। प्रस्तुत शोधग्रन्थ में उनकी मान्यताओं को आमूल शोधित और विश्लेषित किया गया है। यह शोध निःसन्देह पठनीय और चिन्तनीय है।

- **प्रो. एम. एल. वाडेकर,** बड़ौदा ऑरियण्टल इंस्टिट्यूट, वडोदरा।

परिमल पब्लिकेशन्स

२७/२८ व २२/३, शक्ति नगर,

दिल्ली - ११०००७ (भारत)

दूरभाष : २३८४५४५६, ४७०१५१६८

